ई० चेलिशेव
सुमित्रानंदन पंत
तथा
आधुनिक हिन्दी कविता
में
परंपरा और नवीनता

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

सुमित्रानंदन पंत
तथा
आधुनिक हिन्दी कविता में परंपरा और नवीनता

सुमित्रानंदन पंत
तथा
आधुनिक हिन्दी कविता में परंपरा और नवीनता

तथा

आधुनिक हिन्दी कविता में परंपरा और नवीनता

ई० चेलिशेव

प्रथम संस्करण	१९७०
प्रकाशक	राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
मूल्य	मूल्य १५.००
मुद्रक	नवीन प्रेस, दिल्ली-६
सज्जा	श्री सुखदेव दुग्गल

संशोधित मूल्य
मूल्य १५.००
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०
दिल्ली-६

क्रम

सुमित्रानंदन पंत

तथा

आधुनिक हिन्दी कविता में परंपरा और नवीनता

लेखक और कवि

भूमिका

आधुनिक हिन्दी कविता में स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) धारा का विकास

आधुनिक हिन्दी कविता का उद्‌गम उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दियों के संगम-बिन्दु पर हुआ। श्री सुमित्रानंदन पंत इस कविता के एक श्रेष्ठ प्रतिनिधि रहे हैं। यह कविता अखिल भारतीय साहित्यिक प्रक्रिया का एक अंग रही है और उसमें उस प्रक्रिया की अनेक प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

वास्तविकता के कलात्मक अर्थोद्‌घाटन की स्वच्छंदतावादी प्रणाली आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण नियम-सी रही है।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के संगम काल में भारतीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद का उदय भारतीय समाज के विकास की समस्त ऐतिहासिक गति के कारण सुकर हुआ। इसमें युग-संक्रमण-कालीन भारतीय सामाजिक-राजनीतिक जीवन की अपरिपक्वता एवं विधानाभाव का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। राष्ट्रीय आत्मचेतना के जागरण, पुरानी धारणाओं एवं भावनाओं के भंजन तथा नये आदर्शों के अन्वेषण का वह युग था।

स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का विकास विगत शताब्दी के अन्त में सर्वप्रथम बँगला साहित्य में होने लगा था। उस काल-खण्ड में समाज में 'प्रबोधन-शील' विचारधारा का बोलबाला था और वर्गों का स्पष्ट रूप प्रकट नहीं हुआ था। अतः उक्त प्रवृत्तियों में सामाजिक आशय की व्यापकता का अभाव, वैचारिक सौंदर्यात्मक आदर्शों की ऐंद्रजालिकता, ऐतिहासिक परिदृश्य की अस्पष्ट अनुभूति एवं स्थितियों की भावात्मकता तथा असाधारणता दिखाई देती हैं।

भारतीय समाज की, और विशेष रूप से टुटपुँजिया बुद्धिजीवी श्रेणी की विचारधारा के लिए अंगभूत विरोधाभासों तथा देश की समस्त जटिल सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति के फलस्वरूप स्वच्छंदतावाद का वैचारिक-सौंदर्यात्मक अन्तर और उसके चौखटे में प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी धाराओं का विकास सहज सम्भव हुआ।

अग्रगामी भारतीय बुद्धिजीवी श्रेणी के विचारों एवं भावनाओं ने स्वच्छंदतावाद में प्रगतिशील प्रवृत्तियों के उदय के लिए आधार-भूमि का काम दिया। यह श्रेणी चतुर्दिक की वास्तविकता से बहुत ही असन्तुष्ट थी और अपने नागरिक तथा देश विषयक कर्तव्य को समझने लग गई थी। इस श्रेणी के लोग औपनिवेशिक दासता से मातृभूमि की मुक्ति के मार्ग खोजने में प्रयत्नशील जनता की ओर बराबर ध्यान दिया करते थे।

भारतीय साहित्य में प्रगतिशील स्वच्छंदतावाद उस युग के भारतीय अग्रगामी सामाजिक आन्दोलन से दृढ़तापूर्वक संवद्ध रहा था। उस साहित्य में विकासशील भारतीय राष्ट्रवाद को अभिव्यक्ति मिली। यह राष्ट्रवाद धार्मिक-सामाजिक सुधारवाद के विविध रंगों में रँगा हुआ था। सामंतवाद के अवशेषों तथा मध्ययुगीन रीतियों-रूढ़ियों के प्रति तीव्र असंतोष और औपनिवेशिक पराधीनता तथा पूंजीवादी समाज के पक रहे नासूरों के कारण उत्पन्न कुरूप जीवन-स्थिति के प्रति विरोध-भावना के फलस्वरूप बहुत-से भारतीय लेखकों के बीच वास्तविकता के पुनर्निर्माण की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। आदर्श की तथा जीवन के नये, प्रगतिशील रूपों की खोज करते हुए उनके बीच वास्तविकता के प्रति अनमेल की भावना कभी उत्पन्न नहीं हुई। जीवन के सत्य से भाग खड़े होकर आत्मनिष्ठ अनुभूतियों एवं निराधार कल्पना तथा रहस्य के संसार की शरण लेने के लिए प्रयत्नशील प्रतिक्रियावादी स्वच्छंदतावादी लेखकों की रचनाओं में यह असंगति विद्यमान थी।

प्राकृतिक संसार में तथा प्रकृति की सन्तान—कृषकों—के आदर्शीकृत जीवन में भाववादी-मानवतावादी आदर्शों का अन्वेषण, निष्क्रिय स्वप्नशीलता, भावस्वातंत्र्य की घोषणा, अतीत का आदर्शीकरण—आरम्भ के भारतीय स्वच्छंदतावादी साहित्यकारों के सृजन की ये विशेषताएँ थीं। भारतीय साहित्य के प्रारम्भिक अथवा प्रबोधनकालीन स्वच्छंदतावाद के इन सब पहलुओं ने उसे भावुकतावाद के निकट ला दिया। अतः यह कोई संयोग की बात नहीं थी कि बहुत-से भारतीय कवियों को थामसन, ग्रे, गोल्डस्मिथ आदि १८वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी भावुकतावादी लेखकों की रचनाओं में बड़ी रुचि रही। भारत में प्रथम बार इनकी रचनाओं के अनुवाद विगत शताब्दी के मध्य में प्रकाशित हो चुके थे।

भारतीय साहित्य के विकास के बाद के चरण का स्वच्छंदतावाद प्रबोधन-

काल के स्वच्छंदतावाद से तत्त्वतः भिन्न रहा है।

उपदेशात्मकता, दार्शनिकता और वास्तविकता के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण प्रवोधनकालीन कलात्मक साधन, आधुनिक मानव के भावों एवं अनुभूतियों के विश्व की अभिव्यक्ति के लिए, अपर्याप्त सिद्ध हुए और नई जीवंत सामग्री की उपलब्धि एवं अंगीकार के लिए प्रयत्नशील अग्रगामी लेखकों को संतुष्ट नहीं कर सके। मानव की नव आत्मचेतना के विधान के फलस्वरूप मानव-स्वभाव के गहरे एवं सर्वांगीण चित्रण की आवश्यकता उत्पन्न हुई।

व० ग० वेलिन्स्की लिखते हैं : "स्वच्छंदतावादी प्रतिक्रिया ने हमें साहित्यिक विचारधारा विषयक संकुचितता से मुक्त कर दिया, इसके फलस्वरूप काव्यात्मक भाषा एवं रूपांकन की एकस्वर कृत्रिमता का स्थान यथार्थता, सरलता एवं विविधता ने ले लिया, सृजन का विश्व विस्तृत हो गया और उसमें हर मनुष्य को नागरिकता का अधिकार प्राप्त हुआ—भले ही उसकी पदवी कुछ भी क्यों न हो।"[1]

स्वच्छंदतावाद का पूर्णतम विकास रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य एवं नाटकों में हुआ। भारतीय जनों के समस्त साहित्य की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों पर इनका बड़ा ही प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा, इसे हिन्दी के अनेक कवियों, लेखकों और आलोचकों ने स्वीकार किया है।

कई आधुनिक गण्यमान्य हिन्दी कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अपना गुरु एवं पथ-प्रदर्शक मानते हैं और अपनी रचनाओं पर उनके जीवन-दर्शन एवं व्यक्तित्व का प्रभाव स्वीकार करते हैं। रवीन्द्रनाथ के एक शिष्य डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी रवीन्द्र साधना की ओर आधुनिक हिन्दी कवियों के आकृष्ट हो जाने का कारण इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं : "संवेदनशील युवक के मन में यह बड़े ही अंतर्द्वन्द्व का काल था। स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का हिन्दी कविता में बीजवपन हो ही चुका था पर सही वात यह थी कि नवीन मानवतावादी स्वच्छंदतावादी वैयक्तिक दृष्टि भंगी को व्यक्त करने योग्य भाषा अब भी नहीं बन पाई थी। बंगाल के कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी इस कठिनता का अनुभव करना पड़ा था। अपनी अद्भुत प्रतिभा के वल पर उन्होंने अपने वक्तव्य के अनुकूल भाषा बना ली थी। नवीन हिन्दी कवियों के सामने रवीन्द्रनाथ की वह बँगला भाषा थी।"[2]

भारत के राजनीतिक सामाजिक जीवन के परिवर्तनों को प्रतिबिंबित करने वाली 'रागात्मक संस्कृति' का समर्थन करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर कविता में नव युग के मानव के भावों एवं अनुभूतियों के वातावरण की सृष्टि के लिए प्रयत्न-

१. व० ग० वेलिन्स्की—समग्र रचनाएँ, मास्को १९५५, खंड ८, पृ० २५०।
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य,' पृ० ४५२।

शील रहे। उन्होंने मध्ययुगीन पूर्वाग्रहों से मुक्त व्यक्तित्व के आध्यात्मिक विश्व उद्‌घाटन का प्रयास किया। काव्य एवं नाटक के क्षेत्र ही में उन्होंने मानव जीवन की दार्शनिक समस्याएँ अपने वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों के आधार पर प्रस्तुत कीं और मानव की स्वतंत्रता एवं सुख के अर्थ उन्हें हल करने का प्रयत्न किया।

मानव एवं प्रकृति को रवीन्द्रनाथ सुन्दरता का निष्कर्ष मानते थे और उनके प्रति पूजा-भाव रखते थे। स्वच्छंदतावादी धारा के बहुत से हिन्दी कवियों की रचनाओं में इस पूजा-भाव का जीता-जाता प्रतिबिंब देखने को मिलता है। प्रकृति सौंदर्य के विषय में उनकी मानवतावादी भावना का प्रभाव सर्वप्रथम स्वच्छंदतावादी धारा के हिन्दी कवियों पर पड़ा। उत्तर मध्य युगीन काव्य में बहु-प्रचलित सौंदर्य विषयक धारणा का विरोध करते हुए और साथ-साथ प्रबोधन-कालीन सौंदर्य विषयक कल्पना को अस्वीकार करते हुए प्रसाद, पंत, निराला तथा अन्य हिन्दी कवियों ने प्रकृति में, मानव एवं समाज के जीवन में तथा सतत विकास-शील विश्व की रागात्मक एकता में सौंदर्य को खोजने का प्रयत्न किया। रवीन्द्रनाथ के चरणचिह्नों पर चलते हुए उन्होंने आंतरिक एवं बाह्य सौंदर्य के अविच्छेद्य सम्बन्ध में सच्चे सौंदर्य के दर्शन किए। प्रसादजी के शब्दों में यह सौंदर्य "चेतना का उज्ज्वल वरदान" है।

इन्हीं कवियों ने स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया। साहित्य शास्त्र में इसे 'छायावाद' का नाम प्राप्त हुआ। अतीव एवं वर्तमान, परम्परा एवं नवीनता तथा भारतीय एवं युरोपीय संस्कृतियों के संधिकाल में और अखिल भारतीय स्वातंत्र्य संघर्ष के उभार एवं गांधीवादी विचारधारा के प्रसार के वाता-वरण में इस प्रवृत्ति का उद्‌भव एवं विकास हुआ।

यह मानते हुए कि सुधारवादी युग (अन्य शब्दों में 'प्रबोधन युग') के जीवन एवं साहित्य की शुष्कता, उपदेशात्मकता, कठोरता तथा वैराग्यशीलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दी साहित्य में स्वच्छंदतावाद का उद्‌भव हुआ, डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"तीसरी बात यह है कि आधुनिक भारतीय साहित्य की श्रेष्ठ प्रवृत्ति अर्थात् स्वच्छंदतावाद को छायावादी परंपरा में अभूतपूर्व विकास प्राप्त हुआ। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा की रचनाओं से सम्पन्न छायावाद हिन्दी काव्य संसार में एक आश्चर्यजनक एवं असाधारण घटना सिद्ध हुआ।"[१]

प्रसिद्ध मार्क्सवादी साहित्यशास्त्री डॉ० नामवरसिंह ने भी छायावादी कविता के स्वच्छंदतावादी स्वरूप का ज़िक्र किया है। वह लिखते हैं—"छायावाद विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के रोमांटिक उत्थान की वह काव्यधारा है जो लगभग ईस्वी सन् १९१८ से '३६ ('उच्छ्‌वास' से 'युगान्त') तक की प्रमुख युगवाणी

१. 'भारतीय साहित्यों का इतिहास', मास्को, प्रगति प्रकाशन १९६४, पृ० ३०।

रही।"[1]

विभिन्न वैचारिक-सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण रखने वाले अधिकांश भारतीय साहित्यशास्त्री एक स्वर से कहते हैं कि हिन्दी साहित्य में छायावाद स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के रूप में रहा है। इनसे सहमत न होना असम्भव है।

हिन्दी कविता में छायावाद की अपने आप में एक विशेष धारा रही है। कई विभिन्न प्रवृत्तियों के आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप इस धारा का उद्भव हुआ था। देश के सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के वातावरण में पनपते हुए और राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के विकास-पथ के विरोधाभासों को प्रतिबिंबित करते हुए छायावाद ने भारतीय परंपरा के कई पहलू अंगीकार कर लिए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता के फलदायी प्रभाव को आत्मसात् कर लिया और साथ-साथ अंग्रेजी स्वच्छंदतावादियों की रचनाओं के कुछेक तत्व भी अपना लिए। इस धारा का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रसाद, निराला, पंत, और महादेवी वर्मा की कविता हिन्दी साहित्य में एक वास्तविक अन्वेषण ही सिद्ध हुई और यह कोई संयोग की वात नहीं है कि इस कविता को अपरिवर्तनवादी भारतीय विद्वानों के हाथों कठोर आलोचनात्मक आघात सहने पड़े।

उस युग की वहुत-सी असंगतियाँ छायावाद में प्रतिविंवित हुईं। एक ओर इस धारा पर भारत में विकसित हो रहे पूंजीवादी सम्वन्धों तथा औपनिवेशिक सामंतवादी अत्याचारों के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के जागरण का प्रभाव पड़ा, तो दूसरी ओर सन् १६१६-१६२२ में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के दमन का। इस दमनचक्र के कारण टुटपुंजिया बुद्धिजीवीमंडल में निराशा एवं उदासी छा गई।

उस समय भारत में वहुप्रचलित गांधीवादी दृष्टिकोणों की कई असंगतियाँ भी छायावादी कविता में प्रतिविंवित हुईं।

देश की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह, सामंतवादी कूपमंडूकता से मानव की मुक्ति तथा भावों की स्वाधीन अभिव्यक्ति के लिए और मानवीय व्यक्तित्व के स्वतंत्र अस्तित्व एवं विकास में रोड़े अटकाने वाले मध्ययुगीन परम्परागत अपरिवर्तनवादी नैतिक आदर्शों, सभी संभव प्रथाओं तथा प्रतिबन्धों की समाप्ति के लिए आवाहन—यही छायावाद का सामाजिक सारतत्व था।

समस्त स्वच्छन्दतावादी धाराओं की तरह छायावाद में भी असदृशता एवं असंगति विद्यमान रही। छायावाद में मानवीय व्यक्तित्व के स्वाधीन विकास एवं रागात्मक सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रयत्नशीलता के साथ-साथ उन नए आदर्शों के अन्वेषण के प्रयत्न भी विद्यमान रहे जिनके बारे में कवियों की धारणा अभी बहुत कुछ अस्पष्ट और कहीं-कहीं काल्पनिक ही थी। दासता की शृंखलाओं में

१. डॉ० नामवरसिंह, 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', प्रयाग, १९६२ पृ० १२।

जकड़ी हुई जनता की यातनाओं के प्रति ज्वलंत सहानुभूति, उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न, सामाजिक व्यवस्था के पुर्ननिर्माण की आशाएँ, गहरा मानवतावाद एवं मर्मस्पर्शी गीतात्मकता, मनुष्य तथा उसके सुख में विश्वास, वास्तविकता के विषय में तीव्र अनुभूति—छायावाद में ये सब चतुर्दिक की परिस्थिति के विषय में निराशा, अशांति, भयाशंका और मानव तथा मातृभूमि के भाग्य के विषय में गहरे सोच-विचार के साथ-साथ विद्यमान रहे। परिणामतः छायावादी कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र व्यक्तिगत एवं निराशावादी स्वर उत्पन्न हुए।

छायावाद में घोर निराशा के तथा औपनिवेशिक सामन्तवादी प्रतिक्रिया-विरोधी संघर्ष की विजय के विषय में आशा भंग की भावनाएँ प्रतिबिंबित दिखाई देती हैं और दुःख एवं निराशा के स्वर सुनाई देते हैं। छायावादी कवि चतुर्दिक की वास्तविकता से दूर भागने और ऐसे नए काल्पनिक संसार की खोज करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं जिसमें शाश्वत प्रभात, सौंदर्य, प्रेम तथा शान्ति का अस्तित्व होगा। वास्तविकता के प्रति असंतोष के फलस्वरूप छायावाद में अतीत के आदर्शीकरण एवं काव्यमय रूपांकन की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। कठोर, अन्यायपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में अपनी निर्बलता को अनुभव करते हुए और इस संघर्ष के सही मार्गों को न देखते हुए कुछेक कवि वास्तविकता से कटे रह कर कल्पना प्रासाद की, रहस्यवाद एवं पारदर्शी स्वप्नों के कल्पनालोक की शरण लेने में प्रयत्नशील रहे।

बहुत से हिन्दी कवियों की रचनाओं में धार्मिक रहस्यवाद के साथ यथार्थवादी तत्त्वों और प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का जटिल मिश्रण पाया जाता है। इसी कारण कई बार यह निश्चित करना बड़ा कठिन अनुभव होता है कि अमुक कवि किस साहित्यिक धारा का अनुगामी है और उसके स्वच्छन्दतावाद का स्वरूप क्या है।

समकालीन हिन्दी कविता में छायावाद के असंगतिपूर्ण स्वरूप के विषय में बड़ी सीमा तक यह स्पष्टीकरण दिया जा सकता है कि इस धारा के अधिकांश प्रतिनिधि बुर्जुआ बुद्धिजीवी श्रेणी से ही आगे आए थे। यह श्रेणी जनता की दयनीय दशा के प्रति सहानुभूति प्रकट करती थी, अपने नागरिक तथा देशविषयक कर्तव्य को समझने लग गई थी, पर अपनी आदर्शवादी विचारधारा तथा वैचारिक भूमिका की अस्पष्टता के कारण मातृभूमि की राजनीतिक एवं सामाजिक मुक्ति के संघर्ष का मार्ग नहीं खोज पा रही थी।

छायावादी कवियों की विविधता तथा असंगतिपूर्ण रचनाओं में 'क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद' से लेकर 'प्रतिक्रियावादी स्वच्छन्दतावाद' तक के कलात्मक सामान्यीकरण के कई विभिन्न रूप देखे जा सकते हैं। फिर भी, छायावाद के इतने विशाल वैचारिक-सौंदर्यात्मक विस्तार के रहते हुए भी उसमें विद्यमान कलात्मक

बिम्ब-योजना के आम पहलुओं पर ध्यान न देना असंभव है।

आम तौर पर छायावाद के स्वच्छंदतावादी बिम्ब संरचना में ऐतिहासिक मूर्तिमत्ता एवं सत्यता का अस्तित्व नहीं के बराबर है और उसमें गति एवं विकास का सामान्यतः अभाव ही रहा है। अधिकांश प्रसंगों में छायावाद का रूपांकन अखिल मानवतावादी आशय से परिपूर्ण रहा है। छायावाद के कलात्मक रूपांकन के आधार रहे हैं प्रकृति की दिव्य चेतना से ओतप्रोत संसार और प्राचीन भारतीय धार्मिक पौराणिक कथाएँ। इसी कारण ऐहिक एवं ऐंद्रजालिक तथा वास्तविकता एवं स्वप्नशीलता का विलक्षण मेल-जोल छायावाद का लक्षण बन गया है। अपनी उत्कृष्ट एवं अत्यधिक प्रगतिशील अभिव्यक्ति तक में (क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों तक में जो निराला द्वारा अपनाई गई थी) छायावाद पूर्वाभास या प्रतीक्षा के बिम्बों के सृजन से आगे नहीं बढ़ पाया है—उन बिम्बों के जिनसे विश्व के परिवर्तन एवं पुनर्नवीकरण के विषय में कवि के स्वप्न प्रकट होते हैं।

छायावादी कविता में उसके अपने आप में विशिष्ट सोपाधिक रूप में बीसवीं शताब्दी की बुद्धिजीवी श्रेणी के आध्यात्मिक विश्व के विकास का, मातृ-भूमि की स्वाधीनता के मार्गों एवं साधनों के संबंध में उसके विचारों का तथा पुराने युग के संबंध में निराशा तथा नए युग से संबंधित कष्टदायी अन्वेषणों का प्रतिबिंब अंकित हुआ। उसी प्रकार उसमें बहुत-सी आधुनिक युगीन सामाजिक, दार्शनिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक एवं सदाचार विषयक समस्याओं के प्रति उक्त श्रेणी के दृष्टिकोणों को अभिव्यक्ति मिली।

मध्ययुगीन कविता का लक्षण भक्ति था, तो हिन्दी साहित्य के विकास में बाधा डालने वाले परंपरागत काव्य विषयक नियमों की शृंखलाओं को तोड़ डालने का प्रयत्न छायावादी कविता का लक्षण रहा। छायावादी कवि नैतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों, नीति एवं सदाचार विषयक परंपरागत धारणाओं और मनुष्य के आत्मिक सौंदर्य का नए सिरे से मूल्यांकन करने में प्रयत्नशील रहे। अपने भावों एवं अनुभूतियों को उन्होंने उन विशिष्ट प्रतिभाओं एवं प्रतीकों की सहायता से अभिव्यक्ति दी जिनको उन्होंने प्रेरणादायी प्रकृति के अक्षय भण्डार से प्राप्त किया था। उनके द्वारा प्रेरणामय बनाई गई प्रकृति ने उनके काव्य को मानवतावादी आशय से ओतप्रोत रखा और मानव के भावों एवं अनुभूतियों के जटिल सरगम के प्रकाशन एवं अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन का काम किया।

प्रेम तथा नारी सौंदर्य के विषय की व्याख्या के प्रति नए दृष्टिकोण ने हिन्दी गीत मुक्तक काव्य के न केवल भावनात्मक-वैचारिक आशय में, अपितु उसकी काव्य-प्रतिमाओं एवं कलात्मक रूपांकन की समस्त साधन प्रणाली ही में परिवर्तन ला दिया। छायावादी कविता के प्रकृति से संबद्ध प्रतीकों, रूपकों, बिम्बों एवं उपभावों में बड़ी भावनात्मक ऊर्ध्वता का विशेष पुट रहा है।

रीतिकालीन एवं प्रबोधनकालीन काव्य विषयक मानकों के विरुद्ध स्वच्छंदतावादी कवियों ने विप्लव खड़ा कर दिया। इस विप्लव का सारतत्व पंतजी ने रूपकात्मक ढंग से इन शब्दों में किया है: "हम ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी चोली नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है हमारे शरीर का विकास रुक जाता है।"[1]

यदि अतीत के काल-खण्डों की कविता का सवसे वड़ा गुणविशेष यह माना जाता था कि बस, उसमें गणितात्मक सूक्ष्मता तक निश्चित किए गए काव्य-शास्त्रीय नियमों का चौकस पालन और परंपरागत काव्यात्मक रूपांकन साधनों एवं विषयों का प्रयोग हो, तो स्वच्छंदतावादी कवि काव्य सृजन के संवंध में पूर्णतया भिन्न भूमिका पर खड़े थे। उन्होंने तो वहादुरी के साथ सभी नियमों को तोड़ डाला—फिर वे नियम भाषा विषयक हों, विषय-चयन के संबंध में हों या काव्य-विधान से संबंधित हों। उन्होंने नए पथ पर चलना तथा परंपरागत अलंकारों के स्थान में बड़े पैमाने पर अनुप्रास तथा नादानुकृति का प्रयोग करना आरम्भ किया और मौलिक काव्य रूपों तथा छन्दों, नए लयचित्रों एवं तुक प्रणालियों की सृष्टि की। छायावादी कविता में काव्य-नायक की सतत उपस्थिति के कारण भावनात्मक प्रभाव बहुत ही बढ़ जाता है। यह काव्य-नायक पाठकों को अपने भाव एवं अनुभूतियाँ कथन करना है।

छायावादी कविता में मानव का चित्रण उसके समस्त जटिल विश्व के साथ किया जाता है, न कि केवल वाह्य परिस्थितियों के संदर्भ में जैसा कि विगत युगों की हिन्दी कविता में किया जाता था। इस प्रकार, हिन्दी कविता की मानवतावादी बुनियाद विस्तृत और अधिक पक्की हो गई, जीवन की नई सामग्री के पथ पर उसने आगे चरण बढ़ाया।

जयशंकर प्रसाद रचित 'कामायनी' की श्रद्धा एवं मनु की प्रतिमाओं को इस संदर्भ में निर्देशक उदाहरण माना जा सकता है। 'कामायनी' काव्य छायावादी काव्य-क्षेत्र का सर्वोच्च शिखर रहा है। यद्यपि उक्त प्रतिमाओं में ही काव्य का प्रधान वैचारिक आशय प्रकट होता है तथापि ये प्रतिमाएँ कवि के किन्हीं विचारों तथा मनोविकारों के प्रतीक मात्र नहीं हैं। कामदेव की कन्या श्रद्धा और मानव वंश के संस्थापक देवदूत मनु की प्रतिमाओं में, जोकि छांदोग्योपनिषद से ली गई हैं, प्रसाद जी मानवतावादी आशय भर देते हैं, वाह्य परिस्थितियों के कारण सहजीकृत उनका चरित्र विकास दर्शाते हैं। ज्वलंत, समर्पणशील प्रेम, स्वार्थत्याग और आत्मिक शुद्धता—यही तो मानव के वे गुण हैं जो अहंभाव, वलप्रयोग एवं कठोरता पर आधारित आधुनिक समाज में मनुष्य के लिए स्वास्थ्यकारक औषधि का काम

१. पंत, 'पल्लव', पृ० ११।

दे सकते हैं। 'कामायनी' में प्रसादजी द्वारा समर्थित यही प्रधान विचार है।

जब रीतिकाल में नारी का चित्रण एक ऐंद्रिय प्रेम की वस्तु के रूप में किया जाता था और उसके केवल वाह्य सौंदर्य कलापों पर ध्यान दिया जाता था, तो छायावादी कवि नारी की अंतरात्मा के विश्व पर मुख्यत: ध्यान देते हैं और उसके सभी विविध भावों, मनोविन्यासों एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देते हैं। छायावादी कवियों के लिए भी नारी-सौंदर्य एवं प्रेम एक महत्त्वपूर्ण काव्य-विषय रहा है। छायावादी कवि प्रेम का सौंदर्य उसे कुरूप बनाने वाले मध्ययुगीन नीति विषयक सिद्धांतों एवं प्रथाओं से उसकी मुक्ति में, समानाधिकार एवं परस्पर भावानुभूति में देखते हैं। इस प्रकार निरालाजी की 'जुही की कली' शीर्षक कविता में आदर्श प्रेम वह बताया गया है, जो परस्पर-आकर्षण पर आधारित हो। वासंतिक पवन की काव्यमय प्रतिमा में यह प्रकट हुआ है—उस पवन के रूप में जो रात्रि-कालीन वन में तंद्रामग्न जुही की कली की ओर खिच जाता है और कोमलता के साथ उसकी पंखुड़ियों को चूम लेता है।[1]

हिन्दी कविता को नव जीवनधारा से भरपूर करने, उसमें स्वतंत्रताप्रिय आदर्शों का समर्थन करने, मानव के आंतरिक निश्चय का उद्‌घाटन करने, उसके भावों एवं अनुभूतियों को सत्य एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति देने और अभिव्यक्ति के नये काव्यात्मक रूप एवं साधन खोज निकालने के अपने नवीनतापूर्ण प्रयत्नों में छायावादी कवियों का ध्यान अन्य देशों के साहित्य और मुख्यतया उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावादियों के साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। इस साहित्य के वैचारिक-सौंदर्यात्मक सिद्धान्तों ने उन्हें प्रभावित कर दिया।

वायरन, शैली एवं कीट्‌स के साहित्य के महान् सामाजिक अर्थपूर्ण विषयों, उनकी रचनाजों की विप्लवी स्वतंत्रताप्रिय आत्मा और अन्यायपूर्ण सामाजिक संबंधों के प्रति घोर विरोध ने प्रगतिशील भारतीय स्वच्छंदतावादी साहित्यिकों को अपनी ओर आकृष्ट किया। इन कवियों की कृतियों से परिचय प्राप्त हो जाने के फलस्वरूप भारतीय कवियों का अपने राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण से संबंधित संघर्ष व्यापक हो सका। इस साहित्य से अपेक्षा थी कि वह राष्ट्रीय पुनरुत्थान की भावना से ओतप्रोत हो, व्यक्ति की स्वतंत्रता के संघर्ष के लिए वह आवाहन करे और भावात्मकता औपचारिकता एवं भारतीय उत्तर-मध्ययुगीन क्लासिकतावाद के मिथ्या रूपवाद से मुक्त हो।

साथ-साथ छायावादी कवियों के बीच वर्ड्‌सवर्थ, टेनीसन, ब्राउनिंग तथा अन्य अंग्रेज़ी स्वच्छंदतावादी कवियों की कुछ निराशाभरी रचनाओं की प्रतिध्वनि भी गूंज उठी। इससे फिर एक बार कहा जा सकता है कि छायावादी कविता की वैचारिक भिन्नता को निश्चित करना कितना कठिन है। उदाहरणार्थ श्री सुमित्रा-

१. निराला, 'परिमल', पृ० १४।

नन्दन पंत ने लिखा है : "पल्लव काल में मैं उन्नीसवीं शती के अंग्रेजी कवियों—मुख्यत: शैली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनीसन से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन-युग का सौंदर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवनस्वप्न दिया है।"[१]

हिन्दी कविता में छायावाद के कुछ अनुसंधानकर्ता-आलोचक छायावाद पर यूरोपीय स्वच्छंदतावाद के प्रभाव का अतिमूल्यांकन करते हुए दिखाई देते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछेक अंगों का पश्चिमी यूरोप की विभिन्न साहित्यिक धाराओं से कृत्रिम संबंध दिखाने की प्रवृत्ति विदेशी भारतविद्या विषयक क्षेत्र में विस्तृत रूप से प्रसृत रही है। यह स्वीकार करना चाहिए कि आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास-पथ पर पश्चिमी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है, पर यह प्रभाव उतना निर्णयकारी नहीं रहा है, जितना कि कुछ ग्रंथकारों द्वारा बताया जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि यूरोपीय स्वच्छंदतावाद और छायावाद के बीच में बहुत कुछ एकसी बातें पाई जा सकती हैं, फिर भी उन्हें पर्याय कहना कठिन नहीं होगा। छायावाद और रहस्यवाद दोनों में स्पष्टतया अभिव्यक्त राष्ट्रवादी रंग झलक पड़ता है। समस्त विगत सांस्कृतिक परम्परा से सतत संबद्ध रहने और हिन्दी कविता के विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण होते हुए छायावाद में बीसवीं शती के आरम्भकालीन भारतीय समाज के समस्त आध्यात्मिक जीवन की ऐतिहासिक परिस्थितियों की निश्चित ऐतिहासिक विशेषताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता की यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य में और वैसे देखा जाए तो उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों के संगमकालीन समस्त भारतीय साहित्य ही में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के साथ-साथ यथार्थवाद का उदय हुआ। भारतीय समाज के विकास की समस्त गति के फलस्वरूप ही यह सम्भव हुआ था और अखिल भारतीय साहित्यिक विकास-प्रक्रिया का ही यह एक अंग एवं महत्त्वपूर्ण नियम रहा है। भारतीय साहित्य में यथार्थवादी तत्त्वों का क्रमशः संचय भारत में अग्रगामी सामाजिक विचार के विकास से दृढ़तापूर्वक संबद्ध रहा है। जीवन के नए प्रगतिशील रूपों एवं सामाजिक संबंधों की खोज के लिए और सामाजिक प्रगति-पथ में रोड़े अटकाने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरोध को समाप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील अग्रगामी सामाजिक शक्तियों की गतिविधियों के फलस्वरूप ही यह विकास सम्भव हो सका था। नवयुगीन भारतीय साहित्य में यथार्थवाद के उदय और स्वतंत्रता-आन्दोलन, भारतीय जनता की राष्ट्रीय आत्मचेतना के जागरण, राष्ट्रोदय के श्रीगणेश, भारतीय समाज के समस्त नवीकरण और भारत में आधुनिक

१. पंत, 'आधुनिक कवि', प्रयाग, सं० २००३, पृ० १३।

विज्ञान, संस्कृति तथा अग्रगामी सामाजिक विचार के प्रसार के वीच में घनिष्ठतम संवंध रहा।

नवयुगीन भारतीय साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्ति के उदय की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि वह स्वच्छंदतावाद से दृढ़ संवंध रखते हुए विकसित हुई। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से लेकर भारतीय साहित्य ने जैसे त्वरापूर्ण विकास-पथ-क्रमण किया। उसमें विभिन्न प्रवृत्तियाँ एवं धाराएँ उत्पन्न हुईं, एक साथ चलती रहीं और समांतर रूप से विकसित होती रहीं जब कि पश्चिमी यूरोपीय देशों में इन प्रवृत्तियों एवं धाराओं का क्रमवद्ध विकास हुआ था। नवयुगीन भारतीय साहित्य पर नि० इ० कोनरड के ये शव्द वहुत ही सुचारु रूप से लागू होते हैं: "पूर्वी देशों के इतिहास के उक्त चरण में उनके साहित्य ने वड़ी शीघ्रता की। किसी प्रकार—और यह नियम संगत ही था—उसने स्वच्छंदतावाद के पथ पर चरण रखा ही था कि उस पथ को ठीक से अपना लेने से पहले ही वह त्वरा से आगे को अर्थात् यथार्थवाद की ओर लपक पड़ा। इसको लेकर साहित्य की अपने-आप में एक विशेपता रही जो न्यूनाधिक मात्रा में सभी पूर्वी साहित्यों में पुनरावृत्त होती रही। वह यह कि यथार्थवाद की दिशा में सभी निर्विवाद प्रयत्नों के होते हुए यथार्थवाद में गिनी जाने वाली वहुत-सी रचनाओं में स्वच्छंदतावाद के तत्त्व विद्यमान रहे—कई वार वे अत्यधिक मात्रा में अनुभव हुए और वह भी सामान्यतः पहले सिरे के भावुकतापूर्ण रूप में। कुछ समय तक यथार्थवादी साहित्य जैसे स्वयं ही स्वच्छंदतावाद को जारी रखे रहा, और उसे जारी रखते हुए, उस पर हावी हो गया।"[१]

अन्य भारतीय साहित्यों से पहले बँगला साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्ति का पथ प्रशस्त हुआ।

भारत के आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का उत्थान इस यथार्थवादी साहित्य में प्रतिबिंबित हुआ और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ा।

बहुत से भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने चतुर्थ दशक के हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का अवलोकन करते हुए साहित्यिक प्रक्रिया के विकास के नये चरण के अर्थात् तथाकथित 'प्रगतिवाद' के आरम्भ का उल्लेख किया है। फिर भी 'प्रगतिवाद' का स्वरूप कथन करते हुए उन्होंने कई वार इन पहलुओं का वर्णन किया है जो यथार्थवादी साहित्य की अपनी विशेषता है। इस संदर्भ में डाक्टर नगेन्द्र का सन् १९४० में लिखा हुआ 'आज की हिन्दी-कविता और प्रगति' शीर्षक लेख बड़ा ही रोचक है। उन्होंने लिखा था: "जीवन जीने की वस्तु है, उससे आँख मिलाकर खड़ा होना पुरुषत्व है न कि किसी काल्पनिक सुख की

१. 'विश्व-साहित्य में यथार्थवाद की समस्याएँ' (रूसी) मास्को, १९५९, पृ० ३४६-३४७।

खोज में उससे भागना। जो कुछ सामने है—प्रत्यक्ष वही सत्य है, अतएव मौलिक जीवन की साधना जीवन में मुख्य है। उनसे परे अध्यात्म परलोक कुछ नहीं। वे केवल पलायन के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।"[1] हिन्दी के आलोचकों ने स्वीकार किया है कि आज के समस्त साहित्य का प्रधान स्वर है यथार्थवाद। चतुर्थ दशक के मध्य में हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी तत्त्वों की एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही जिसका आम स्वरूप यथार्थवादी कहा जा सकता है। यह प्रवृत्ति स्वच्छंदतावादी तत्त्वों के विरोधाभासात्मक अस्तित्व के साथ-साथ विकसित हुई और उसमें तत्कालीन भारतीय समाज के विकास की सभी विशेषताएँ प्रतिबिंबित हुई।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की समस्त कलात्मक विविधता को स्पष्ट करने के प्रयत्न में भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने यथार्थवाद के विभिन्न स्वरूपों के लिए कई नये पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, 'प्रकृतिवादी यथार्थ-वाद', 'अंतश्चेतनावादी यथार्थवाद', 'व्यक्तिवादी यथार्थवाद' इत्यादि।[2]

भारतीय साहित्यशास्त्री श्री नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं : "इस समय हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के कई स्वरूप विकसित हो रहे हैं जिनमें मनोविश्ले-षण पर आधारित प्राकृतिक यथार्थवाद, गांधीवादी यथार्थवाद और अन्य कई रूप सम्मिलित हैं।"[3]

इस प्रकार की परिभाषा से कदाचित् ही सहमत हुआ जा सकता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की समस्त वैचारिक सौन्दर्यात्मक विविधरूपता को यथार्थवाद की ओर ले जाने का परिणाम यही हो सकता है कि साहित्यिक प्रक्रिया के विकास के वास्तविक चित्र में विरूपता आ जाती है, सच्ची यथार्थवादी कला की स्वरूप-विशेषताएँ आवृत हो जाती हैं।

सन् १९३६ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई जिससे हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्ति के विकास को बड़ा प्रोत्साहन मिला। हिन्दी एवं उर्दू साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद के संस्थापक प्रेमचन्द उक्त संघ के प्रथम सभापति चुने गए थे। विभिन्न राजनीतिक दृष्टिकोण एवं विचार रखने वाले, अन्यान्य साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं धाराओं के अनुगामी कई हिन्दी लेखक प्रगतिशील आन्दोलन के प्रयत्नशील विकास की रौ में आ गए। इस आन्दोलन की सौन्दर्य विषयक भूमिका थी—साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवादी प्रणाली के समर्थनार्थ संघर्ष। बहुत से छायावादी कवियों ने इस आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। स्व० जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित 'तितली' (१९३४) नामक उपन्यास ने यथार्थवादी हिन्दी साहित्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया। डॉ०

१. डा० नगेन्द्र, 'सुमित्रानन्दन पंत' पृ० १३३।
२. सुषमा धवन, 'हिन्दी उपन्यास' दिल्ली, १९६१, पृ० ६।
३. वही, पृ० ६।

रामविलास शर्मा के अनुसार सन् '३० के वाद हिन्दी कथा-साहित्य में जिस नये यथार्थवाद की लहर आयी थी, 'तितली' उसी की देन है। प्रसादजी ने 'तितली' में पराधीनता और निर्धनता के नये चित्र दिये हैं। उन्होंने दिखाया है कि विदेशी शासकों ने किस तरह भारत को नरकंकालों का कारागार बना दिया है। दुनिया के गरीबों के सताने वाले एक हैं। इसलिए दुनिया के गरीब एक हैं। वह गाँवों में वर्ग-संघर्ष के यथार्थ चित्र देते हैं। इस संघर्ष में हिन्दुस्तानी किसान की वीरता और धीरता प्रकट होती है। 'तितली' का यथार्थवाद हिन्दी कथा-साहित्य के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। न केवल प्रेमचन्द वरन् प्रसाद, निराला आदि भी उसी मार्ग पर बढ़ रहे थे। यह यथार्थवाद स्वाधीनता ही न चाहता था, वह सामाजिक न्याय भी चाहता था। वह देश की नयी चेतना को प्रकट करता है जो समाज के पुराने ढाँचे को ही बदलना चाहती थी।...यह प्रसाद की महत्ता है कि छायावाद के प्रमुख कवि होते हुए भी उन्होंने इस नये जागरण को पहचाना और चित्रित किया।"[1]

भारतीय लेखक विभिन्न मार्गों से आलोचनात्मक यथार्थवाद तक पहुँचे—प्रेमचन्दजी अपनी कृतियों में क्रमशः गांधीवादी विचारधारा के स्वभावगत भावात्मक मानवतावादी आदर्शों पर विजय पाते हुए आलोचनात्मक यथार्थवादी बन गए, प्रसादजी दिव्य चेतना से अनुप्राणित छायावादी कविता के मायामय संसार से अलग हो गए, निरालाजी के गद्य एवं पद्य का आलोचनात्मक यथार्थवाद क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद के साथ-साथ विकसित हुआ और स्वच्छंदतावादी कवि पंतजी को यथार्थवादी प्रणाली की ओर ले जाने में श्रमिक जनता के दुःख के विषय में उनकी सहानुभूति एवं जीवन के सत्य को वाणी देने के लिए हार्दिक प्रयत्नों का स्थान सर्वोपरि रहा।

गोर्की की कृतियों से अनेक लेखकों ने विस्तृत परिचय प्राप्त किया था और हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रणाली के समर्थन की दृष्टि से इस बात का असाधारण महत्त्व रहा। श्री रवीन्द्रसहाय वर्मा इस संबंध में लिखते हैं: "गोर्की का आधुनिक हिन्दी साहित्य पर प्रेमचन्द्र के समय से लेकर अब तक गहरा प्रभाव पड़ा है। आज का प्रत्येक प्रगतिशील लेखक गोर्की की कृतियों से परिचित है।"[2] स्वच्छंदतावादी लेखकों के रूप में अपने साहित्य-सृजन का श्रीगणेश करने वाले अनेक भारतीय लेखकों ने गोर्की की कृतियों से प्रभावित होकर यशार्थवादी प्रणाली अपना ली और सामाजिक दृष्टि से तीक्ष्ण एवं युयुत्सु, प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि की।

जैसा कि मार्क्सवादी आलोचक डॉ० नामवरसिंह ने लिखा है, "छायावाद के

१. नया पथ, जनवरी, १९५६, पृ० १२।
२. रवीन्द्रसहाय वर्मा, 'हिन्दी कविता पर अंग्रेजी प्रभाव', पृ० २२५।

गर्भ से सन् '३० के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्य-धारा का जन्म हुआ उसे सन् '३६ में प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई।"[१]

हिन्दी काव्य-संसार में तृतीय दशक के आरम्भ ही में निराला जी ने भिक्षुक, दीन, इत्यादि कविताओं की रचना की जिनमें दरिद्रों के बोझिल जीवन के वर्णन और श्रमिक जनता की घोर अभाव-ग्रस्तता तथा दुःखों के प्रभावशील चित्र अंकित हैं।

चतुर्थ दशक के मध्य में उक्त विषय हिन्दी कविता में विशेष रूप से विकसित हुआ।

जनसाधारण के कष्टमय जीवन के प्रति सहानुभूति का विषय, जिसने आगे चलकर सामाजिक अन्याय के प्रति निषेध का रूप धारण किया, पंत रचित 'ग्राम्या' संग्रह का प्रधान विषय रहा है। 'वह बुड्ढा', 'वे आँखें' इत्यादि कविताओं में यह देखा जा सकता है। निरालाजी की 'वह तोड़ती पत्थर' तथा अन्य कवियों की कई कविताओं में इस विषय की पुकार गूंज उठी है।

सीधी-सादी, भोली-भाली जनता के जीवन के प्रति स्वच्छंदतावादी कवियों का ध्यान आकृष्ट होने में दो प्रधान कारण थे। एक ओर सन् १९२८-१९३३ का राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था तथा भारतीय श्रमिक की सामाजिक एवं वर्गचेतना विकसित हो रही थी, तो दूसरी ओर भारतीय लेखक अन्य देशों के प्रगतिशील साहित्य एवं अग्रगामी सामाजिक विचारों से विस्तृत परिचय प्राप्त कर रहे थे।

इस प्रकार साधारण जनता के जीवन के प्रति ध्यान जाना हिन्दी कविता के यथार्थवादी विकास-पथ का एक महत्त्वपूर्ण चरण रहा। राष्ट्रीयता कविता का अविच्छिन्न अंग बन गई। जब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संघर्ष के आरंभ काल में हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता मुख्यतया श्रमिक जनता की दुःख एवं अभावग्रस्त स्थिति के प्रति ध्यानाकर्षण प्रयत्नों और इस जनता के प्रति विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के हृदय में सहानुभूति एवं प्रेम जगाने के रूप में प्रकट हुई तो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष के प्रत्यक्ष छिड़ जाने, उसमें विशाल जन-समुदायों के सम्मिलित हो जाने तथा उनमें वर्गविषयक एवं राष्ट्रीय आत्मचेतना के वृद्धिगत हो जाने के परिणाम-स्वरूप हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता श्रमजीवियों के हृदय में आत्मगौरव की ज्योति जगाने, अपनी शक्तियों को पहचान लेने में, उनकी सहायता करने और उन्हें अपने अधिकारों तथा अच्छे जीवन के लिए संघर्ष का मार्ग दिखाने के प्रयत्नों के रूप में अभिव्यक्त हुई। ये विषय भारतीय जनता के समस्त प्रगतिशील साहित्य के विकास के मूलभूत अंग रहे हैं।

१. डॉ० नामवरसिंह, 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ,' पृ० ७९।

निरालाजी की 'कुकुरमुत्ता' (सन् १९४१) शीर्षक कविता हिन्दी काव्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण मंज़िल सिद्ध हुई। शोषक पूंजीवादी के प्रतीक के रूप में सामने आनेवाला गुलाव नहीं, अपितु श्रमिक का साक्षात् रूप प्रस्तुत करने वाला कुकुरमुत्ता निराला जी की उक्त रचना में कवि के सौंदर्य विषयक आदर्श को अभिव्यक्त करता है। इसमें निरालाजी ने इस विचार का समर्थन किया है कि अनुपयुक्त वाह्य मनोहारिता नहीं, अपितु जनता की भलाई तथा सेवा करने की योग्यता ही वास्तविक सुन्दरता है। कविता के उत्तरार्द्ध में दरिद्रों के जीवन का यथार्थवादी चित्र और उसके विरोध में धनियों के भोग-विलासमय जीवन का चित्र अंकित है। यह उत्तरार्ध हिन्दी कविता में यथार्थवादी प्रणाली के समर्थन का साक्षी वन पड़ा है।

इस प्रकार चतुर्थ दशक के अंत में हिन्दी के अग्रणी छायावादी कवियों और सवसे पहले निराला और पंत की रचनाओं में यथार्थवाद की दिशा में मूलगामी मोड़ आया। कहना न होगा कि इसी कारण भारतीय साहित्यशास्त्री इन्हें प्रगतिवादी प्रवृत्ति के संस्थापक मानते हैं। प्रगतिवादी प्रवृत्ति को यथार्थवादी माना जा सकता है।

प्रगतिवाद के सौंदर्य विषयक मानकों के विकास-पथ में महत्त्वपूर्ण पदन्यास यह रहा कि काव्य-रूप नए लोकतन्त्रवादी विचारों एवं मनोविन्यासों की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल वन गया। निरालाजी की 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविता में ही देखिए—इसमें कवि ने नए रूपकों, प्रतीकों एवं अन्य अभिव्यक्ति-साधनों का प्रयोग किया है और ऐसे चित्र अंकित किए हैं जो पहले की स्वच्छन्दतावादी भावुकता तथा ऊर्ध्वता और छायावाद के अर्धस्फुट इंगितों एवं अस्फुट भावों के रहस्यमय सौंदर्य से मूलतः भिन्न हैं।

चतुर्थ दशक के अंत में, हिन्दी कविता को यथार्थवादी आशय से परिपूर्ण करने वाले निरालाजी एवं कुछ सीमा तक पंतजी का अनुकरण ऐसे कई हिन्दी कवियों ने किया जिन्होंने काव्य-सृजन के क्षेत्र में प्रथम चरण स्वच्छन्दतावादियों के रूप में रखा था। उन्होंने कविता में नया आशय भर दिया, उसमें सामाजिक न्याय की पुकार अधिक सशक्त रूप में गूंजने लगी और श्रमजीवियों की दयनीय दशा अधिकाधिक गहरे एवं विस्तृत रूप में प्रकट होने लगी।

हिन्दी कविता में यथार्थवाद की स्थापना की खास विशेषता यह रही कि कविता के रूप का लोकतन्त्रीकरण हो गया—कवियों ने लोकगीतों की भाषा एवं शैली को सक्रिय रूप में अपना लिया।

उदाहरणार्थ, श्रम के विषय ही को लीजिए। इसके कारण न केवल कलात्मक विधान ही में अपितु रचनाओं के ध्वनि विषयक, लयात्मक एवं संगीतात्मक विधान में भी परिवर्तन आया। इस प्रकार पंतजी की 'चरखा गीत'

(सन् १९४०) शीर्षक कविता में, जो विशेष प्रकार की अभिव्यंजकता विद्यमान है, उसका कारण यही है कि उसमें ऐसे अनुकरणवाचक शब्दों का बड़ा ही रोचक प्रयोग किया गया है जो चलते हुए चरखे का सजीव चित्र-सा खड़ा कर देते हैं। पंतजी की इस कविता पर और चतुर्थ-पंचम दशकों के अन्य कवियों की बहुत-सी रचनाओं पर रूपविधान एवं आशय की भी दृष्टि से भारतीय लोकगीतों का प्रभाव दिखाई देता है। इन लोकगीतों में साधारण जन के श्रम की प्रशंसा को ही सर्वोपरि स्थान प्राप्त है।

मायामय आदर्शों के अस्वीकार और मानव तथा समाज के जीवन की गहराइयों में पैठ कर प्राप्त किए गए ज्ञान एवं वास्तविकता के यथार्थवादी रूपांकन की दिशा में प्रयासों पर आधारित नए वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों के स्वीकार-समर्थन के लिए प्रयत्नशीलता प्रगतिवादी कविता के स्वरूप की साधारण विशेषता रही है।

हिन्दी कविता में यथार्थवादी प्रणाली के विकास के क्षेत्र में व्यंग्यात्मकता ने महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। एक महत्त्वपूर्ण सौंदर्यात्मक घटना के रूप में अवतीर्ण होकर व्यंग्यात्मकता काव्य में वास्तविकता के चित्रण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गई। निराला, नागार्जुन, भगवतीचरण वर्मा और अन्य अनेक कवियों की रचनाओं में उग्र शब्दों और कटु सत्यदर्शी विचारों का विस्तृत प्रयोग हुआ है।

फ़ासिज़्म, युद्ध एवं प्रतिक्रिया-विरोधी सक्रिय संघर्ष में अनेकानेक कवि सम्मिलित हुए जिससे आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थवाद की जड़ें दृढ़तर होने और उसका विस्तृततर प्रसार होने में सहायता मिली।

हिन्दी कवियों की युद्धकालीन रचनाओं में फ़ासिज़्म तथा प्रतिक्रिया की शक्तियों पर सोवियत जनता की विजय में विश्वास की गूँज है। फ़ासिज़्म के विरुद्ध स्वतन्त्रता संघर्ष में रत सोवियत जनता की वीरता की प्रशंसा शिवमंगल सिंह 'सुमन' की 'मास्को अभी दूर है', 'लाल सेना आगे बढ़ रही हैं' शीर्षक कविताओं में गूँज उठी है तो रांगेय राघव ने बोल्गा की लड़ाई में विजय पाने वाली सोवियत जनता की वीरता के गीत गाए हैं। देखिए, 'अजेय खण्डहर' शीर्षक कविता।[1] इसी प्रकार के अन्य कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

हिन्दी कविता में फ़ासिज़्म-विरोधी संघर्ष के विचारों का अटूट संबंध सामाजिक स्वतन्त्रता की पुकार के साथ रहा है। रामविलास शर्मा, नागार्जुन, नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन' और अन्य अनेक कवियों की रचनाएँ क्रान्तिकारी भावना से ओतप्रोत हैं। इनकी रचनाओं में यथार्थवाद के विद्यमान होने के फलस्वरूप प्रगतिशील विचारधारा का सक्रियतर स्वीकार सुकर हुआ।

भारतीय जनता द्वारा स्वाधीनता-प्राप्ति का हिन्दी साहित्य पर बड़ा ही

१. वर्मा, 'हिन्दी कविता पर अंग्रेजी प्रभाव', पृ० २३८।

प्रभाव पड़ा और उसमें यथार्थवादी प्रवृत्ति के विकास के नए क्षितिज खुल गए।

षष्ठ दशक में और सप्तम् दशक के आरम्भ में बहुत से हिन्दी-कवियों की रचनाओं में भारतीय जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ प्रतिबिंबित हुईं। ये थीं औपनिवेशिक शासन से मुक्ति-स्वाधीन भारतीय गणराज्य की स्थापना, समस्त आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के पुनर्निर्माण की दिशा में प्रथम पदन्यास और नवजीवन-पथ की वे महान् कठिनाइयाँ जो भारतीय जनता को अभी पार करनी थीं। इन सबके कारण उनके यथार्थवाद को एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त हुआ।

उस समय कविता में देशभक्तिपूर्ण उत्साह, सृजनशील श्रम के वीरतापूर्ण रोमानी रंग और मातृभूमि के भाग्य-विषयक विचारों का संगम हो गया था जो मानो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन विषयक विचारों से अनुप्राणित देशभक्तिपूर्ण कविता के प्रवर्धन एवं विकास का ही अगला चरण था। उस समय यथार्थवाद के विकास की सबसे पहली विशेषता यह रही कि कवियों ने स्वाधीन भारतीय गण-राज्य के सामाजिक-आर्थिक जीवन के यथार्थ स्वरूप को गहरे पानी में पैठकर देखा और इसलिए प्रयत्नशील रहे कि मातृभूमि के भाग्य-निर्माण की दृष्टि से जो भी सबसे महत्त्वपूर्ण है उस पर जनता की पैनी दृष्टि केन्द्रित कर दें। उदाहरणार्थ, शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने 'इतिहास का नया मोड़' शीर्षक दीर्घ कविता में नवजीवन की सृष्टि का महान् कार्यक्रम ही प्रस्तुत कर दिया है।

शान्ति तथा भिन्न-भिन्न जनता के बीच मैत्री की स्थापना के लिए और उपनिवेशवाद एवं युद्ध के विरुद्ध संघर्ष आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता का एक और महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। आधुनिक भारतीय कविता में प्रथमतः रवीन्द्र-नाथ ठाकुर द्वारा विकसित किये गए, इस विषय से अधिकांश आधुनिक भारतीय कवियों को प्रोत्साहन मिला और उनकी कृतियाँ तीव्र यथार्थवादी आशय से परि-पूर्ण हो गईं।

साथ-साथ इधर के वर्षों की हिन्दी कविता की यथार्थवादी प्रवृत्ति की एक और विशेषता है उसकी आलोचनात्मक धारा, जिसकी सामाजिक आधारभूमि है देश की आर्थिक एवं सामाजिक कायापलट की दीर्घ प्रक्रिया के प्रति जन-समुदायों का असन्तोष। आज यथार्थवाद की आलोचनात्मक धारा में सामन्तवादी तथा उप-निवेशवादी प्रणालियों के अवशेषों के विरुद्ध और भारत में विद्यमान सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के बुनियादी हल के पक्ष में आम लोकतन्त्रवादी संघर्ष का प्रति-बिम्ब अंकित है। नागार्जुन की इधर की कविताओं की तीव्र व्यंग्यात्मकता आधु-निक हिन्दी कविता में आलोचनात्मक यथार्थवाद के विकास का स्पष्टतम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

हिन्दी कवियों ने आधुनिक भारतीय वास्तविकता की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ

उठाईं, बुर्जुआ समाज की त्रुटियों एवं श्रमिक जनता की बोझिल स्थिति पर ध्यान केन्द्रित किया, पर नियमतः इसके साथ-साथ वे अभी भी भारत के ऐतिहासिक विकास के खाके को विस्तृत एवं पूर्ण रूप में उद्‌घाटित एवं स्पष्ट नहीं कर पाए। ऐसा सामाजिक आदर्श भी वे उपस्थित नहीं कर सके जो अपनी जनता के मुक्ति-सम्वन्धी वास्तविक लक्ष्यों एवं दायित्वों के अनुकूल हो। हिन्दी कविता के विकास के आधुनिक चरण में यथार्थवाद की यही सीमावद्धता और निर्वलता रही है।

साथ-साथ यह भी कहना चाहिए कि आधुनिक हिन्दी गद्य यथार्थवादी प्रणाली के स्वीकार के पथ पर कविता की अपेक्षा कहीं आगे वढ़ चुका है। हमारा यह कहना उचित ही होगा कि यशपाल जैसे लेखकों की कुछ कृतियों में यथार्थवाद 'समाजवादी यथार्थवाद' ही के निकट आया है। आधुनिक भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास के यथार्थ स्वरूप के गहरे अवलोकन और भारतीय समाज में घटने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं प्रक्रियाओं के ठीक मूल्यांकन के परिणामस्वरूप ही यशपाल का यथार्थवाद उत्पन्न हुआ और उसमें भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का विरोधाभासात्मक विकास-पथ कलात्मक ढंग से उद्‌घटित हुआ।

आधुनिक प्रगतिशील हिन्दी कविता भारतीय जनता की श्रेष्ठतम सांस्कृतिक विरासत से, स्वतन्त्रता, उज्ज्वल भविष्य, शान्ति एवं लोकतन्त्र के लिए संघर्ष से और व्यक्तित्ववाद, नैतिक पतन के विचारों तथा व्यक्तित्व के अमानवीकरण के भावों से भरपूर साहित्य द्वारा अपनाई गई प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध चल रहे सतत् संघर्ष से दृढ़ सम्वद्ध रही है और वह भारतीय समाज के समस्त आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर रही है।

देश के आर्थिक एवं सामाजिक-राजनीतिक जीवन में लोकतन्त्रवादी शक्तियों की वृद्धि, अग्रगामी सामाजिक विचार का विकास, जनता के स्वातन्त्र्य एवं सुख के लिए किये जाने वाले संघर्ष में समस्त प्रगतिशील शक्तियों की एकजुटता—ये हैं आधुनिक हिन्दी कविता के भावी और अधिक फलदायी विकास के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण शर्तें।

श्री सुमित्रानंदन पंत की साधना आधुनिक हिन्दी कविता उज्ज्वलतम पृष्ठों में से एक है। वह आधुनिक भारत की कला-संस्कृति को एक वड़ी देन है और उसमें इस देश की समस्त साहित्यिक प्रक्रिया की विशेषताएँ प्रतिबिम्वित हैं। इसीलिए पन्तजी की कृतियों और उनके जीवन-दर्शन के विश्लेषण से समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास के महत्त्वपूर्ण नियमों को ढूंढ़ निकालना सुकर हो जाता है। हिन्दी कविता में प्रयोगवाद और दूसरे वादों के वारे में मैंने इनके लिए कुछ नहीं लिखा है कि पंतजी की रचनाओं पर मेरे विचार में उनका कोई प्रभाव नहीं है।

× × ×

श्री सुमित्रानंदन पंत से प्रथम भेंट का सुअवसर मुझे सन् १९५६ में दिल्ली में प्राप्त हुआ था। उस समय मैं रूसी भाषा में उनकी चुनी हुई रचनाओं का पहला संग्रह प्रकाशित करने की तैयारी कर रहा था। पंतजी ने अपनी वे रचनाएँ पढ़ सुनाईं जो कविता रूप में रूसी में अनूदित हो चुकी थीं। मैं बहुत ही चाहता था कि पंतजी की कविताएँ रूसी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दूं ताकि वे न केवल उनका आशय ही समझ सकें अपितु उन रचनाओं की सुगन्ध का आनन्द ले सकें, उसके असाधारण संगीत को अनुभव कर सकें और इस भारतीय कवि की उत्कृष्ट कला का स्वयं मूल्यांकन कर सकें।

डॉ० टण्डन के यहाँ कवि नरेन्द्र शर्मा के सहवास में बिताई गई उस संस्मरणाय संध्या से लेकर आज तक मुझे श्री सुमित्रानंदन पंत से भारत में और सोवियत संघ में मिलने के कई सुअवसर मिले। सन् १९५९ में प्रयाग में पंतजी के साथ हुई वह भेंट मुझे विशेष रूप से स्मरण है जब मैं उनके और कवि रामकुमार वर्मा तथा गिरिजाकुमार माथुर के साथ रुग्ण निरालाजी से मिलने गया था। तब निरालाजी ने 'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक अपनी उत्कृष्ट कविता हमें सुनाई थी। उस समय से निरालाजी का वह स्वर आज तक मेरे कानों में गूंजता रहा है।

इसी प्रकार मुझे पंतजी द्वारा सन् १९६१ में की गई सोवियत संघ की यात्रा का भी स्मरण होता है। उस समय एक पूरा दिन मैं उनके साथ मास्को नगर में घूमता रहा। मैंने उन्हें क्रेमलिन, लेनिन की समाधि, लाल चौक आदि स्थान दिखाए।

७ नवम्बर १९६१ के दिन महान् अक्टूबर की समाजवादी क्रान्ति की वर्षगाँठ के नियमित आयोजित सैनिक संचलन एवं प्रदर्शन के अवसर पर मैं पंतजी के साथ लाल चौक में उपस्थित था। कदाचित, उसी समय पंतजी की काव्य-कल्पना में सोवियत संघ विषयक उन पंक्तियों का जन्म हुआ, जो बाद में उनके 'लोकायतन' नामक काव्य में समाविष्ट हुईं। मास्को में मैं पंतजी को अपने घर ले गया, जहाँ उन्होंने मेरे परिवार के साथ पूरी संध्या बिताई। उन्होंने मेरी माता, पत्नी और पुत्रों के साथ बातचीत की।

एक असामान्य मानव तथा कवि और अपने देश के सच्चे नागरिक पंतजी हम सबको हृदय से प्रिय लगे। और मैंने निश्चय कर लिया कि अपने देशबन्धुओं को स्वयं पंतजी से तथा उनकी रचनाओं से परिचित कराने के लिए मैं अपनी शक्ति के अनुसार हर सम्भव प्रयत्न करूँगा। उस समय मास्को में रह रहे भारतीय कवि एवं अनुवादक श्री गोपीकृष्ण 'गोपेश' और रूसी कवि एवं अनुवादक सर्गेय सेवर्त्सेव की सहायता से मैंने पंतजी की उन अधिकांश रचनाओं का रूसी में अनुवाद किया जो मास्को में क्रमशः सन् १९५९ और १९६५ में प्रकाशित 'संकलन' तथा 'हिमालयीन कापी बुक' नामक दो पुस्तकों में संगृहीत हैं। इसके अलावा पंतजी

की अनेक रचनाएँ समय-समय पर हमारे यहाँ की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। हमारे रेडियो से भी उनकी कविताएँ प्रसारित की जाती हैं।

पंतजी की कविताओं के अनुवाद का काम करते समय मैंने उन सब बातों से परिचय प्राप्त कर लिया, जो उनके विषय में भारतीय साहित्यशास्त्रियों, आलोचकों और पंतजी के लेखक-सहयोगियों ने लिखी थीं। पंतजी के विषय में जिनका लेखन मैंने पढ़ा उनमें सर्वश्री नगेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शचीरानी गुर्टू, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवरसिंह, अरविन्द, विश्वंभर 'मानव' और कई अन्य लेखक सम्मिलित थे। पंतजी ने अपने और अपनी साधना के बारे में स्वयं जो कुछ लिखा था, वह सब भी मैंने पढ़ा। इसमें 'पल्लव', 'युगवाणी', 'उत्तरा', 'चिदंबरा' आदि संग्रहों की भूमिकाएँ और 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' नामक पुस्तक समाविष्ट हैं।

पंतजी और उनकी कविता के संबंध में मैंने लगभग दस लेख लिखे, जो सन् १९५६ से लेकर आज तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा काव्य-संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं। सन् १९६५ में मैंने साहित्य के डॉक्टर की उपाधि के लिए 'आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा एवं नवीनता' शीर्षक प्रबन्ध प्रस्तुत किया जिसमें पंतजी की साधना के विश्लेषण को लगभग ४०० पृष्ठ दिए गए थे। उसी वर्ष मास्को के 'विज्ञान' नामक प्रकाशन ने 'आधुनिक हिन्दी कविता' नामक मेरी पुस्तक प्रकाशित की जिसका अधिकांश भाग पंतजी की काव्य-साधना केही विषय में है। १९६७ में इस पुस्तक और भारतीय साहित्य सम्बन्धी मेरी अन्य रचनाओं के आधार पर मुझे नेहरू पुरस्कार दिया गया।

मेरी दृष्टि में यह पुस्तक पंतजी की साधना के विषय में मेरे द्वारा किए गए अनुसंधान कार्य का महत्त्वपूर्ण चरण और कुल जोड़ ही है।

सन् १९६६ की नवम्बर में जब मैं भारत गया था उस समय 'राजकमल प्रकाशन' के संचालकों और विशेषकर श्रीमती शीला संधू तथा नामवरसिंह ने मेरे सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि मेरी उक्त पुस्तक का पंतजी की साधना के विश्लेषण से संबंधित भाग 'राजकमल प्रकाशन' द्वारा हिन्दी में प्रकाशित किया जाए।

मेरे एक पुराने मित्र श्री यशवंत ने सीधे रूसी से मेरी पुस्तक का अनुवाद करना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। श्री यशवंत उमराणीकर कई वर्ष मास्को में रह चुके थे और अध्यापन कार्य में मेरे सहयोगी रह चुके थे।

सुमित्रानंदन पंत विषयक अपनी इस पुस्तक को मैं अपने अन्य समस्त कार्य की ही तरह एक विशाल एवं अति महत्त्वपूर्ण कार्य का एक अंग मानता हूँ—यह कार्य है सोवियत संघ और भारत की जनता के बीच की मैत्री, पारस्परिक समझ-बूझ एवं सांस्कृतिक संबंधों को घनिष्ठतर बनाना। मैंने अपना समूचा जीवन इसी कार्य को समर्पित किया है।

—ई० चेलिशेव

श्री सुमित्रानंदन पंत
का
काव्य

आमुख

तप रे मधुर-मधुर मन
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल
जग-जीवन की ज्वाला में गल
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल
अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन ।[1]

—'गुंजन'

श्री सुमित्रानंदन पंत की काव्य-साधना आधुनिक हिन्दी कविता के एक पूरे युग का प्रतिनिधित्व करती है। जन-मानस में महान् मानवीय आदर्श जाग्रत करते हुए, सुन्दरतर भविष्य के विषय में उज्ज्वल स्वप्न सजाते हुए, और उसके सम्मुख प्रकृति एवं मानवीय आत्मा का सौंदर्य उद्घाटित करते हुए पंतजी का स्वर पिछले पैंतालीस वर्षों से भारत भर में गूंज रहा है। वर्तमान भारत में उनकी रचनाओं को वड़ी लोकप्रियता प्राप्त है और स्वयं कवि को महान् सम्मान एवं प्रतिष्ठा।

१. सुमित्रानंदन पंत, संकलित कविताएँ, मास्को, १९५९।

२० मई १९६० के दिन दिल्ली में कवि की हीरक-जयंती विशाल स्तर पर मनाई गई। भारत की एक साहित्य संस्था की ओर से पंतजी को ग्यारह भारतीय भाषाओं में अनूदित उनकी रचनाओं का एक संग्रह समर्पित किया गया, जो हीरक-जयन्ती-पर्व के अवसर पर विशेष रूप से प्रकाशित किया गया था। समारोह में पढ़-सुनाए गए अनेकानेक अभिनन्दन-पत्रों एवं स्वागत-संदेशों में सोवियत लेखक संघ तथा सोवियत विदेश-मैत्री समाजों के संघ द्वारा भेजी गई बधाइयों का भी समावेश था। सोवियत संघ में हाल ही में प्रकाशित 'सुमित्रानन्दन पंत—संकलित कविताएँ' शीर्षक एक कविता-संग्रह भी उक्त बधाइयों के साथ-साथ कवि को भेंट किया गया। उस संध्या को पन्तजी ने कहा था: "मुझे इस बात पर बड़ा हर्ष होता है कि भारत की सीमाओं के उस पार जिन देशों में मेरी रचनाओं का परिचय हो रहा है, उनमें सोवियत संघ सर्व-प्रथम है।"[1] पंतजी की हीरक-जयंती से सम्बन्धित टिप्पणियों में भारतीय समाचार-पत्रों ने यों लिखा था: "रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पश्चात् भारत को आज तक किसी अन्य आधुनिक भारतीय साहित्यिक की हीरक-जयंती का इतना धूमधाम भरा समारोह और किसी साहित्यिक के प्रति समूची जनता के हार्दिक प्रेम की इतनी व्यापक अभिव्यक्ति देखने का अवसर नहीं मिला था।"[2] १९६५ में पंतजी को उनके 'लोकायतन' काव्य के लिए 'सोवियत लैंड' का नेहरू-पुरस्कार प्रदान किया गया। इस काव्य में उन्होंने अखिल विश्व के समस्त देशों की जनता के बीच स्थायी शान्ति एवं बंधुत्व की स्थापना का प्रयास किया है। आधुनिक भारत में पंतजी की कविता का स्थान कितना ऊँचा है, इसका समुचित मूल्यांकन करना कठिन है। पंतजी की काव्य-साधना के क्रमिक विकास में बहुत सीमा तक आधुनिक हिन्दी कविता के और सबसे पहले, उसमें श्रेष्ठ पद पाने वाली छायावादी धारा के विकास का जटिल एवं विरोधाभासात्मक पथ प्रतिबिंबित होता है। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के शब्दों में "हिन्दी में छायावाद का आन्दोलन जब पूरे उभार पर था, उस समय हिन्दी वालों के सबसे प्रिय कवि पंतजी थे, क्योंकि जो लक्षण द्विवेदी-युगीन काव्य से छायावादी काव्य को अलग करने वाले थे, उनका सबसे अधिक विकास उन्हीं की कविताओं में दिखाई देता था।"[3] दूसरे शब्दों में, इन्हीं लक्षणों के कारण, उद्बोधन-युगीन कविता की अंगभूत शुष्कता एवं उपदेशात्मकता पर विजय पाना और उसमें तत्त्वतः नये गुणों को विकसित करना संभव हो सका। ये नये गुण थे—गहरी गीतात्मकता, मानवीय भावों एवं अनुभूतियों के वर्णन में

---

१. 'हिन्दुस्तान टाइम्स', २१-५-१९६०।

२. वही।

३. रामधारी सिंह 'दिनकर', पंडित सुमित्रानंदन पंत, श्री 'सुमित्रानंदन पंत, स्मृति-चित्र' नामक पुस्तक में, दिल्ली, १९६०, पृ० १२९।

प्रांजलता, सच्चे अर्थ में काव्य-रूप की कलात्मकता और मानवता के प्रति विशेष आकर्षण।

इस प्रकार पंतजी की कविता समूची आधुनिक हिन्दी साहित्य माला की एक प्रधान कड़ी रही है। उसका विश्लेषण किए बिना इस साहित्य के विकास के सर्वांगीण चित्र की कल्पना करना, उसके विकास की मूलगामी प्रवृत्तियों एवं नियमों को समझ पाना और उसकी समग्र वैचारिकता तथा सौंदर्यात्मक मौलिकता को हृदयंगम कर लेना असंभव है।

१

साहित्य-साधना का श्रीगणेश

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि
तूने कैसे पहचाना
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

—'प्रथम रश्मि'

हिमालय की प्रकृति-रमणीय अधित्यका में अल्मोड़ा नगर से पच्चीस मील की दूरी पर कौसानी नामक एक नन्हा-सा ग्राम बसा हुआ है। इस प्रदेश की सौंदर्यस्थली को यदाकदा भारतीय स्विट्ज़रलैण्ड के नाम से पुकारा जाता है। उक्त कौसानी ग्राम में २० मई, १६०० के दिन एक जमींदार के परिवार में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म हुआ। इस भावी कवि के पिता श्री गंगादत्त पंत एक सुशिक्षित व्यक्ति थे। उनका पालन-पोषण प्राचीन हिन्दू परंपरा के वातावरण में हुआ था। अपने सात बच्चों की शिक्षा-दीक्षा में वह पर्याप्त समय लगाते थे। सुमित्रा-नंदन इन बच्चों में सबसे छोटे थे। प्रसव के समय ही सुमित्रानंदन की माता सरस्वती देवी का देहान्त हुआ और बच्चे का पालन-पोषण पूर्णतया उसकी दादी को सौंप दिया गया। पंतजी ने लिखा है : "आँखें मूँदकर जब अपने किशोर जीवन की छायावीथी में प्रवेश करता हूँ, तो पहाड़ी का घर···छोटा-सा आँगन पलकों में नाचने लगता है···चबूतरे पर बैठा मैं पढ़ता हूँ और···गोरी बूढ़ी दादी की गोद में सिर रखकर, साँझ के समय, दन्तकथाएँ और देवी-देवताओं की आरती के गीत सुनता हूँ। बड़ी परिहासप्रिय है मेरी दादी। उनकी क्षीण, दंतहीन कंठ-ध्वनि···

पहाड़ी झुटपुटे में अब भी···गूँज रही है।"[१] पुश्किन की दाई या गोर्की की दादी के समान सबसे पहले पंतजी की दादी ने ही इस संवेदनशील बालक के सम्मुख लोककथाओं, दन्तकथाओं एवं पौराणिक कथाओं का वह ऐन्द्रजालिक संसार उद्घाटित कर दिया, जिसकी सृष्टि अतिसमृद्ध लोक-कल्पना ने की थी। राम-लक्ष्मण, कृष्णार्जुन तथा अन्य अनेक देवी-देवताओं एवं वीर-नायकों के आदर्शों, उनके पराक्रमों तथा जन-कल्याण के हेतु उनके द्वारा किए गए महान् संग्रामों और अद्भुत रमणीय काव्यपूर्ण आख्यानोपाख्यानों ने बालक पंत की कल्पना-शक्ति पर प्रभाव डाला, उसकी चेतना में भारतीय जनता की अतिसमृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति जीवंत रुचि को जाग्रत कर दिया। भावी कवि के लिए ग्रन्थ बचपन से ही चिर-सहचर और संगी-साथी बन गए।

परन्तु जन्मभूमि की अतिमनोहारिणी प्रकृति ने बालक की कल्पना-शक्ति पर जो प्रभाव डाला, वह और किसी भी प्रकार से संभव न था। स्वयं पन्तजी ने लिखा है : "मेरे प्रबुद्ध होने से पहले ही प्राकृतिक सौन्दर्य की मौन रहस्यभरी अनेकानेक मोहक तहें, अनजाने ही एक के ऊपर एक अपने अनन्त वैचित्र्य में, मेरे मन के भीतर जमा होती गईं।" जन्मभूमि के अनूठे प्राकृतिक सौन्दर्य की स्मृतियाँ युवक कवि ने 'आत्मिका' (१९१८) शीर्षक रचना में इन शब्दों में अंकित कर दी हैं :

हिमगिरि प्रान्तर था दिग् हर्षित, प्रकृति क्रोड़ ऋतु शोभा कल्पित,
गंध गुँथी रेशमी वायु थी, मुक्त नील गिरि पंखों पर स्थित !
आरोही हिमगिरि चरणों पर रहा ग्राम वह मरकत मणि कण,
श्रद्धानत, आरोहण के प्रति मुग्ध प्रकृति का आत्मसमर्पण !

पंतजी ने जन्मभूमि के विषय में लिखते समय कहा है कि "मेरी माँ की मृत्यु मेरे जन्म के छः-सात घण्टे के भीतर ही हो गई थी, पर कौसानी की गोद मुझे माँ की गोद से भी अधिक प्यारी रही है।"[२] उपरोक्त 'आत्मिका' शीर्षक कविता में निम्नलिखित पंक्तियाँ आती हैं :

प्रकृति क्रोड़ में छिप, क्रीड़ाप्रिय, तृण तरु की बातें सुनता मन,
विहगों के पंखों पर करता पार नीलिमा के छाया वन।
रंगों के छींटों के नवदल गिरि क्षितिजों को रखते चित्रित,
नव मधु की फूलों की देही मुझे गोद भरती सुख विस्मृत !
कोयल आ, गाती, मेरा मन जाने कब उड़ जाता बन में,
षड् ऋतुओं की सुषमा अपलक तिरती रहती उर दर्पण में—
ऋषियों की एकाग्र भूमि में मैं किशोर रह सका न चंचल
उच्च प्रेरणाओं से अविरत आन्दोलित रहता अंतस्तल !

१. श्री सुमित्रानंदन पंत, 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', दिल्ली, १९६० पृ० १०।
२. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० १४।

पहाड़ी झरनों-सोतों की तेज दौड़, जल-प्रपातों की ध्वनि, पर्वतीय चरागाहों की रंगविरंगी मनोहारिणी क्रीड़ा और आँखों को चौंधियाने वाले दूरस्थ रजत हिम-शिखरों के श्रवण-दर्शन से प्रभावित भावी कवि बचपन से ही अजरामर प्रकृति-सौन्दर्य के रहस्यों को समझने-बूझने और उनका उद्‌घाटन करने में प्रयत्नशील रहा।

ग्रन्थ-पठन और प्रकृति की चिर सन्निधि के कारण पंतजी बचपन से ही एकांतवास के अभ्यस्त हो गए। उन्होंने लिखा है कि "मैं एकांतप्रिय और आत्मस्थ हो गया।"[1] हाथ में प्रिय पुस्तक को लिए हुए वह दिनों-दिन कौसानी के चतुर्दिक् स्थित पहाड़ियों एवं घाटियों में घूमते रहते और प्राकृतिक सौंदर्य के नये-नये रूपों के दर्शन करते। 'कूर्मांचल' शीर्षक कविता में वह लिखते हैं :

छुटपन से विचरा हूँ मैं इन धूप-छाँह शिखरों पर
दूर, क्षितिज पर हिल्लोलित-सी दृश्यपटी पर निःस्वर
हल्की गहरी छायाओं के रेखांकित से पर्वत
नील, बैंगनी, रक्त, पीत, हरिताभ वर्ण श्री छहरा
मोहित अन्तर में भर देते आदिम विस्मय गहरा,
अन्तरिक्ष विस्फारित नयनों को अपलक रख तद्वत्।

शैशव से ही साथ देने वाले इस चतुर्दिक् सौंदर्य ने भावी कवि की प्रतिभा के विकास को प्रभावित किया, यह स्वाभाविक ही था।

पिता के घर का वातावरण भी साहित्य एवं कला के प्रति पंतजी की प्रारम्भिक रुचि को जाग्रत कराने में सहायक रहा। भावी कवि अपने बड़े भाई के ग्रंथ-संग्रह में उपलब्ध ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ते न अघाता। पंतजी के यह भाई बड़े ही प्रतिभाशाली थे।

पिता के घर में बराबर लोगों का ताँता बँधा रहता। अनेकानेक सगे-संबंधी और इष्ट-मित्र, साहित्यिक और संगीतज्ञ, विद्वान और धर्म-सेवक महीनों-महीने आतिथ्यशील एवं उदारचेता गंगादत्त पंत के यहाँ डेरा डाले रहते। घर में समय-समय पर विविध तीज-त्यौहार मनाए जाते। इन अवसरों पर पारिवारिक साहित्य-संगीत सभाओं, लोकनृत्यों, गीतपाठों आदि का आयोजन किया जाता। पंतजी के बड़े भाई कालिदास विरचित 'मेघदूत' एवं 'शाकुन्तल' का पाठ करते और स्वरचित कविताएँ भी सुनाते। पंतजी के पिता बड़े ही धार्मिक व्यक्ति थे। उनके घर में 'भगवद्‌गीता' तथा 'रामायण' का पाठ नित्यप्रति हुआ करता था। घरेलू उत्सव-त्यौहारों के दिन कौसानी-निवासी और आसपास के पहाड़ी युवक-युवतियाँ आकर समूहगीत, नाच-गान, खेलकूद आदि प्रस्तुत करते। पंतजी ने लिखा है : "कौसानी में पिताजी के घर के वातावरण में भी मुझे···एक संगति तथा लय मिलती रही है जिसने, सम्भवतः, मेरे भीतर उन संस्कारों का पोषण किया

१. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० १२।

जो आगे चलकर मेरे कवि-जीवन में सहायक हुए।"[१]

प्रायः ग्यारह वर्ष की उम्र तक पंतजी की पढ़ाई ग्राम्य प्राथमिक पाठशाला में हुई। इसके उपरान्त पिता ने उन्हें आगे की शिक्षा के लिए अल्मोड़ा भेज दिया। हृदय-प्रिय ग्राम्य-जीवन के वियोग को निभाना बालक पंत को बहुत कठिन अनुभव हुआ। वह लिखते हैं : "कौसानी मेरे लिए स्वप्नों की रजत-हरित झील-सी थी, जिससे अलग होकर मेरे प्राण बालू में मछली की तरह छटपटाते रहते थे।"[२] वह बड़ी उत्सुकता से जाड़ों की लम्बी छुट्टियों की प्रतीक्षा में रहते और उनके आरम्भ होते ही "पिंजरे से विमुक्त पंछी की भाँति गाँव की ओर झपट पड़ते।"

शैशव के पीछे यौवन का आगमन हुआ—पंतजी के जीवन में उनकी रुचियों तथा मनोविन्यासों का उदय होने लगा। धीरे-धीरे वह नागरिक जीवन के अभ्यस्त होते गए। युवक पंतजी की रुचियों का क्षेत्र विस्तृत होता गया। वह लिखते हैं : "सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव अल्मोड़े में मेरे मन में पहले-पहल श्री स्वामी सत्यदेव के विचारों तथा भाषणों का पड़ा, जो सप्ताह में दो-एक बार अवश्य ही सुनने को मिल जाते थे।"[३] धार्मिक उद्‌वोधन संस्था 'आर्यसमाज' के मातृभूमि के पुनरुत्थान संबंधी विचार युवक पंत को बेचैन कर देते और उनकी संवेदनशील आत्मा में उनकी प्रतिध्वनियाँ उठतीं। अल्मोड़े में 'आर्यसमाज' द्वारा संचालित सार्वजनिक ग्रंथालय में नियमित रूप से वह जाते रहे।

अल्मोड़े में पंतजी ने अपनी साहियित्क शक्ति को प्रयोगान्वित करना आरम्भ किया। उनके शब्दों में "कौसानी में मेरे मन में साहित्य-प्रेम के बीज पड़ ही चुके थे, अल्मोड़ा आकर वे पुष्पित-पल्लवित होने लगे।"[४] सन् १९१२ में जाड़ों की लम्बी छुट्टियों में उन्होंने 'हार' नामक एक खिलौना उपन्यास लिख डाला। इसका शीर्षक दो अर्थ रखता है—'पराजय' और 'पुष्पमाला'। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के उभार के पूर्व का अर्थात् वर्तमान शती के दूसरे दशक का यह समय था।

'हार' शीर्षक उपन्यास में, जो कि पंतजी की प्रथम और युवकोचित अपक्व कृति थी, उनके तत्कालीन विचारों, मनःस्थितियों एवं मानव-जीवन का अर्थ समझ लेने की दिशा में उनकी प्रयत्नशीलता का प्रतिबिम्ब अंकित हुआ है। भाग्यहीन तथा पीड़ित जनता की निष्कपट, निःस्वार्थ सेवा-सहायता से महत्तर एवं सुन्दरतर और कुछ नहीं है—पंतजी की उक्त रचना का यही प्रधान स्वर है। उपन्यास का नायक असफल प्रेम की व्यथा अनुभव कर और जीवन के स्वप्न को

---

१. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० १३।
२. वही, पृ० १५।
३. वही, पृ० १७।
४. वही, पृ० ७।

टूटता हुआ देखकर साधु बन जाता है। पर संसार से वह मुँह नहीं मोड़ सकता। अपने चारों ओर दुःख एवं पीड़ा का साम्राज्य देखकर वह भाग्यहीन जनता की सेवा पर अपना जीवन सर्वस्व निछावर कर देने की प्रतिज्ञा कर लेता है। दरिद्र एवं गृहहीन लोगों के लिए आश्रम चलाने और उनका दुःखभार हलका करने के प्रयत्नों में वह जीवन की सार्थकता एवं सुगमता देखता है।

पंतजी ने अपनी पहली कृति की कथावस्तु के रूप में एक साधु के जीवन को चुना, यह कोई संयोग की बात नहीं थी। अपने शैशव-काल से ही पंतजी कौसानी में उन साधु-संन्यासियों से मिला करते थे, जो उनके आतिथ्यशील पिता के यहाँ पधारते थे। इनमें हृदयपूर्वक मानव-सेवा के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति भी हुआ करते थे। अल्मोड़े में इन धर्मपरायण लोगों से मिलने-जुलने और उनके उपदेश सुनने से पंतजी के हृदय में एक विशेष प्रभाव पड़ा।

प्रायः इसी काल में पंतजी ने अपनी काव्य-शक्ति को आज़माना आरम्भ किया। पहली कविता उन्होंने अपने भाई के नाम एक पत्र के रूप में सन् १९१५ में लिखी। सगे संबंधियों से स्वीकृति और प्रशस्ति पाकर वह प्रोत्साहित हुए और उन्होंने काव्य-सृजन-क्षेत्र में अपने प्रयोग जारी रखे।

उस समय के तरुण साहित्यिक श्री श्यामाचरण दत्त पंत और इलाचन्द्र जोशी (जन्म सन् १९०२)—जो आज के एक प्रमुख गद्य-लेखक हैं—के परिचय और सान्निध्य से पंतजी की काव्य-प्रतिभा के विकास में एक बड़ी सीमा तक सहायता मिली। उक्त साहित्यिकों के संपादन में उस समय अल्मोड़े में दो हस्त-लिखित साहित्यिक पत्रिकाएँ निकलती थीं, जिनमें पंतजी की रचनाएँ प्रायः नियमित रूप से देखने को मिल सकती थीं। पंतजी की उस समय की सफलतम रचनाओं में से एक छोटी-सी कविता थी—'शोकाग्नि और अश्रुजाल' जो 'सुधाकर' नामक पत्रिका के सन् १९१७ के मई मास के अंक में प्रकाशित हुई थी। कवि के परिवर्तनशील मनोविन्यास, चारों ओर फैले हुए दुःख एवं उत्पीड़न-जनित अस्पष्ट अनुभव और निराशा एवं उदासी के भाव इस रचना में कूट-कूटकर भरे हुए हैं।

कविता का भाव इस प्रकार है :

> जो शोक अग्नि से अति ज्वाला कराल उठती
> वह अश्रु बिन्दु जल के क्यों रूप में बदलती ?
> क्या वह नहीं बताती संबंध जल-अनल में
> क्या ? वह तुम्हें जलाता औ' मैं तुम्हें डुबाता।

पर काव्य-साधना के आरम्भिक काल में, जैसा कि स्वयं पंतजी ने कहा है, सबसे बड़ा प्रभाव उन पर भारत में उस समय प्रसिद्ध हिन्दी कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त (१८८६-१९६४) तथा श्री हरिऔध (१८६५-१९४७) और बँगला गद्य-लेखक श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की रचनाओं का पड़ा।

स्वतंत्र काव्य-सृजन के क्षेत्र में अपने प्रथम पदन्यास के साथ ही पंतजी अपने चारों ओर स्थित सृष्टि का अर्थ लगाने में प्रयत्नशील रहे और अपनी भावनाओं एवं मनोविन्यासों की अभिव्यक्ति के लिए नए-नए मार्ग खोजते रहे। उन्हें उन परंपरागत प्रतीकों, विषयों तथा काव्य-रूपों से संतोष नहीं मिल सका, जो उद्बोधन-युगीन साहित्य के अंग बने हुए थे। यद्यपि पंतजी के प्राथमिक पदन्यासों में एक नौसिखुए की-सी संकोचशीलता थी, तथापि उनकी काव्य-सर्जना के विकास के कुल क्रम में ये पदन्यास पर्याप्त मात्रा में निर्देशक-रूप रहे।

सन् १९१६ में स्थानीय समाचारपत्र 'अल्मोड़ा' में पन्तजी की दो लघु कविताएँ प्रकाशित हुईं। ये थीं 'तम्बाकू का धुँआँ' और 'कागज़ के फूल'। इनमें से पहली कविता में सच्चे स्वतंत्रता-सुख के विषय में पंतजी के युवकोचित स्वप्न रूपकात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुए हैं—तम्बाकू के हलके, पारदर्शी धुएँ को कोई नहीं रोक-टोक सकता—न कसकर उसका कश लगाने वाले लोग और न कमरे की दीवारें ही; वह तो अप्रतिहत रूप से स्वाधीनता-पथ को ढूँढ़ता रहता है, खुले वायुमंडल में झपट पड़ता है और अनंत नील गगन में विलीन हो जाता है।

जहाँ तक 'कागज़ के फूल' शीर्षक रचना का प्रश्न है, स्वयं कवि ने ही आगे चलकर उसे लिखने की इच्छा का कारण स्पष्ट कर दिया है : अपने भाई द्वारा मेले से लाये गए काग़ज़ के फूलों को देखकर उन्होंने यह कविता लिखी और अपने परिवार में पढ़ सुनाई। इस कविता की कल्पना इस प्रकार है : काग़ज़ के फूलों की सुन्दरता खोटी होती है, वह लोगों को धोखा देती है और निराश कर देती है, क्योंकि लोग तो स्वभाव से ही जीवन एवं सच्ची सुन्दरता के प्रति उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार सुमन-सुधा के प्रति मधुमक्षिकाएँ। यही कारण है कि जीवन-रस-गंधहीन, कृत्रिम सौन्दर्य मनुष्य के हृदय में कोई भाव जाग्रत नहीं कर सकता। केवल सचेतन प्रकृति का जीवन ही सुन्दर होता है और उसी के द्वारा मनुष्य को सच्चे सुख एवं आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

युवा कवि की पैनी दृष्टि और तीक्ष्ण श्रवण-शक्ति अपने चारों ओर की सृष्टि में यत्र-तत्र-सर्वत्र सौन्दर्य का अनुभव कर लेती है। पुराने गिरजे के घण्टे की लयबद्ध टकोरें सुनकर उसका हृदय नीरवता की भावना से परिपूर्ण हो जाता है और उसमें निर्द्वन्द्व सुख की सृष्टि हो जाती है। पर साथ-साथ यह घण्टा-ध्वनि हर प्रभात को उसे स्मरण दिलाती है कि "जागो, उठो, जन-कल्याण के लिए कार्यरत होने का समय आ गया है!" ('गिरजे का घंटा', १९१७)

इन प्रारम्भिक कविताओं से ही विशिष्ट स्वच्छंदतावादी शैली एवं मानवीकरण की ओर पंतजी का झुकाव दृष्टिगोचर होता है। आगे चलकर यही उनकी काव्य-शैली का व्यवच्छेदक लक्षण बन गया।

इष्ट-मित्रों एवं सगे-संबंधियों से प्रोत्साहन पाकर पंतजी ने 'गिरजे का

घण्टा शीर्षक कविता को मूल्यांकन के लिए 'जन-न्यायालय' में प्रस्तुत करने का निर्णय किया। रचना की पाण्डुलिपि उन्होंने श्री मैथिलीशरण गुप्त की सेवा में भेज दी। पंतजी के अपने शब्दों में "उन्होंने (श्री मैथिलीशरण गुप्त ने) अपने स्वभावगत सौजन्य से मुझे कुछ प्रोत्साहनात्मक शब्द लिखे।" पर जब पंतजी ने यह कविता प्रकाशनार्थ 'सरस्वती' पत्रिका को भेजी, तो पत्रिका के सम्पादक श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८) ने, जो उस समय के एक कठोर आलोचक एवं गण्यमान्य विद्वान थे, उसे अस्वीकृत कर लौटा दिया।

परन्तु इस 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापात' से पंतजी निरुत्साहित नहीं हुए। उन्होंने सन् १९१६-१८ के कालखण्ड में लिखी हुई अपनी सारी कविताएं एकत्रित कर उनके प्रकाशन की तैयारी की। पर इस कार्य में भी वह सफल न हो सके, क्योंकि छात्रावास में लगी आग में इन कविताओं की पाण्डुलिपियाँ जलकर भस्म हो गईं। फिर पंतजी को अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में से जो भी कंठस्थ थीं, वे आगे चलकर कुछ परिवर्तनों के साथ 'वीणा' (१९२७) 'गुंजन' (१९३२) शीर्षक संग्रहों में प्रकाशित हुईं।

सन् १९१७-१८ में पंतजी की रचनाएँ प्रयाग की 'मर्यादा' और मेरठ की 'ललिता' नामक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं।

काव्य-साधना-पथ पर प्रथम चरण रखने के समय से ही पंतजी को साहित्य के विषय में रूढ़िवादी दृष्टिकोण के पृष्ठपोषकों के खुले विरोध का सामना करना पड़ा। इसके प्रमुख कारण थे—पंतजी के नवाभिमुख मनोविन्यास और काव्य-सृजन के घिसे-पिटे मानकों से दूर रहने की दिशा में उनके प्रयत्न। पंतजी ने लिखा है: "अल्मोड़े में मुझे स्मरण है कुछ समवयस्क साहित्यिकों ने मेरे प्रच्छन्न विरोध में एक दल या गुट बना लिया था। मेरी अनेक आलोचनाएँ तब गुप्त नामों तथा उपनामों से हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाओं में निकलती थीं।"[1] पंतजी की संयमशीलता, संकोचशीलता, एकांतप्रियता, असाधारण वस्त्रपरिधान तथा सजधज का कई बार ग़लत मूल्यांकन किया जाता था और ये उनके घमण्ड तथा अहंमन्यता के लक्षण माने जाते थे।

सन् १९१८ में पंतजी वाराणसी चले गये। हिन्दू संस्कृति के इस प्राचीन केन्द्र का साहित्यिक एवं सामाजिक जीवन उन दिनों उत्साह से ओतप्रोत था। कहना न होगा कि इस नगर में एक वर्ष के निवासकाल का उदयोन्मुख कवि पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा।

पंतजी और उनके भाई, जो उनसे साथ ही वाराणसी चले आए थे, हिन्दू कालेज के प्राध्यापक श्री शुकदेव पांडे के घर पर रहने लगे। प्राध्यापक महोदय ने युवा कवि की साहित्यिक रुचियों को हर प्रकार से विकसित करने के प्रयत्न किये।

---

१. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० २१।

पंतजी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्रीमती सरोजिनी नायडू (१८७९-१९४९) की रचनाएँ पढ़ने में मग्न रहने लगे।

उन्होंने लिखा है : "मिसेज नायडू का शब्द-संगीत मुझे तब बहुत अच्छा लगता था···उनकी अनेक प्रकृति-सौंदर्य तथा प्रेम-संबंधी कविताएँ तब मुझे कंठाग्र थीं।"[1] वाराणसी में प्रथम बार उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि', 'राजा', 'डाकघर', 'विसर्जन' आदि रचनाएँ अंग्रेजी में अनूदित रूप में पढ़ीं। हिन्दी साहित्य के उत्तर-मध्ययुगीन (रीतिकालीन) देव, केशवदास, मतिराम, पद्माकर, सेनापति, बिहारीलाल आदि कवियों की रचनाएँ भी उन्होंने तल्लीन होकर पढ़ीं। वह लिखते हैं : "द्विवेदी-युग के कवियों की बोझिल कविताओं की तुलना में रीति-काव्य के लघु-पद-रचना माधुर्य ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया।"[2]

स्वच्छंदतावादी प्रतीक शैली और कोमल गीतात्मकता ने, जो ठाकुर तथा नायडू की रचनाओं की विशेषता रही है, पंतजी की कल्पना को बहुत ही प्रभावित किया। वह लिखते हैं : "इन कवियों से कल्पना तथा सौंदर्य के पंख लेकर मेरा मन भीतर-ही-भीतर किसी नवीन अनुभूति के भावना-लोक में उड़ जाने के अविराम प्रयत्न में जैसे व्यग्र रहता था। मुझे स्मरण है मैं अपने लम्बे कमरे में अथवा सामने की एकान्त छत पर अनमने चित्त से घूमता हुआ अपने मन की मूक एकाग्रता में कविता की उस सौन्दर्य और रहस्यभरी स्वप्नभूमि का साक्षात्कार करना चाहता था, जिसकी झाँकियाँ मुझे श्रीमती नायडू तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओं में मिलती थीं।"[3] रवीन्द्र तथा मध्ययुगीन महान् बँगला कवि चण्डीदास एवं विद्यापति की रचनाएँ मूल बँगला भाषा में पढ़ लेने की इच्छा ने पंतजी को बँगला भाषा सीखने के लिए प्रवृत्त किया। उन्होंने संस्कृत का भी अध्ययन किया और कालिदास, भवभूति आदि प्राचीन कवियों की वाणी का रसास्वादन किया।

सन् १९१९ के मार्च महीने में पंतजी ने वाराणसी में 'बालापन' तथा 'प्रथम रश्मि' शीर्षक कविताएँ लिखीं। सर्वशक्तिमान सृजनहार के प्रति एक प्रार्थना के रूप में रचित 'बालापन' के शीर्षक रचना में बीते बचपन को फिर से प्राप्त कर लेने की कवि की उत्कट अभिलाषा झलक पड़ती है। इस कविता का प्रत्येक छंद शैशव का एक जीवन्त और जगमगाता हुआ चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमें प्रकृति के भण्डार से लिये हुए प्रतीकों एवं प्रतिमाओं के रंग निखर उठते हैं। कवि प्रार्थना करता है कि करतार उसे विहग-बालिका की चहक का-सा कोमल तुतला गान लौटा दे और लौटा दे अंगों की वह कोमलता एवं सुकुमारता जो अर्ध-विकसित कुसुमदलों का स्मरण दिलाती हैं। इस प्रकार कवि शैशव के अनेक उपहारों

---

१. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० २६।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० २७।

का प्रतिवर्तन माँगता है। 'वालापन' कविता एक और विशेषता यह रखती है कि पंतजी इसमें अपने को प्रथम वार स्त्रीलिंग में पुकारते हैं, जिससे रचना की गीतात्मकता एवं भावात्मकता में चार-चाँद लग जाते हैं और कवि को कोमल भावों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में प्रकृति से सम्बद्ध स्वच्छन्दतावादी प्रतीक शैली के प्रयोग का विस्तृततर अवसर मिल जाता है। कविता की नायिका प्रार्थना करती है :

धूल भरे, घुँघराले, काले,
भय्या को प्रिय मेरे वाल,
माता के चिर चुंवित मेरे
गोरे-गोरे सस्मित गाल,
वह काँटों में उलझी साड़ी
मंजुल फूलों के गहने
सरल नीलिमामय मेरे दृग
अस्त्रहीन संकोच सने,
उसी सरलता की स्याही से
सदय, इन्हें अंकित कर दो,
मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह वालापन भर दो!

निद्रा से जाग्रत हो उठने वाली प्रकृति के सजीव एवं सुन्दर चित्र 'प्रथम रश्मि' शीर्षक रचना में भी अंकित हैं। युवा कवि को रात्रि के तम से भय अनुभव होता है, उसे लगता है कि रात्रिकालीन आसमान को निशाचर असुरों की अस्पष्ट परछाइयाँ व्याप्त की जा रही हैं और चन्द्रमा अपना मुख घनावरण में छिपा लेता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार निशि-श्रम से श्रांत युवती अपना म्लान वदन अंचल से ढँक लेती है। सारा संसार जैसे जम गया है, उसमें सचेतन एवं अचेतन दोनों ढलकर एकाकार हो गए हैं—और सुनाई देते हैं केवल निद्रा के बोझिल श्वासोच्छ्वास।

पर इधर ऊषा का आगमन होता है और सूर्य की प्रथम रश्मि के साथ-साथ धरती पर जैसे देवी-देवता उतर आते हैं। पुष्पों के अर्धस्फुट अधरों को चूमकर वे उन्हें स्मित के पाठ पढ़ाते हैं। सबसे पहले जाग उठते हैं विहग-शिशु। अपनी आनन्दमयी चहक और मोह-भरे गीतों के साथ वे नवोदित दिवस का स्वागत करते हैं। उनके स्वरों से मंत्र-मुग्ध-सा होकर कवि पूछ बैठता है :

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि,
तूने कैसे पहचाना?

कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया यह स्वर्गिक गाना ? (२-७३)

निद्रा से जाग्रत हो रही प्रकृति, ऊषा एवं नए दिन के जन्म की जो प्रतिमाएँ इस कविता में अंकित हैं, वे पर्याप्त मात्रा में स्पष्टता तथा विशिष्टता के साथ भले ही न हों, पर किसी एक सीमा तक अवश्य ही नए, वास्तविक जीवन के विषय में कवि के स्वप्नों का संकेत देती हैं :

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
खिली सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पंदन, कंपन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना।

वाराणसी में कवि के परिचितों का मण्डल बहुत-कुछ विस्तृत हुआ। वह समय-समय पर विविध साहित्यिक तथा सामाजिक संस्थाओं की सभा-गोष्ठियों में उपस्थित रहने लगे। एक प्रसंग ने उनके मन में विशेष प्रभाव डाला। कवीन्द्र रवीन्द्र वाराणसी पधारे थे। उन्होंने थियासाफिकल सोसाइटी में आयोजित एक छात्र-सभा में अपना 'शरदोत्सव' शीर्षक नाटक पढ़ सुनाया। पंतजी बड़े ही मुग्ध होकर रवीन्द्र का मधुर स्वर सुनते रहे और उनके मुखमण्डल को निहारते रहे—वह हमारे युवक कवि के स्वप्न-मंदिर की मूर्ति जो थे। बचपन से ही पंतजी की तीव्र इच्छा थी कि स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्र के समान बन जाएँ।

"रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व का प्रभाव तो मन में पड़ा ही, काले चोगे में उनकी लम्बी गौरवपूर्ण आकृति, बड़ी-बड़ी आँखें, सुनहली कमानी का चश्मा, सुन्दर लम्बी दाढ़ी, सिर पर ऊँची मखमली टोपी सब-कुछ बड़े आकर्षक तथा अद्भुत प्रतीत हुए। पर इससे भी अधिक प्रभाव मेरे मन में उन भाषणों का पड़ा, जो उस अवसर पर उनकी प्रतिभा, प्रसिद्धि तथा विद्वत्ता के बारे में इधर-उधर सुनने को मिले थे। कवि इतना महान् व्यक्ति हो सकता है और उसे विश्व में इतना बड़ा सम्मान मिल सकता है, इन बातों से कवि-कर्म के प्रति मन में अधिक महान् धारणा एवं गंभीर आस्था पैदा हुई। उनकी पुस्तकों से भी अधिक तब उनकी कीर्ति तथा व्यक्तित्व की गरिमा ने मेरे भीतर कविता के प्रति अनुराग के मूलों को सींचकर दृढ़ बनाया।[1]

वाराणसी में पंतजी ने प्रथम बार युवकों की काव्य प्रतियोगिता में भाग लिया। यह प्रतियोगिता हिन्दू विश्वविद्यालय में आयोजित हुई थी। प्रतियोगिता के लिए विषय दिया गया था—'हिन्दू विश्वविद्यालय।' संभवतः दो घंटे का समय और कम-से-कम बीस पंक्तियाँ लिखने का आदेश था। प्रतियोगिता में पंतजी की रचना सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुई और 'जय-नारायण हाईस्कूल' में चाँदी का कप गया।

१. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० २६।

सन् १९१९ में माध्यमिक पाठशाला की परीक्षा देकर पंतजी अपने हृदयप्रिय कौसानी ग्राम को लौट आए। यहाँ छुट्टियों के काल में उन्होंने कई कविताओं की रचना की। ये कविताएँ आगे चलकर (सन् १९२७ में) 'वीणा' शीर्षक संग्रह में प्रकाशित हुईं। कौसानी के इस निवास-काल में पंतजी ने 'ग्रंथि' नामक एक प्रगीत-मुक्तक की भी रचना की। इन रचनाओं में हमें कवि के उन भावों एवं मनोविन्यासों की प्रतिध्वनियाँ सुनाई देती हैं, जिनका उद्भव एवं विकास उनके वाराणसी के निवास-काल में हुआ था। पंतजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि " 'वीणा' में संगृहीत रचनाओं में संभवतः रवीन्द्र के भावलोक की अस्पष्ट छाया हो···जबकि 'ग्रंथि' की शैली में संभवतः हिन्दी रीतिकाव्य तथा संस्कृत कवियों की शब्द-योजना का आभास हो।"[1]

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि पंत-काव्य के कुछ अन्वेषक बहुत बार उन विभिन्न प्रभावों पर अत्यधिक बल देते हैं, जो उनके मतानुसार पंतजी की काव्य-साधना के विकास का स्वरूप-निर्धारण करते हैं। परन्तु पंतजी के काव्य-साधना-पथ के प्रारंभिक चरणों अर्थात् उनके अध्ययन-काल के वर्षों तक में ये प्रभाव न उतने निर्णयकारी थे और न निःसंदिग्ध ही। इस संदर्भ में स्वयं पंतजी के शब्दों का उल्लेख करना अनुचित न होगा : "अब मैं निष्पक्ष दृष्टि से कह सकता हूँ कि मेरे उपर्युक्त अध्ययन के प्रभाव के अतिरिक्त भी 'वीणा', 'ग्रंथि' आदि रचनाओं में और भी बहुत-कुछ मिलता है, और पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जो केवल मेरा अपना है।"[2]

सन् १९१९ की जुलाई में पंतजी पहली बार प्रयाग आए। इस नगर ने पंतजी के जीवन में संभवतः वही भूमिका प्रस्तुत की है, जो गोर्की के जीवन में नीज्नी नोवगोरोद ने। पंतजी को यह नगर बड़ा ही प्रिय रहा। उन्हीं के शब्दों में वह उनके लिए अपना घर या गृह-नगर और कौसानी के बाद सबसे हृदयप्रिय स्थान बन गया। यहीं पहली बार भारतीय जनता का जीवन अपने सच्चे रूप में उनके सम्मुख प्रकट हुआ। यहीं उन्होंने देखा कि भारत के अतीत और वर्तमान जैसे घुल-मिलकर एकाकार हो गए हैं। उनके सम्मुख सहस्रों वर्ष पुराना भारत खड़ा हो गया। अज्ञात काल से देश के कोने से पवित्र प्रयाग पहुँचनेवाले लाखों यात्रियों का अनवरत प्रवाह उन्होंने देखा। धार्मिक जनता के मन में 'प्रयाग' का नाम शताब्दियों से बना हुआ है और साथ-साथ गंगा-यमुना के पावन जल की अद्भुत शक्ति के विषय में कट्टर विश्वास भी। इन्हीं नदियों के तटवर्ती टीलेदार प्रकृति रमणीय समतल पर प्रयाग नगर बसा हुआ है। संवेदनशील युवक, गंगा-तट पर एकत्रित सहस्र-सहस्र यात्रियों के कंठों से घंटों प्रार्थनाएँ एवं स्तोत्रादि सुनता

१. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० २८।
२. वही, पृ० २८।

रहता और देखता रहता गंगा-स्नान करते हुए यात्रियों के समूह-के-समूह। फिर वह अध्ययन के लिए जल्दी-जल्दी कालेज चला जाता। कालेज में वह दर्शन एवं इतिहास के विषय में व्याख्यान सुनता, संस्कृत एवं अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करता और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ा करता। उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं में उपनिवेशवादी दमनचक्र, अत्याचार और भारतीय जनता की अधिकारहीनता के विरुद्ध निषेध का स्वर अधिकाधिक वल तथा निश्चय के साथ गूँज रहा था।

प्रयाग में कालेज के अध्ययन-काल के विषय में पंतजी लिखते हैं :

"प्रयाग आने के पश्चात् मेरे संस्कृत साहित्य के ज्ञान में अधिक अभिवृद्धि हुई। कालिदास की कविताओं का मुझ पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। कालिदास की उपमाओं में तो एक विशिष्टता तथा पूर्णता मिली ही, उसकी सौंदर्य-दृष्टि ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। कालिदास के सौंदर्यबोध की चिर-नवीनता को मैं अपनी कल्पना का अंग वनाने के लिए लालायित हो उठा। उन्नीसवीं शती के कवियों में कीट्स, शैली, वर्ड्सवर्थ तथा टैनिसन ने मुझे गंभीर रूप से आकृष्ट किया। कीट्स के शिल्प-वैचित्र्य, शैली की सशक्त कल्पना, वर्ड्सवर्थ के प्रांजल प्रकृति-प्रेम, कालरिज की असाधारणता तथा टैनिसन के ध्वनिवोध ने मेरे कविता संवंधी रूप-विधान के ज्ञान को अधिक पुष्ट, व्यापक तथा सूक्ष्म वनाया। इन कवियों की विशेषताओं को हिन्दी काव्य में उतारने के लिए मेरा कलाकार भीतर-ही-भीतर प्रयत्न करता रहा।[१]

प्रयाग उन दिनों भारतीय साहित्यिक जीवन का एक प्रधान केंद्र वना हुआ था। युवक कवि पंतजी यहाँ साहित्यिकों की सभा-गोष्ठियों में उपस्थित रहते और नगर के प्रतिष्ठित साहित्यिकों के भाषण एवं कविताएँ सुनते। सन् १९१९ के नवम्बर मास में पंतजी ने प्रथम वार कवि-सम्मेलन में भाग लिया। सम्मेलन में एकत्रित कवियों को कविता के लिए जो विषय दिया गया था, वह था—'स्वप्न'। इस विषय पर पंतजी की लिखी कविता का श्रोताओं पर वड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। 'सरस्वती' पत्रिका के दिसम्बर मास के अंक में यह 'स्वप्न' शीर्षक कविता प्रकाशित हुई। 'सरस्वती' में कविता के प्रकाशित होने का अर्थ यह था कि भारत के प्रमुख कवियों में हमारे कवि की गणना होने लगी।

कुछ मासों के पश्चात् प्रयाग में एक और वड़ा कवि-सम्मेलन हुआ, जिसमें पंतजी ने अपनी 'छाया' शीर्षक कविता प्रस्तुत की। हिन्दी के वयोवृद्ध कवि श्री हरिऔध ने सम्मेलन का सभापतित्व किया था। सम्मान्य अतिथि और श्रेष्ठ कवि के नाते उनके गले में भारतीय परंपरा के अनुसार फूलों का गजरा डाला गया था। पंतजी लिखते हैं : "मेरा कविता-पाठ सुनकर श्री हरिऔधजी अपनी सहृदयता के कारण इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बीच ही में उठकर अपने गले से

१. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० ३२-३३।

लम्बा फूलों का गजरा उतारकर मेरे गले में डाल दिया। श्रोताओं ने करतलध्वनि से उसका समर्थन कर मुझे उत्साहित किया था। उन दिनों की ऐसी अनेक घटनाएँ मन में अपनी कृतियों के प्रति आत्मविश्वास जगाकर मुझे आशा और वल प्रदान करती रहीं।"[1]

सन् १९१९-१९२२ में भारत भर में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम की लहर दौड़ पड़ी। सन् १९१९ की वसंत में अमृतसर में अंग्रेज़ उपनिवेशवादियों की गोलियों की बौछार हुई, शांतिपूर्ण प्रदर्शन में भाग लेने वाले कई देशभक्तों के लहू से भारत की भूमि रक्तरंजित हो उठी। सारा देश आंदोलन की रौ में आ गया। राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष में दिन-प्रति-दिन विशाल जनसमुदाय सक्रिय रूप से सम्मिलित होते गए। भारत में उस समय गांधीजी के विचारों का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। सन् १९२० में उन्होंने असहयोग आंदोलन आरम्भ किया। इन्हीं वर्षों में अनेकानेक अग्रगामी भारतीय लेखक जनकार्य के लिए संघर्ष-पथ पर अग्रसर हुए।

अमृतसर में नि:शस्त्र प्रदर्शनकारियों पर किए गए पाशविक अत्याचारों के विरुद्ध अपना निषेध व्यक्त करने के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अंग्रेज़ों द्वारा उन्हें दी गई नाइट की उपाधि का प्रकट रूप में त्याग कर दिया और प्रेमचन्दजी ने सरकारी नौकरी छोड़ दी। देशभक्ति की भावना से प्रेरित नवयुवकों ने उपनिवेशवादी शासन की यंत्रणाओं तथा मनमानी के निषेधस्वरूप गांधीजी की पुकार पर सरकारी शिक्षालयों में पढ़ना बन्द कर दिया।

सामाजिक जीवन से एक प्रकार से दूर, प्रेरणादायी प्रकृति-जगत् में मग्न रहने वाले पंतजी जैसे कवि के लिए भी उन दिनों बढ़ती हुई तूफ़ानी घटनाओं के वातावरण से अलिप्त रहना असंभव था। सन् १९२१ में गांधीजी के आवाहन पर पंतजी ने अपने अनेक सहपाठियों के साथ कालेज छोड़ दिया।

परन्तु राजनीतिक कार्य में अपना जीवन लगाने के विचार से वह दूर ही रहे। उन्होंने लिखा है: "राजनीति के लिए मेरी कभी भी अभिरुचि नहीं रही। कालेज के बंधन से मुक्त हो जाने पर भी मैंने अपना समय पूर्ववत् अध्ययन-मनन में ही व्यतीत किया।"[2] हाँ, यह सही है कि कुछ समय तक वह अपने भाई के साथ 'इंडिपेंडेन्स' पत्र का प्रतिलेखन करते रहे। श्री मोतीलाल नेहरू द्वारा प्रकाशित यह समाचारपत्र उन दिनों अवैध घोषित कर दिया गया था।

कालेज छोड़ देने के उपरान्त पंतजी को अपना सारा समय अपने प्रिय कार्य, अर्थात् काव्य-सृजन में लगाने का अवसर मिला। सन् १९२२ में अजमेर में उनकी रचनाओं का पहला छोटा-सा संग्रह 'उच्छ्वास' प्रकाशित हुआ। तब इसकी

१. 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', पृ० ३२।
२. वही, पृ० ३६।

५०० प्रतियाँ निकली थीं। पंतजी की इस प्रथम पुस्तिका को रूढ़िप्रिय आलोचकों के कठोर प्रहार सहने पड़े थे। उसे किसी ने 'प्रेटी नानसेंस' बताया, तो किसी ने 'बीसवीं सदी का महाकाव्य!' पर श्रीधर पाठक (१८५९-१९२९) जैसे सचमुच महान् साहित्यिकों से हमारे निर्भय और नवप्रयोगकारी कवि को निरंतर प्रोत्साहन ही मिलता रहा।

२

छायावादी धारा का उद्भव एवं विकास

कल्पना के ये विह्वल बाल,
आँख के अश्रु, हृदय के हास,
वेदना के प्रदीप की ज्वाल,
प्रणय के ये मधुमास,
...आज पल्लवित हुई है डाल,
झुकेगा कल गुंजित मधुमास !
मुग्ध होंगे मधु से मधु बाल,
सुरभि से अस्थिर मरुताकाश !

—'पल्लव'

पंतजी ने अपनी आत्मकथा में अपनी उस एकांत-प्रियता के विषय में लिखा है, जो उन्हें वर्तमान शती के तृतीय दशक में विशेष तीव्रता से अनुभव हुई। सगे-सम्बन्धियों के साथ बाँध रखने वाला कोई संपर्क-सूत्र न रहा, वे सभी अपने-अपने कार्यों में और चिंताओं में व्यस्त थे। सदैव उलझन भरे स्वप्नों, अनुभूतियों तथा गम्भीर विचारों में मग्न तरुण कवि की ओर ध्यान देने के लिए किसी के पास समय ही कहाँ था ? काव्य-क्षेत्र में रखे हुए प्रथम चरणों की जो कड़ी आलोचना हुई; उसने पंतजी को और अधिक अंतर्मुख बना दिया, साहित्यिक माध्यम से दूर रहने को विवश किया और उनकी अंतर्मुखता एवं आत्मस्थता को और गंभीर बना दिया।

युवक कवि की भारान्वित मनःस्थिति भारत की तत्कालीन सामाज़िक-राजनीतिक परिस्थिति के फलस्वरूप अधिक गहन हो गई। राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम

के उतार और उपनिवेशवादी प्रतिगामी शक्तियों के दमन एवं हिंसात्मकता की बढ़ती हुई कठोरता का वह समय था। ये शक्तियाँ हर प्रकार से राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन को कुचल डालने पर उतारू थीं। विचारधारा के विषय में अदृढ़ उदार-मतवादी बुद्धिजीवी वर्ग के मध्य, जिसमें पंतजी की भी गिनती थी, इस परिस्थिति ने विकलता तथा निराशावादिता उत्पन्न कर दी।

मन में व्याकुलता और अशांति उत्पन्न करने वाले कई प्रश्नों के उत्तर न पाकर पंतजी अपने ही विचारों, संदेहों तथा अनिर्णीत प्रश्नों से उलझे रहे। वह बहुत पढ़ते रहे और विविध प्रकार का साहित्य पढ़ते रहे। न कोई उनकी रुचियों का मार्गदर्शन करने वाला था और न कोई उनके द्वारा पठित साहित्य के मर्म-ग्रहण में सहायता देने वाला ही। उन्होंने 'उपनिषद', 'गीतगोविन्द', 'रामायण', 'बाइबल,' रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि भारतीय धर्मसुधारकों, प्राचीन भारतीय विचारकों के ग्रन्थों और पश्चिम के कई लेखकों एवं विचारकों की कृतियों के पारायण-पर-पारायण किए।

कवि के जीवन में ये स्वयं-शिक्षा के वर्ष रहे, जो परिश्रम और सत्यान्वेषण से परिपूर्ण रहे। पंतजी लिखते हैं : "अपने को स्वयं शिक्षित करना कितना कठिन तथा कठोर कार्य है, इसका मुझे थोड़ा-बहुत अनुभव है।" परम्परागत प्राचीन भारतीय दार्शनिक तथा नैतिक धारणाएँ पश्चिम की आधुनिक सामाजिक विचार-धारा से टकरा गईं; काल्पनिकता तथा पौराणिकता, धर्म तथा रहस्यात्मकता का सामना बुद्धिवादी भौतिक विश्व-विचारधारा से हुआ। कवि को ये सब बातें स्वयं ही समझनी-बूझनी थीं, उनको पचाना था, एक रूप में समन्वित करना था, उनके स्वीकार-अस्वीकार का निर्णय करना था और यह सोचना था कि इनमें से किन बातों को अपनी काव्य-साधना में अपना लें। पंतजी लिखते हैं : "जिज्ञासा एवं अन्वेषण, आशा एवं संदेह तथा अक्षुण्ण एवं प्रखर अंत:संघर्ष के इस काल में मैं सर्वथा काव्यात्मकता की प्रेरणा के ही हाथों में रहा। 'पल्लव' में संगृहीत प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण कविताओं की रचना इस कालखण्ड में हुई, जो सन् १९२६ तक बना रहा।"[१]

अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'उच्छ्वास' के साथ जो बीती, उससे युवा पंतजी तनिक भी निरुत्साहित नहीं हुए। रूपविधान एवं विषय की दृष्टि से नवीनता रखने वाले इस काव्य-संग्रह की कटु आलोचना महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा राम-चन्द्र शुक्ल जैसे गण्यमान्य अधिकारी विद्वानों एवं साहित्य-मर्मज्ञों—जिनके मत पर कवि-रूप में किसी की स्वीकृति-अस्वीकृति का प्रश्न निर्भर करता था—की ओर से होने पर भी पंतजी ने साहित्य में फिर से सिर उठा रहे रूढ़िवादी, घिसे-पिटे, परम्परागत दृष्टिकोणों एवं नियमों के विरुद्ध संघर्ष करने का निर्णय किया।

१. 'पल्लव', पृ० ३९।

सन् १६२६ में 'पल्लव' शीर्षक संग्रह प्रकाशित किया गया, जिसमें 'उच्छ्वास' संग्रह में पहले की प्रकाशित कविताओं के साथ नयी कविताएँ भी शामिल हो गईं जो १६२१-१६२६ के समय में लिखी गई थीं।

सन् १६२७ में 'वीणा' शीर्षक संग्रह में प्रकाशित कविताएँ और पंतजी द्वारा जनवरी १६२० में रचित छायावादी कविता 'ग्रंथि' भी इसी काव्य-समूह में पड़ती हैं।

असाधारण भावनात्मक सघनता, प्रकृति-सौन्दर्य-बोध के विषय में तीव्र प्रभाव-ग्रहण-शीलता, ज्वलंत, अभिव्यक्तिशील भाषा—ये सब पंतजी की आरम्भ-कालीन साहित्य-साधना के विशेष पहलू रहे हैं, जिसके द्वारा उन्होंने प्रसाद और निराला के साथ हिन्दी काव्य में नई छायावादी धारा का सूत्रपात किया।

उक्त सभी रचनाओं से पंतजी की काव्य-प्रतिभा की विशेषता प्रकट हुई, उनकी नावीन्यप्रियता का विकास हुआ और साथ-साथ वे कई विरोधाभास प्रकट हुए, जो उनकी विचारधारा के अंग बने हुए थे। इसमें भारतीय जन-समाज के बौद्धिक जीवन के विकास की जटिल प्रक्रिया का, भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की विचारधारा के निर्धारण का समस्त सर्पिल पथ प्रतिबिम्बित हुआ।

पंतजी की आरम्भ की रचनाओं में गीतात्मकता का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। हिन्दी काव्य में प्रथम बार पंतजी ने ही मनुष्य के बहुविध भावों एवं अनुभूतियों को नवीन युग की वाणी दी। इसके लिए उन्होंने काव्यात्मक अभि-व्यक्ति के उन सभी माध्यमों का उपयोग किया जो भारतीय राष्ट्रीय परम्परा के अंग बने हुए थे और जो उन्होंने उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के अंग्रेज़ी स्वच्छन्दता-वादी कवियों के साहित्य-भंडार से आत्मसात् किए थे।

पंतजी के गीत-मुक्तकों में भारतीय समाज के, नये मानव के बौद्धिक जीवन के अनेक विशेष पहलू प्रतिबिम्बित हुए। उस समय यह समाज और नव-मानव मध्ययुगीन परिपाटी एवं गत्यवरोध से मुक्त हो रहा था और नए नैतिक आदर्शों की शोध में लगा हुआ था। साथ-साथ इस समाज में परिवर्तनशील मनो-विन्यासों, विचारों एवं सन्देहों का तथा आशा-निराशाओं का उदय हुआ।

पंतजी के प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों में हम उन्हें सौन्दर्य के गायक के रूप में देखते हैं। सौन्दर्य के विविध रूपों को मानवीय भावों एवं अनुभूतियों से सम्बद्ध करते हुए वह उसे सृष्टि का श्रेष्ठ गुण-विशेष मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "प्रकृति-सौन्दर्य और मानव-जीवन-सौन्दर्य ही उनके काव्य का वास्तविक विषय है।"[1] पर प्रकृति-सौन्दर्य ही कवि को सबसे अधिक आकृष्ट करता है और वह उसे दिव्य चेतना से मण्डित करते हैं। पंतजी लिखते हैं: "आरम्भकालीन रचनाओं में, जो 'वीणा' तथा 'पल्लव' में संग्रहित हैं,

१. नगेन्द्र, 'सुमित्रानंदन पन्त', पृ० १५।

अधिकतर मेरा ध्यान प्रकृति-सौन्दर्य के वर्णन पर ही केन्द्रित रहा है। मेरी यौवन-कालीन रचनाओं में प्रकृति कभी राजसी वैभव से सम्पन्न दिखाई देती है, तो कभी विजयोत्साह से परिपूर्ण। मनोहारिणी तो वह सदा ही रही है। मेरे लिए वह चिर-जीवन-संगिनी और अखंड प्रेरणा-स्रोत रही है।"[१]

पंतजी के प्रकृति-विषयक गीत-मुक्तकों में विप्लवकारी प्रकृति-रूप प्रायः न के बरावर हैं। वे उन्हें भयाकुल कर देते हैं, उनके मन में अशान्ति उत्पन्न करते हैं। कोमल, शान्त, राजसी सुन्दरता के चित्र ही उन्हें आकर्षित करते हैं और कवि के मतानुसार यह सुन्दरता सबसे पहले सार्वत्रिक सामंजस्य में तथा भड़कीले रंगों की विषमता के अभाव में ही निहित रहती है। अर्धोन्मीलित सुमन-दलों की सुकोमल सुगंध, अरुणोदय पूर्व मंद समीरण का विशुद्ध श्वास, नए दिवस का स्वागत करने वाले विहग-गणों का मधुर स्वर, उषःकाल की स्वर्ण-रश्मियाँ, सांध्य वेला की हलकी रंग-छटा—प्रकृति-रूप के ये सारे पहलू पंतजी के प्रकृति-वर्णनात्मक गीत-मुक्तकों में शान्ति, निरामयता एवं सुख का सर्वव्यापी मनोविन्यास उत्पन्न कर देते हैं।

डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं: "पंतजी की काव्य-प्रेरणा कोमल प्रकृति के मृदु स्पर्श मात्र से जाग्रत हो उठती है।" उदाहरणार्थ, कवि की 'याचना' शीर्षक रचना के निम्नांकित उद्गार देखिए:

बना मधुर मेरा जीवन !
नव-नव सुमनों से चुन-चुनकर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण
मेरे उर की मृदु कलिका में
भर दे, कर दे विकसित मन !

पंतजी के प्रकृति-विषयक गीत-मुक्तक कालिदास एवं जयदेव, विद्यापति एवं सूरदास की परंपरागत भारतीय गीत-मुक्तकात्मक रचनाओं से तत्त्वतः भिन्न हैं—सबसे पहले इसलिए कि पंतजी द्वारा अंकित प्रकृति की छवियों में मात्र वर्णन के लिए वर्णन न के बराबर है।

पंतजी के अपनी विशिष्टता लिए हुए गीत-मुक्तकों की तुलना अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी कवियों की रचनाओं से की जाती है।

पर पंतजी के गीत-मुक्तकों और शेली आदि कवियों में से किसी की रचनाओं के बीच सीधी तुलना करना उचित नहीं होगा जैसा कि कभी-कभी कुछ भारतीय साहित्य-शास्त्रियों के ग्रंथों में पाया जाता है।

पंत और शेली के सौंदर्य-आदर्शों में महत् अन्तर है। शेली की क्रान्तिकारी स्वच्छंदता पंतजी के लिए पूर्णतया अपरिचित है और अपरिचित हैं शेली के सौंदर्यादर्श एवं उसके काव्य की विप्लवशील आत्मा। पंतजी को शेली की जिस

१. ग्रंथकार को पंतजी द्वारा दि० १२-९-१९५९ को लिखे गए पत्र से।

एकमात्र विशेषता का आकर्षण है, वह है वास्तविकता के अर्थोद्घाटन की उसकी कलात्मक पद्धति। इसीलिए, पंतजी के प्रकृति-विषयक गीत-मुक्तकों के स्वरूप-निर्धारण के विषय में प्रकट किए जाने वाले कुछ वक्तव्यों के प्रति तीव्र मतभेद स्पष्ट करना न्यायसंगत होगा। उदाहरणार्थ, व० इ० बालिन का यह वक्तव्य लीजिए : "पंतजी की रचनाओं में स्वच्छंदतापूर्ण अतिशयोक्ति प्रायः विश्वव्यापी बिम्बों में और विशेषकर प्रकृति के उग्र रूपों के चित्रण में उभर आती है।"[१] वह आगे लिखते हैं : "पहले की तरह पंतजी की रचनाओं में भी अमानवीय सामाजिक परंपराओं का विरोधी विप्लवकारी भाव सहज ही उपस्थित है।"[२]

सच तो यह है कि पंतजी की प्रारम्भिक रचनाओं में से प्रगीत-नायक के चरित्र-चित्रण में वर्तमान शती के तृतीय दशक के उदारमतवादी भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के विरोधाभासपूर्ण एवं अस्थिर मनोविन्यास साधारणतया प्रतिबिम्बित हुए हैं। पर उस समय कवि का प्रगीत-नायक अपने नागरिक एवं देशविषयक कर्तव्य को अभी कहीं अस्पष्ट रूप ही में जानता था, अपने चारों ओर घटनेवाली घटनाओं का अर्थ लगाना उसके लिए कठिन था, वह उन अनेकानेक दार्शनिक, सामाजिक-राजनीतिक तथा नैतिक धारणाओं एवं विचारों को सुलझे हुए रूप में नहीं समझ पा रहा था, जो पश्चिम से भारत में आ धमके थे और परंपरागत भारतीय आदर्शवादी विचारधारा से टकरा गए थे। पंतजी का आरम्भकालीन प्रगीत-नायक विस्फारित नेत्रों से संसार को ताकता है, उसकी महानता से आश्चर्यचकित हो उठता है, आनन्दित हो जाता है, दुःख तथा आशा-निराशा का अनुभव करता है, पर निषेध का शब्द उसके मुँह से कभी नहीं निकलता और न वह दुष्टता के विरुद्ध संघर्ष ही छेड़ता है।

पंतजी के प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों की मूल विषय-वस्तु है उस युवक की अनुभूतियाँ जिसे प्रेम-भावना ने प्रथम बार व्याप्त कर दिया है। उसे चारों ओर अपनी प्रेमिका की धुँधली-सी पर प्रसन्न प्रतिमा दिखाई देती है जो उसकी दिशा में अपने अभी-अभी खिल रहे सलज्ज सौंदर्य द्वारा आकर्षित कर रही है। प्रकृति के साथ संबद्ध होकर नारी की यह प्रतिमा स्पष्ट हो जाती है और तब हमारे सम्मुख उसकी धुँधली छाया अथवा अस्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं, अपितु सजीव नारी उपस्थित हो जाती है।

कदाचित् यह प्रश्न पूछा जाएगा कि फिर इस रूप में हिन्दी काव्य-विषय को पंतजी की नई देन क्या रही ? वैसे तो उनसे पहले की काव्य-परंपरा भी प्रेम

---

१. व० इ० बालिन, 'सुमित्रानंदन पंत—स्वच्छंदतावादी एवं यथार्थतावादी'—"भारतीय इतिहास एवं भाषा-विज्ञान वैज्ञानिक लेख संग्रह, लेनिनग्राद राज्य विश्वविद्यालय", क्रम संख्या २७६, अंक ६, पृ० ४८।

२. वही, पृ० ५७।

के विषय से ओतप्रोत है जिसे उत्तरमध्यकालीन रीतिकाव्य में विशेष बढ़ावा मिला है। इसका उत्तर यह है कि पंतजी के प्रेम-विषयक गीत-मुक्तकों में और काम-वासना से कूट-कूटकर भरे हुए उस काव्य में कोई समानता नहीं है जो नारी के केवल बाह्य सौंदर्य के गीत गाता है, उसे केवल शारीरिक वासना-तृप्ति का साधन मात्र मानता है। पंतजी के काव्य की नारी कोई मदन-पीड़ा से उच्छृंखल बन मनमाना आचरण करने वाली कामिनी नहीं है जिसमें यौवन का रंगीला उन्माद ऐसे ही लहरें मारता हो, जैसा कि हिन्दी के वासनात्मक प्रेम-काव्य में नारी को सामान्यत: चित्रित किया जाता था। पंतजी के गीत-मुक्तकों में नारी-सौंदर्य का आदर्श है—"नील नलिन-सी आँखों वाली" सुकुमार, लज्जाशील युवती। जबकि रीतिकाव्य की काली-काली आँखोंवाली कामिनी के कटाक्षों से आग-सी उत्पन्न होती है, हमारा कवि अपनी नायिका के नेत्रों की अथाह नीलिमा में निमज्जित होकर किसी निराले, रहस्यमय स्वप्नलोक में प्रवेश करता है।

वस्तुत: पंतजी की कविता भारतीय समाज के बहु-प्रचलित एवं धर्म-मुद्रांकित मध्ययुगीन नैतिक सिद्धांतों को एक साहसपूर्ण चुनौती रही है।

प्रारंभिक गीत-मुक्तकों में पंतजी अपनी प्रेमिका के प्रत्यक्ष संपर्क में न आते हुए उसके विषय में केवल अपने स्वप्न सजाते हैं। विशुद्ध, उच्च प्रेम में वह श्रेष्ठ वरदान के दर्शन करते हैं। 'उच्छ्वास' की ये पंक्तियाँ देखिए :

यही तो है बचपन का हास
खिले यौवन का मधुप विलास
प्रौढ़ता का वह बुद्धि विकास,
जरा का अन्तर्नयन प्रकाश;
जन्मदिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ नि:श्वास।

'ग्रंथि' काल की प्राय: प्रत्येक रचना में नारी-सौंदर्य एवं प्रकृति-सौंदर्य का सातत्यपूर्ण संगम दिखाई देता है। प्रात:काल की प्रथम रश्मियों में कवि अपनी प्रेमिका का संकोचशील स्मित देखता है, अरुणोदय पूर्व मन्द समीरण में वह उसकी हलकी, कोमल श्वास अनुभव करता है और पर्णराजि की मर्मर एवं विहगों की चहक में उसे सुनाई देता है अपनी प्रेमिका का स्वर। पंतजी को किसी वस्तु की हलकी-सी झलक भर मिल जाए या नगण्य-सा स्पर्श भी हो जाए, वह तुरन्त प्रकृति एवं नारी का परस्पर संबंध प्रस्थापित कर देते हैं। उदाहरणार्थ—

आज गृह उपवन वन के पास
लोटता राशि राशि हिम हास
खिल उठी आँगन में अवदात
कुन्द कलियों की कोमल प्रात।

'प्रात' शब्द हिन्दी में पुल्लिग है। इस शब्द का स्त्रीलिंग में प्रयोग जैसे तत्क्षण ही ऊषा की प्रतिमा का संबंध युवती के खिलते हुए सौंदर्य से स्थापित कर देता है।

कभी-कभी कवि मानो कल्पना के पंखों के सहारे धरती को छोड़कर, नारी के वास्तविक मानवीय रूप को त्यागकर, ऐसे रहस्यमय संसार में उड़ान भरने लगता है जहाँ नारी की प्रतिमा अपना वास्तविक रूप खोकर शाश्वत, रहस्यमयी प्रेमिका के अनाकलनीय, अपार्थिव सौंदर्य के कल्पनामय स्वप्न में परिवर्तित हो जाती है। इस सन्दर्भ में कवि की छायावादी रचना 'ग्रंथि' विशेष महत्वपूर्ण है।

पंतजी की 'ग्रंथि' शीर्षक रचना युवक कवि के इंद्रजालमय स्वप्न का रूपांकन है जिसमें वास्तविक भाव एवं अनुभूतियाँ कल्पना के अवगुंठन से प्रस्फुटित होती हुई दिखाई देती हैं। साँझ के झुटपुटे में कवि देखता है कि वह एक हल्की और छोटी-सी नौका में बैठा हुआ किसी अज्ञात सरोवर की लहरों पर विहार कर रहा है। एकाएक उसकी नौका डूब जाती है और कवि चेतना खो बैठता है। जब चेतना लौट आती है, तो वह देखता है कि एक सुन्दर युवती उसके सिर को अपनी गोद में थामे हुए है, उसे सहला रही है और प्रेमभरी दृष्टि से उसे निहार रही है। तत्क्षण ही कवि के हृदय में भी प्रेम की ज्योति जाग उठती है। प्रेमिका के आलिंगन में वह समस्त दुःख एवं दुर्दैव को भुला देता है, प्रथम प्रेम का भाव उसे पूर्णतया आप्लावित और उसके मन को अपार्थिव वरदान से परिपूर्ण कर देता है। पर युवजनों का भाग्य शाश्वत थोड़े ही होता है? सामाजिक पूर्वाग्रहों तथा निर्मम लोगों की कोरी उदासीनता एवं घृणा की अशिव शक्तियाँ कवि तथा प्रेमिका को वियुक्त कर देती हैं। और तो और, अभागा कवि अपनी प्रेमिका को किसी दूसरे की बाँहों में देखता है। उसका हृदय दो टूक हो जाता है।

यह रचना इस विचार का समर्थन करती है कि समय की दृष्टि से अपना औचित्य खो बैठी हुई, मध्ययुगीन नैतिकता के आधार पर खड़े समाज में सच्चा प्रेम एवं मानव का सुख असंभव है। 'ग्रंथि' है टूटे हुए स्वप्नों की और एक ऐसे व्यक्ति के दुःख की करुण कथा जो अपनी प्रेमिका को खो बैठा है। रचना के पूर्वार्द्ध में, प्रकृति के रूपों का उपयोग करते हुए, पंतजी तीव्र प्रेम-भावना से घिरे हुए युवजनों के भावों के सशक्त चित्रण में सफल हुए हैं। प्रेमिका से प्रथम मिलन जैसे प्रातःकाल की प्रथम रश्मियाँ हैं जो रात्रि के तम को चीर देती हैं, अकेलेपन की व्याकुलता को तितर-बितर कर देती हैं। युवा-जनों के हृदय को व्याप्त करने वाला प्रेम जैसे कोई ऐंद्रजालिक फूल है जो अपने में संसार के समस्त सौंदर्य को समेटे हुए है।

पर इधर यह मनोहर स्वप्नजाल टूट जाता है, प्रेम कुचल जाता है और

तब अकेलेपन की भावना तीव्रतर हो उठती है—ठीक उसी भाँति जिस भाँति प्रकाश की प्रखर किरण से चीरे जाने के पश्चात् तम की घनता बढ़ जाती है। अपना त्याग करने वाली प्रेमिका की तुलना कवि उस मधुमक्षिका से करता है, जो उसके सद्यःप्रफुल्ल हृदय-कुसुम के कोमल मधु का पान कर तुरन्त अन्य पुष्प की ओर चली जाती है।

विरहजनित व्यथा एवं कटुता से कवि का समस्त अस्तित्व ही परिव्याप्त हो जाता है और वह पुकार उठता है :

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन वीणा बजा !
पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर,
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
मग्न भावी को डुबा दे आँख की !

विरह की भावना, प्रेम की अस्वीकृति से उत्पन्न व्यक्तिगत दुःख की यह भावना यहाँ समस्त संसार के दुःख एवं पीड़ा से उत्पन्न खिन्नता में परिवर्द्धित हो जाती है।

समूची प्रकृति पंतजी को कभी अपनी दिशा में इंगित करके हृदय में प्रेम की व्याकुलता को जगाती हुई नारी-प्रतिमा-सी लगती है, तो कभी उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि वह स्वयं ही उनकी उत्कंठापूर्ण पुकार का उत्तर देने को तैयार है। और तब वह अपने अंतस्तल में 'उत्साह और आनन्द' का अनुभव करते हैं :

देह में पुलक उरों में भार
भ्रुवों में भंग दृगों में बाण
अधर में अमृत, हृदय में प्यार
गिरा में लाज, प्रणय में मान !

फिर ऐसा लगता है कि उनकी प्रेम-भावना उनकी पुकार का उत्तर देने को तैय़ार नारी के रूप में साकार होकर भावनाजनित कल्पना-लोक के अभ्राच्छादित आकाश से धरती पर उतर आती है। पर दूसरे ही क्षण कवि जैसे स्वयं ही अपने इस मनोविन्यास को तोड़ देता है और वास्तविक मानवीय भावना फिर अशरीर स्वप्न में बदल जाती है।

भावना का यह क्रम कवि के दार्शनिक विचारों से दृढ़ संबद्ध है।

पंतजी के दार्शनिक विचारों में स्पष्ट विरोधाभास दिखाई देता है। सामान्यतः वे हिंदुओं के पारंपरिक अद्वैतवादी सिद्धांतों पर आधारित हैं। यह

दर्शन जगत् को माया, सर्वव्यापी विश्वात्मा या ब्रह्म का प्रतिबिंब मानता है। पर पंतजी निश्चित अद्वैतवादी नहीं हैं—उनकी समझ में प्रकृति की अपनी सत्ता है और प्रकृति स्वयं ही विकसित होती है, पर उसमें जैसे ब्रह्म का सूत्र बिंधा हुआ है और ब्रह्म निरंतर प्रकृति में अपने को प्रकट करता है।

प्रकृति के निरंतर परिवर्तन एवं नवीकरण का संबंध पंतजी मानव एवं प्रकृति को प्रेरित करने वाली 'चैतन्य-धारा' की अक्षुण्ण गतिशीलता से जोड़ते हैं। 'वीणा' तथा 'पल्लव' शीर्षक उनके काव्य-संग्रहों की बहुत-सी रचनाओं में इस धारा की सर्वविजयी, सृजनशील शक्ति में पंतजी का दृढ़ विश्वास मुखरित हो उठा है। हिंदुत्व के धार्मिक-दार्शनिक सिद्धांतों में विश्वास होने के कारण पंतजी यद्यपि आत्मा एवं परमात्मा के मिलन में सच्ची मुक्ति या परम लक्ष्य को देखते हैं, तथापि दिव्य पदार्थ को किसी प्रकार एकमात्र उपस्थित वस्तुगत यथार्थ नहीं मानते। हिन्दुत्व के धार्मिक-दार्शनिक सिद्धांतों में अपना विश्वास कवि इन शब्दों में घोषित करता है :

सुन्दर विश्वासों ही से
बनता रे सुखमय-जीवन।

काव्यात्मक बिंबों में वह विश्व-प्रेरणा की कल्पना का समर्थन करता है :

शाश्वत नभ का नीला विकास,
शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास!
हे जग जीवन के कर्णधार!
चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन नौका विहार!
प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर
तृण, तरु, पशु-पक्षी, नर सुरवर
सुन्दर अनादि शुभ-सृष्टि अमर!
जग जीवन में उल्लास मुझे
नव आशा नव अभिलाष मुझे।

विश्व-प्रेरणा की पंतजी की कल्पना वस्तुतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'जीवन-देवता' की सर्वेश्वरवादी धारणा के समान ही है।

पंतजी मानते हैं कि यह सर्वव्यापी प्रेरणा ही अक्षय जीवन का, विश्व के नित्य नूतनीकरण एवं परिवर्तन का कारण है। इसीलिए 'पल्लव' (१९२४) शीर्षक रचना में कवि विश्व के चिर-यौवन एवं सौन्दर्य का गुणगान करता है। इस रचना में अंकित अभी-अभी अंकुरित हो रही हरीतिमा का रूपक उस नवजात शिशु से सम्बद्ध होता है जो चकित होकर विस्फारित नयनों से विश्व को निहार रहा हो:

अरे, ये पल्लव बाल !
सजा सुमनों के सौरभ हार
गूँथते वे उपहार
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल,
नहीं छूटी तरु डाल
विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर प्रवाल।
न पत्रों का मर्मर संगीत,
न पुष्पों का रस, राग, पराग;
एक अस्फुट, अस्पष्ट, अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल मुसकान,
सरल शिशुओं के शुचि अनुराग,
वन्य विहगों के गान !

जीवन की नित नूतनता की कल्पना का समर्थन 'विश्व-छवि' (१९२२) शीर्षक रचना में भी मिलता है। गुलाब की अभी-अभी खिल रही कलियाँ कवि को अपने बचपन का स्मरण दिलाती हैं। पर जीवन की हर वस्तु की भाँति उनका सौन्दर्य भी क्षणजीवी ही तो है। उनके भाग्य में बदा है मुरझाना और झर जाना। पर मधुमास का आगमन होगा और फिर वनस्पतियों में जीवन-रस-धारा बहेगी, कलियों की प्यालियाँ छलक पड़ेंगी, सुमनों की सुगंध से वायुमण्डल महमहा उठेगा। यही तो जीवन का नियम है जो कवि को एक अनंत, अनुत्तरित पहेली-सा लगता है :

धूलि धूसर गुलाब के फूल।
यही है पीला परिवर्तन
प्रतनु यह पार्थिव परिवर्तन !
नवल कलियों में वह मुसकान
खिलेगी फिर अनजान,
सभी दुहराएँगी यह गान—
जन्म का है अवसान,
विश्व छवि से गुलाब के फूल।
करुण है पर यह परिवर्तन !

विश्व का चिर नूतनीकरण और जीवन तथा मृत्यु का निरंतर परस्पर परिवर्तन पंतजी हहर-हहरकर उछलती और फिर गिरती हुई लहरों में, सरिताओं की अनन्त धाराओं में भी देखते हैं।

उदाहरणार्थ, 'वीचि विलास' (१९२४) शीर्षक रचना में कभी दर्पण

समान चिकनी, कभी मंद समीरण के मृदु स्पर्श से किंचित् कंपित तो कभी गरजती-तरजती लहरों एवं चक्रवात से घिरी हुई जलधारा का महत् सौन्दर्य कवि के कल्पना-लोक में अनोखी काव्य-प्रतिमाओं की सृष्टि कर देता है। सलिल की लोल हिलोर कवि को 'सरिता की चंचल दृगकोर-सी,' 'सजल कल्पना-सी साकार' या 'बिना नाल के फेनिल फूल विकसा-सकुचाती हुई वारि-वेलि-सी' या फिर किंचिन्मात्र स्पर्श से मुरझाने वाली 'छुई-मुई-सी' लगती है। समय-समय पर सरिता की चिकनी धारा पर लहराने वाला कोमल कंपन उसे क्षण में चमक-दमक कर दूसरे ही क्षण अंतर्धान होने वाले 'स्वर्ण-स्वप्न' का अथवा 'मधुर वेणु की झंकार' का या फिर 'खिलते ही लज्जा से म्लान' होने वाली 'मुग्धा की-सी मधु मुसकान' का स्मरण दिलाता है।

कई बार कवि को लहरों की इस अक्षय क्रीड़ा में प्रकृति की किसी अपार्थिव, अज्ञात शक्ति का आभास मिलने लगता है। इनकी मंद, नीरव गति में उसे 'क्षणिक विलास कर' और 'आकुल उर को आश्वास दे' कर जाती हुई 'महान दिव्य मूर्ति' के दर्शन होते हैं। फिर उसके सम्मुख एक 'किशोर परी' आ जाती है जिसके कोमल, कंपित अधरों पर 'शशि-चुंबन की चाँदी का चूर्ण' है, जो अपने पारदर्शी 'रुचिर रुपहरे पंख पसारे' चन्द्र-किरणों की डोरों से टँगी हुई हिलोरों की हिंडोल पर झूल रही है और 'वढ़ असीम की ओर अछोर, जन्म-मरण से कर परिहास' आँख मिचौनी-सी खेल रही है। रचना की अंतिम पंक्तियाँ उस रहस्यमयी शक्ति के प्रति एक प्रार्थना-सी है जो चतुर्दिक् जीवन का संचार कराती है, सब-कुछ को गतिशील बनाती है, सबमें सौंदर्य की सृष्टि कर देती है। सर्वविजयी नारी-सौन्दर्य से परिपूर्ण प्रकृति के साथ यह शक्ति जैसे एकरूप हो जाती है :

> ओ अकूल की उज्ज्वल हास !
> अरी अतल की पुलकित श्वास !
> महानन्द की मधुर उमंग !
> चिर शाश्वत की अस्थिर लास !
>   मेरे मन की विविध तरंग
>   रंगिणि ! सब तेरे ही संग
>   एकरूप में मिले अनंग !

पंतजी की बहुत-सी आरम्भ-कालीन प्रकृति-विषयक एवं दार्शनिक गीत-मुक्तक रचनाओं में छिपी हुई रहस्यमयी दिव्य शक्ति की प्रतिमाएँ देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ, 'मुसकान' (१९२२) शीर्षक रचना में इस शक्ति का विधान वह पतझर में देखते हैं। कवि को कहीं से किसी का स्वर सुनाई देता है जो उसे किसी अनोखे, अज्ञात संसार की ओर निमंत्रित करता है, पर उत्तर में वह केवल कुछ कटुता के साथ मुसकरा भर देता है। उसे इस बात का दुःख है कि वह

उस स्वर का अनुगमन नहीं कर सकता, क्योंकि उसने उस संसार को अंतिम छोर तक अभी नहीं जाना है जिसमें वह स्वयं जीवनयापन कर रहा है।

प्रकृति की प्रेरणा के विषय में पंतजी की कल्पना उनकी 'मौन निमंत्रण' (१९२६) शीर्षक रचना में बहुत ही स्पष्ट हुई है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त इस रचना को 'आधुनिक हिन्दी लिरिक का अपूर्व उदाहरण'[1] मानते हैं। इसमें दिव्य शक्ति के संसार पर अधिराज्य करने वाली प्रकृति के विविध सजीव, सुन्दर, सतरंगे चित्र अप्रतिहत रूप से ढलकर एकरूप हुए हैं। रचना में प्रतीकात्मक शैली का अप्रतिम प्रयोग हुआ है। कवि जहाँ कहीं भी दृष्टि डालता है, उसे उस शक्ति का प्रतिबिंब दिखाई देता है, उसका उत्सुकतापूर्ण निमंत्रण-स्वर सुनाई देता है।

उक्त रचना में छः-छः पंक्तियों के नौ छंद हैं। प्रत्येक छंद की प्रथम चार पंक्तियों में पंतजी की सूक्ष्म कल्पना प्रकृति के सजीव, सुन्दर चित्र का सृजन करती है जबकि अंतिम दो चरणों में वह स्वनिर्मित चित्रों में जैसे दिव्य शक्ति का प्रतिबिंब प्रकट करते हैं। रहस्यमय निमंत्रण कवि को चकित शिशु के समान मुसकराती हुई चन्द्र-किरणों के साथ धरती पर उतरने वाले स्वप्न में सुनाई देता है···जब आकाश सघन मेघों से आवृत हो जाता है, घन-गर्जना सुनाई देती है, समीर दीर्घ निःश्वास भरता है और धरती पर प्रखर पावस धार झरती है, तो कवि सहसा पूछ बैठता है कि "तप का तड़ित कौन मुझे मौन इंगित करता है?" आगे वह पूछता है कि "जब सिंधु में वात क्षुब्ध जल-शिखरों को फेनाकार मथकर बुलबुलों का व्याकुल संसार बना-बिथुरा देती है तो लहरों से कर उठा कौन मुझे मौन निमंत्रण देता है?" वासंतिक पुष्पों की नवल सुगंध, जुगनुओं की झिलमिल जगमग, विहग कुल के प्रातः-कालीन कलरव इत्यादि में भी कवि को 'मौन निमंत्रण' सुनाई पड़ता है। रचना के अंतिम छंद में कवि विश्व के रहस्य में पैठने के लिए उस रहस्यमयी शक्ति का उद्घाटन करने के लिए उद्यत है जिसका प्रतिबिंब वह सब-कुछ में देखता है :

न जाने कौन अये द्युतिमान्!
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान,
अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन?

दिव्य को समझने, विश्व के रहस्य का उद्घाटन करने की अभिलाषा पंतजी की उन आरम्भकालीन रचनाओं में भी देखी जा सकती है जिनमें वह नवजात शिशु के विचारों, भावों एवं अनुभूतियों के लोक में प्रवेश पाने, उसके जन्म-पूर्व अस्तित्व का रहस्योद्घाटन करने के लिए प्रयत्नशील हैं। सबसे पहले यह

१. पंत, 'स्मृति-चित्र', पृ० १२६।

कल्पना 'स्वप्न' (सन् १९१९) शीर्षक रचना में अभिव्यक्त हुई है। पंतजी की यह पहली रचना थी जो 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

पंतजी के आरम्भकालीन गीत-मुक्तकों की दृष्टि से 'स्वप्न' का एक विशेष स्थान है। इसमें प्रकृति के रहस्यों, विश्व के सौंदर्य तथा मानव-आत्मा के विषय में उनके दार्शनिक विचार प्रतिविंबित हैं, धार्मिक-रहस्यात्मक मनोविन्यासों की धारा इसमें वास्तविकता से अपरिपुष्ट, अप्रबुद्ध अनुभूति के साथ एकरूप होकर वहती है। सुप्त शिशु की मुसकान में कवि को मानव के जन्मपूर्व उस अस्तित्व के संस्मरणों की छाया दिखाई देती है जब उसकी आत्मा अभी परमात्मा की गोद ही में थी। वह किसी प्रकार शिशु की मुँदी हुई पलकों में से गुज़रकर उसके मोहक स्वप्न देखने के लिए प्रयत्नशील हैं। सुप्त शिशु के अर्धोन्मीलित नयन जैसे मोहक स्वप्नों के सुन्दर चित्र देख रहे हैं और कवि इन नयनों की तुलना किसी अज्ञात वन की अधखिली कुसुम-कलिकाओं में से मधु-संचय करने वाले मधुपों के साथ करता है। पर शिशु के स्वप्नों का संसार वयस्कों की पहुँच के वाहर जो होता है। वे तो "संसार के उन चमकीले-दमकीले, इन्द्रधनु सम स्वप्नों जैसे होते हैं जो तुमुल तम में आवृत होते हैं।" पर कवि निराशावाद को अपने पास नहीं फटकने देता। रचना के अन्त में वह कहता है :

पर जागृति के स्वप्न हमारे
सुप्त हृदय ही में रहते।

मुग्ध मनोहर शिशु की प्रतिमा पंतजी के प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों में कई वार आई है। 'शिशु' (सन् १९२३) शीर्षक कविता में कवि कहता है : "तुम माँ की कामना-से सुकुमार, उस मृदुल कुड्मल-से हो जिसे निज सुरभि का संसार ज्ञात नहीं है, तुम नव स्रोत-से अवदात हो जो अविदित पथ पर अविचार स्खलित है। तुम गूढ़, निरूपम, नवजात हो। तुम कौन हो?"

कवि को शिशु एक अदृश्य सूक्ष्म तन्तु-सा लगता है जो पार्थिव संसार को उस अज्ञात विश्व से संवद्ध किए हुए है जहाँ साहसिकतम कल्पना तक पहुँच नहीं पाती। शिशु की मुग्ध मुसकान उस अपार्थिव सुख की स्मृति जो सँजोये हुए है जिससे अभी-अभी उसकी आत्मा विदा ले चुकी है। उसकी शुद्ध, निश्छल आत्मा के सम्मुख विश्व का चिरन्तन रहस्य जो उद्‌घाटित हुआ है। पर विश्व के रहस्य में पैठना मनुष्य के लिए जितना असम्भव है, चतुर्दिक् की वास्तविकता को जानना भी उसके लिए उतना ही कठिन है। क्योंकि "यह संसार बहुत ही विशाल, जटिल एवं अनाकलनीय है और उसमें मनुष्य की स्थिति है मात्र नवजात शिशु की-सी— वह स्वयं अपने को पहचान पाने की स्थिति में नहीं है और इसी से दूसरों के लिए एक पहेली बना हुआ है।"

पंतजी के प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों की माला 'परिवर्तन' (सन् १९२४)

शीर्षक कविता के साथ समाप्त होती है। संसार का दार्शनिक अर्थ लगाने की दिशा में उनका प्रथम प्रयत्न इस रचना में सन्निहित है। डॉ० नगेन्द्र ठीक कहते हैं कि "पंतजी के काव्य में इस रचना का अपना एक विशेष स्थान है।"

" 'परिवर्तन' पंत के काव्याकाश में उस दूरवर्ती तारे के सदृश है जो सबसे पृथक् रहकर अपनी ज्योति विकीर्ण करता है।"[१]

डॉ० नगेन्द्र आगे लिखते हैं :

"फिर भी पंतजी के इस ग्रैण्ड भाव-महाकाव्य को उनकी प्रतिनिधि कृति कहना उचित न होगा। वास्तव में पंतजी ने न तो इसके पूर्व ही और न इसके बाद ही कोई इतनी आवेशपूर्ण कविता लिखी है।"[२]

यद्यपि यह रचना पंतजी के प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों की छायावादोचित साधारण प्रतीकात्मक-स्वच्छंदतावादी शैली पर लिखी गई है तथापि वैचारिक-दार्शनिक विषय-वस्तु की दृष्टि से वह कवि की रचनाओं में अपने प्रकार की एक-मात्र रचना है। इसमें तरुण कवि जैसे प्रथम बार अपने स्वच्छंदतावादी स्वप्नों से जाग्रत होकर अपने कल्पना-लोक के घटाओं से घिरे आकाश से उतरकर धरती पर आता है और अपने चारों ओर के वास्तविक जीवन को देखने लगता है। इस जीवन की कठोरता एवं अपूर्णता से वह दु:खित हो उठता है और उसके अन्तस में असन्तोष एवं नैराश्य की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।

भारतीय साहित्यशास्त्री श्री शांतिप्रिय द्विवेदी लिखते हैं : "उसमें परिवर्तनमय विश्व की करुण अभिव्यक्ति इतनी वेदनाशील हो उठी है कि वह सहज ही सभी हृदयों को अपनी सहानुभूति के कृपासूत्र में बाँध लेना चाहती है।"[३] कठोर एवं निर्मम वास्तविकता से उत्पन्न भयग्रस्तता को, मानव के दु:ख एवं पीड़ा तथा देशबन्धुओं के भारी दुर्भाग्य के विषय में कवि के चिन्तन को दार्शनिक सामान्यीकृत रूप में अभिव्यक्ति मिली है। इस रचना में कवि पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक-दार्शनिक विचारों, मनुष्य की सुख-समृद्धि के विषय में उनके मानवतावादी आदर्शों तथा विश्व के सामंजस्य के संबंध में उनके स्वप्नों का प्रभाव विशेष स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। भारभूत एवं आनन्दशून्य वर्तमान के विरोध में भारतीय जाति के आदर्शीकृत विजयशाली अतीत को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भारतीय साहित्य में उद्बोधनकाल से चली आई थी और बहुत प्रचलित हो चुकी थी। इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाते हुए पंतजी 'परिवर्तन' के आरंभ में जो लिखा है उसका भाव इस प्रकार है :

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?

---

१. नगेन्द्र, 'सुमित्रानंदन पंत', आगरा, सं० २०१४, पृ० १०७।
२. वही, पृ० १०७।
३. वही, पृ० १०७ से उद्धृत।

भूतियों का दिगंत छवि जाल,
ज्योति चुंवित जगती का भाल ?
राशि-राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?
स्वर्ग की सुषमा जब साभार,
धरा पर करती थी अभिसार !
प्रसूनों के शाश्वत शृंगार,
स्वर्ण (भृंगों के गन्ध विहार)
गूँज उठते थे बारंबार,
सृष्टि के प्रथमोद्गार !
नग्न सुन्दरता थी सुकुमार,
ऋद्धि औ' सिद्धि अपार।
अये, विश्व का स्वर्ण स्वप्न, संसृति का प्रथम प्रभात,
कहाँ वह सत्य, वेद विख्यात ?
दुरित, दुख दैन्य न थे जब ज्ञात,
अपरिचित जरा-मरण भ्रू पात !

व्यतीत तथा अविवर्तनीय 'सुवर्ण के काल' के विषय में अपनी वेदना कवि भावुकता से ओतप्रोत प्रतीकों की सहायता से अभिव्यक्त करता है : 'वही मधुऋतु की गुंजित डाल···सिहर उठती—जीवन भार', 'प्रात का सोने का संसार जला देती संध्या की ज्वाल', 'अखिल यौवन के रंग उभार हड्डियों के हिलते कंकाल', 'आज वचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात !' 'चार दिन सुखद चाँदनी रात और फिर अंधकार अज्ञात' आदि इसके उदाहरण हैं।

पंतजी चतुर्दिक् निर्दय, निर्मम शक्ति का उभार देखते हैं। इस शक्ति को वह 'परिवर्तन' का नाम देते हैं। यह ऐसा परिवर्तन है जो प्राणघातक 'अनिवार्यता के साथ मधुर संयोग को वियुक्त कर देता है', 'मिलन सुख को विरह में बदल देता है', 'जन्म को मृत्यु में, स्मित एवं आनन्द को अश्रु एवं दुःख में' परिवर्तित कर देता है। इस निर्मम परिवर्तन की विनाशकारी शक्ति का सामना कोई नहीं कर सकता। यह चहुँ ओर उसी प्रकार साम्राज्य करता है जिस प्रकार 'नृशंस नृप जो जगती पर चढ़ संसृति को उत्पीड़ित करते हैं, नगरों को नग्न और भवनों को भग्न कर देते हैं, मानव-कर के चिर-संचित कलाकौशल, विभव को हर लेते हैं···आधि, व्याधि, अतिवृष्टि, वात-उत्पात, अमंगल, वह्नि, बाढ़, भूकंप—ये सब तुम्हारे ही विपुल सैन्य दल हैं···विश्व का अश्रुपूर्ण इतिहास—तुम्हारा ही इतिहास है··· 'जगत् की शत कातर चीत्कार वेधती वधिर तुम्हारे कान, अश्रु स्रोतों की अगणित धार सींचती उर पाषाण !' कवि को लगता है कि समस्त संसार पर क्रोधोन्मत्त सर्वसंहारकारी दैत्य की कृष्ण छाया छा गई है। वह देखता है किस प्रकार

'लालची गीधों से दिन-रात नोचते रोग-शोक नित-गात···बहा शोणित मूसलाधार रुण्ड-मुण्डों की कर बौछार, प्रलय घन-सा घिर भीमाकार गरजता है दिगंत संहार! छेड़ कर शस्त्रों की झंकार, महाभारत गाता संसार!'

युद्ध की भयानकता, उपनिवेशवादियों की मनमानी तथा बलप्रयोग, जिन्होंने सन् १८१९-१९२३ में भारतीय जाति के क्रांतिकारी आंदोलन को लहू में डुबो दिया था, देश में पुलिस की प्रतिक्रिया का दमन-चक्र इत्यादि के विषय में या संक्षेप में कहना हो तो वर्तमान शती के तृतीय दशक के पूर्वार्द्ध में जिस वातावरण का साम्राज्य फैला हुआ था उसके विषय में जैसे कवि का प्रतीकात्मक-सामान्यीकृत आकलन ही उक्त सार्वजनिक संहार एवं विनाश के चित्र में प्रस्तुत हुआ है। कवि को लगता है कि "रुधिर हैं जगती के प्रात, चितानल के ये सायंकाल, शून्य निःश्वासों के आकाश, आँसुओं के ये सिन्धु विशाल।"

जगती पर साम्राज्य कर रही यह निर्मम शक्ति हमारे सम्मुख मानवीकृत, प्रतीकात्मक ढंग से सर्वव्यापी, विकराल, भीमाकार दानव के रूप में खड़ी होती है। कवि इसे जीवधारी ही समझकर पुकार उठता है:

अहे निष्ठुर परिवर्तन!
तुम्हारा ही तांडव नर्तन,
विश्व का करुण विवर्तन!
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन!

शिवजी के संहारक-सर्जक तांडव नृत्य के साथ परिवर्तन की तुलना करके कवि प्रलयकारी परिवर्तन में विनाशकारिता देखता है और नव सृजनशीलता भी। इसीलिए वह उसकी तुलना कभी पुराणों में वर्णित सहस्रफन वासुकि के साथ करता है—मृत्यु जिसका गरल दन्त और कंचुक कल्पांतर है—तो कभी उसे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान सृजनहार विश्वचालक के नाम से पुकारता है।

सार्वत्रिक संहार एवं विनाश के वातावरण के होते हुए भी इस रचना में मानवीय, जीवन समर्थक नव निर्माण ही की विजय होती है:

जगत की सुन्दरता का चाँद
सजा लांछन को भी अवदात
सुहाता बदल, बदल, दिनरात,
नवलता ही जग का आह्लाद!

हमें लगता है कि पंतजी के आदर्शवादी द्वन्द्ववाद की मानवता को भारतीय परम्परा द्वारा अपनाए गए आशावादी आधार तत्त्वों का और अधिक विकास माना जा सकता है। परम्परा का उदाहरण देना हो तो ये तत्त्व तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' में देखे जा सकते हैं। ये अशिव पर शिव की अनिवार्य विजय व।

समर्थन करते, भारत के इतिहास में नये युग के आगमन की अनिवार्यता के प्रति भारतीयों की अनेक पीढ़ियों के हृदयों में विश्वास जगाते आए हैं। विश्व मंगल एवं विकास के इस प्रत्याशित युग को 'राम-राज्य' का नाम दिया गया है। जीवन-समर्थक मानवतावाद से रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सभी रचनाएँ अनुप्राणित हैं। रवीन्द्रनाथ संसार के सतत सामंजस्यपूर्ण विकास के विचार का समर्थन करते हैं, मानव में और मानवीय बुद्धिमत्ता की शक्ति में असीम विश्वास रखते हैं। पंतजी के मानवतावाद के मूलस्रोत स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक-दार्शनिक विचारों में भी देखे जा सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द के उन विचारों में मानव-सेवा के लिए आवाहन है। वह मानव द्वारा सुखमय एवं विकासशील जीवन प्राप्त किया जाने की सम्भावना में, वास्तविकता को परिवर्तित कर देने की मानव की शक्ति में विश्वास रखते थे। सतत, एक क्षण भी न रुकने वाले जीवन-संघर्ष ही का नाम है—संसार। चतुर्दिक् इस संघर्ष के लक्षण सतत नूतनीकरण एवं विकास के रूप में देखते हुए पंतजी कहते हैं कि विकास ही संसार का जीवन है और गत्यवरोध है उसकी मृत्यु।

कवि को सर्वत्र विकासशील जीवन का विजयी एवं आनन्दमय स्वर सुनाई देता है :

म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलों में फलती फिर अम्लान,
महत् है, अरे, आत्मवलिदान,
जगत केवल आदान प्रदान !

संसार के विकास का महत्त्वपूर्ण नियम सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमानी, पंतजी देखते हैं सामंजस्यपूर्ण एकता में, परस्पर-विरोधी शक्तियों के द्वन्द्वात्मक विकास में, दुःख एवं सुख, पीड़ा एवं आनन्द, जीवन एवं मृत्यु के संतुलन में। वह कहते हैं :

विना दुख के सब सुख निःसार,
विना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार !
आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद

कविता के अन्त में इस विचार का समर्थन मिलता है कि संसार के परिवर्तन-विकास का चिरन्तन नियम केवल ऊर्ध्वस्थ शक्ति ही का विधान है। यह शक्ति है दिव्य सत्ता अर्थात् परमात्मा; और समस्त जीवधारी सृष्टि, सम्पूर्ण संसार है उसकी मात्र प्रतिच्छाया, केवल माया : 'नहीं हम, जो हम ज्ञात, अरे निज छाया में उपनाम, छिपे हैं हम अपरूप···विश्वमय हे परिवर्तन ! तुम अतल

हो, अवार हो···परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरन्तर, अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर !'

कहना न होगा कि इस रचना के धार्मिक-रहस्यात्मक अवगुंठन के पीछे कई अति महत्त्वपूर्ण सामाजिक-दार्शनिक समस्याएँ सन्निहित हैं और मानव-जीवन सारतत्त्व का अर्थ स्पष्ट करने की दिशा में कवि की प्रयत्नशीलता को अभिव्यक्ति मिली है। पंतजी के सामाजिक-दार्शनिक विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति होने के नाते 'परिवर्तन' शीर्षक रचना उनकी समस्त काव्य-साधना एवं विचारधारा के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मानी जा सकती है। इस रचना में आए हुए प्रतीक गहरी सामाजिक-ऐतिहासिक विषय-वस्तु से अनुप्राणित हैं और परम्परागत भारतीय प्रतीक शैली के सहारे भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के उन स्तरों की अनुभूतियों एवं मनोविन्यासों को अभिव्यक्ति देते हैं जो उस समय वैचारिक चौराहे पर खड़े थे और स्वीकार्य पथ के विषय में निश्चय नहीं कर पाए थे—राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में प्रत्यक्ष सम्मिलित होने के मार्ग से तो वे दूर थे, पर तत्कालीन वास्तविकता में मूलगामी परिवर्तनों की अनिवार्यता को अवश्य अनुभव करने और अपने नागरिक एवं देश विषयक कर्तव्य को समझने लगे थे। यह कविता घटनाओं के परस्पर सम्बन्धों एवं विरोधी शक्तियों के चिरन्तन संघर्ष के विषय में आदर्शवादी द्वंद्वात्मक धारणा के समर्थन का एक उज्ज्वल उदाहरण है और इस विचार का समर्थन करती है कि जीवन की विजय-यात्रा को कोई रोक नहीं सकता : 'वृद्ध बालक फिर एक प्रभाव, देखना नव्य स्वप्न अज्ञान, मूँद प्राचीन मरण, खोल नूतन जीवन !' कविता की इन पंक्तियों में महान् प्रगतिशील विचार सन्निहित हैं।

स्वयं पंतजी उक्त रचना का मूल्यांकन इस प्रकार करते हैं: "'पल्लव' की सर्वोत्तम तथा प्रतिनिधि रचना 'परिवर्तन' में विगत वास्तविकता के प्रति असन्तोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके।"[1]

सम्भव है कि 'परिवर्तन' के इस प्रकार के मूल्यांकन के कारण ही कुछ भारतीय साहित्यशास्त्रियों को (उदाहरणार्थ, शचीरानी गुर्टू) पंतजी के 'पल्लव' शीर्षक काव्य-संग्रह और शेलीकृत 'स्वतंत्र प्रमथ्यु' शीर्षक नाटक के मध्य तुलना करने का अवसर मिला। पर हमें इन दो कृतियों की तुलना उतनी साधार नहीं लगती। इससे शेली के क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद की विचारात्मक-सौंदर्यात्मक विषयवस्तु और पंतजी की प्रारंभिक रचनाओं के विषय में एक दोषपूर्ण कल्पना मात्र उत्पन्न हो सकती है। अपनी विचारात्मक-सौंदर्यात्मक विषय-वस्तु की दृष्टि से

१. सुमित्रानन्दन पन्त, 'काव्य-कला और जीवनदर्शन', दिल्ली, १९५७, पृ० ५-६।

पंत और शेली की रचनाओं के मध्य समानता न के बराबर है। उक्त क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादी अंग्रेज़ कवि द्वारा निर्मित काव्य के आधार में हैं—विचारात्मक-सौंदर्यात्मक आदर्श, समग्र विप्लवकारी कारुणिकता, भगवान् से मानव का संघर्ष, "पराधीनता एवं अत्याचार की शक्तियों पर मानवता की विजय एवं स्वाधीन मानव के जीवनोत्सव"[1] की कल्पना का समर्थन। ये सब बातें संसार की सामंजस्य-पूर्ण सृष्टि के विषय में पंतजी के वायवी मानवतावादी स्वच्छन्द स्वप्न से तत्त्वतः भिन्न हैं।

शेली की रचनाओं और पंतजी के प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों में यदि कोई समानता हो, तो वह यही है कि जीवन की ओर दोनों का आशावादी दृष्टिकोण है, दोनों कवि सामाजिक-दार्शनिक समस्याओं को प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त करने तथा गतिशील एवं संघर्षरत जीवन को प्रस्तुत करने में प्रयत्नशील हैं। दु:खांत कारुणिकता के सामान्य वातावरण और संसार के पुनर्निर्माण तथा मानव की स्वतंत्रता से सम्बन्धित ऊर्ध्व स्वप्न के विषय में भी दोनों में समानता देखी जा सकती है। इस दृष्टि से डॉ० नगेन्द्र के निम्नलिखित वक्तव्य की ओर ध्यान देना समुचित होगा : "सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमको ज्ञात होगा कि वास्तव में आशा-वादिता पंतजी में प्रारम्भ से ही है। 'पल्लव' में भी निराशा और करुणा के प्रवाह में आशा की अन्तर्धारा बह रही है।"[2]

पंतजी के काव्य के बहुसंख्यक आलोचक एवं प्रशंसक 'पल्लव' को मुख्यतया उच्च कोटि की कलात्मकता और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की उज्ज्वलता तथा प्रतीकात्मकता की दृष्टि से उनकी श्रेष्ठतम कृति मानते हैं, और लगता है कि यह ऐसा है भी। 'पल्लव' ने पंतजी को हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों के मध्य स्थान दिलाया है।

---

१. देखिए, इ० नेउपोक्रोयेवा, 'शेली का क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद', पृ० २०६।
२. नगेन्द्र, 'सुमित्रानंदन पंत', पृ० ३६।

३

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का और अधिक विकास

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने,
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहचाने।
मेरे विमुग्ध-नयनों की
तुम कांत-कनी हो उज्ज्वल;
सुख की स्मिति की मृदु रेखा,
करुणा के आँसू कोमल!
सीखा तुमसे फूलों ने
मुख देख मंद मुसकाना,
तारों ने सजल नयन हो
करुणा किरणें बरसाना!
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो
चिर आदि और चिर अभिनव!

—'मानव'

वर्तमान शती के तृतीय दशक के अन्तिम और चतुर्थ दशक के प्रारम्भिक वर्षों में संसार-भर के आर्थिक संकट का विशेष अनिष्ट प्रभाव भारत के समस्त आर्थिक एवं सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर पड़ा, जिससे वैसे ही पिछड़ी हुई भारतीय अर्थव्यवस्था की अत्यन्त निकृष्ट स्थिति में अधिक पतन हुआ, देश-भर में बेरोज़गारी

फैल गई, दारिद्र एवं बुभुक्षा का बोझ बढ़ गया और इसके परिणामस्वरूप उपनिवेशवादियों तथा भारतीय जनता के बीच का विरोध तीव्रतर हो गया। सक्रिय स्वाधीनता-संघर्ष में इन वर्षों में लाखों किसानों के दल-के-दल सम्मिलित हुए, भारतीय श्रमिक वर्ग का संगठित संघर्ष और विस्तृत हो गया। मार्क्सवादियों के बिखरे हुए गुटों से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को देश के सबसे बड़े राजनीतिक संगठन का स्वरूप प्राप्त हुआ और उसने औपनिवेशिक पराधीनता से भारत को सम्पूर्ण स्वाधीनता दिलाने के लिए संघर्ष की घोषणा कर दी। असंख्य जनता के बीच गांधीजी के विचारों का अधिकाधिक प्रसार होता गया और गांधीजी ने सन् १६३० तथा १६३२ में विशाल स्तर पर सत्याग्रह का आंदोलन छेड़ दिया।

पुलिस के आतंक एवं उपनिवेशवादी शक्तियों के दमनचक्र के कारण देश की स्थिति बहुत ही उग्र हो उठी। गांधीजी की प्रणालियों के अनुसार चल रहा अहिंसात्मक संघर्ष और गहरा होता गया और जनता के दल-पर-दल सक्रिय रूप से आंदोलन की लहर में आ गए। साथ-साथ इन वर्षों में देश-भर में गांधीवादी विचार-धारा का बोलबाला रहा और उसने भारतीय समाज के विविध स्तरों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इनमें उदारमतवादी बुद्धिजीवी वर्ग भी सम्मिलित था। पंतजी इसी वर्ग में थे।

बड़ी तेज़ी से विकसित होने वाली तूफ़ानी घटनाओं ने कवि को आक्रान्त कर दिया। जिधर भी दृष्टि दौड़ाई उधर ही आन्दोलन में उमड़-उमड़कर सम्मिलित होने वाले लोगों के समुदाय दिखाई दिए जैसे वे नींद से पहली बार जाग्रत हो उठे हों और अपने मानवीय गौरव को समझने लग गए हों। पंतजी ने देशभक्ति के गीत गाते हुए प्रदर्शनकारियों के दल देखे, सभा-बैठकों में वक्ताओं के भाषण सुने और मातृभूमि के भविष्य, लेखकों के कर्तव्य, जाति-सेवा के लिए संघर्षरत साहित्य के विषय में गरमागरम चर्चाएँ सुनीं। और यद्यपि उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम में प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया, तथापि अपने चारों ओर जो कुछ सुनाई-दिखाई दे रहा था उसके विषय में वह अधिकाधिक सोच-विचार करने लगे और अपने युवकोचित कल्पना-लोक के ऐंद्रजालिक स्वप्नों से अधिकाधिक जाग्रत होने लगे।

पिता, बन्धु और भगिनी की मृत्यु के कारण पंतजी को बड़ा धक्का लग गया और इस आघात के परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। फिर डॉक्टरी परामर्श के अनुसार १६२६ में वह अपनी जन्मभूमि अल्मोड़ा चले गए। जन्मभूमि की प्रकृति उनके लिए औषधि से अधिक लाभदायक सिद्ध हुई और सन् १६३१ के आरम्भ में ही वह फिर शक्ति एवं उत्साह से भरपूर हो गए। अब वह साहित्य-साधना में पूरे मग्न रहने लगे।

सन् १६३६ के ग्रीष्म में पंतजी गांधीजी का भाषण सुनने नैनीताल गए।

गांधीजी उन दिनों देश का दौरा कर रहे थे। भाषण में उन्होंने स्वाधीनता संग्राम के लक्ष्य एवं उत्तरदायित्व स्पष्ट किए। एक प्रसिद्ध पत्रकार एवं सामाजिक कार्यकर्ता कुँवर सुरेशसिंह ने पंतजी को प्रयाग के निकटवर्ती कालाकांकर नामक अपनी जागीर में रहने के लिए निमंत्रित किया। सन् १९३१ के सितम्बर में पंतजी वहाँ चले गए। वह वहाँ सब मिलाकर आठ-दस साल रहे।

स्वयं पंतजी के अनुसार मनोहारिणी प्रकृति की गोद में कालाकांकर के ग्राम्य जीवन के वर्ष उनकी युवावस्था के श्रेष्ठ वर्ष रहे। कवि ने अपनी अनेक रचनाओं में गंगातटवर्ती, श्यामल वनस्थित इस प्रकृति नीड़ के संस्मरण अंकित किए हैं :

गंगा तट था, श्यामल वन थे, तरु प्राणों में भरते मर्मर,
जल कलकल, खग कलरव करते, प्रकृति नीड़ था जनपद सुन्दर।[1]

पंतजी के सम्बन्ध में अपने संस्मरणों में कुँवर सुरेशसिंह लिखते हैं : "कालाकांकर का प्राकृतिक सौन्दर्य और शान्त वातावरण श्री पंतजी के स्वभाव के बहुत अनुकूल पड़ा। उन्होंने गाँव से मिले हुए पलाशवन के बीच एक टीले पर बने हुए छोटे-से बँगले को अपने रहने के लिए चुना और उसका नाम 'नक्षत्र' रखा। इसी 'नक्षत्र' में बैठकर उन्होंने 'गुंजन', 'ग्राम्या', 'ज्योत्स्ना' और 'युगवाणी' आदि अमर ग्रन्थों की रचना की।"[2]

इस समय तक पंतजी विशाल लोकप्रियता के धनी हो चुके थे। सर्वश्री निराला, रामनरेश त्रिपाठी, नरेन्द्र शर्मा, सियारामशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, डॉ० नगेन्द्र आदि प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यिक समय-समय पर उनसे मिलने आते थे।

वर्तमान शती के चतुर्थ दशक में पंतजी की काव्य-साधना बहुत ही पुष्पित-पल्लवित हुई। उन वर्षों के अपने भावों एवं मनोविन्यासों के विषय में वह स्वयं लिखते हैं : "देश की दयनीय दशा के विषय में मेरी वेदना और पीड़ा उन वर्षों की मेरी रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। सन् १९३० के पश्चात् मेरी काव्य-साधना का विकास राष्ट्रीय आत्मगौरव की दृढ़तर होती हुई भावना के और महात्मा गांधी के नेतृत्व में बलशाली बनते हुए स्वातन्त्र्य संग्राम के वातावरण में हुआ। यह संघर्ष सदा ही हमारी सांस्कृतिक परम्परा से सम्बद्ध रहा और उसका स्वरूप अहिंसात्मक रहा। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जागरण हमारे यहाँ साथ-साथ ही हुआ।[3] पंतजी के अनुसार, इन्हीं दिनों प्रसिद्ध प्रगतिशील साहित्यशास्त्री श्री पूर्णचन्द्र जोशी से उनकी मित्रता घनिष्ठ होती गई। पंतजी पर इस मित्रता का बड़ा प्रभाव पड़ा। वह लिखते

---

१. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ४५।
२. सु० पंत, 'स्मृति-चित्र', पृ० २९।
३. ग्रन्थकार को पंतजी द्वारा दि० १२-९-१९५९ को लिखे गए पत्र से।

हैं : "मेरे भावाक्रांत मन को उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से बड़ी सांत्वना मिलती। जोशी मुझ-सा श्रोता पाकर वाचाल हो उठते। उनके विचार मैं ध्यानपूर्वक और रस लेकर सुनता। उनके विचारों द्वारा मेरे मन में मानव-सभ्यता के राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक विकास की रूपरेखाएँ धीरे-धीरे अंकुरित होने लगीं, जिन्हें मैं पीछे अपने अध्ययन-मनन से अधिक व्यापक एवं समुचित रूप में समझ सका। मेरा विश्व-प्रेम का क्षितिज जोशी के ऐतिहासिक ज्ञान तथा सामाजिक भविष्य की सम्भावनाओं से तब विस्तृत तथा वस्तुमूलक बनने की चेष्टा कर रहा था।"[1]

श्री सुमित्रानन्दन पंत को कालाकांकर में सीधे-सादे ग्रामवासियों के जीवन को निकट से देखने-समझने का प्रथम अवसर मिला। किसानों के अभावग्रस्त एवं दयनीय जीवन और उनके सुख-दुःख उन्होंने देखे, उनके उत्सव-त्यौहारों में उपस्थित रहे, उनके गीत सुने और नृत्य देखे।

इन वर्षों में पंतजी ने बहुत-कुछ लिखा। अल्मोड़े में आरम्भ की गई एक कविता-माला उन्होंने सन् १९३२ में पूर्ण की और इन रचनाओं का नया संग्रह 'गुंजन' नाम से प्रकाशित किया। स्वयं कवि के अनुसार इस संग्रह में उनकी कई कविताएँ एवं गीत-मुक्तक संगृहीत हैं जिनमें उन्होंने उन अनेक प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न किया है जो उन दिनों उनको व्यग्र कर रहे थे। 'गुंजन' संग्रह के पचास छोटे-छोटे गीत-मुक्तक न केवल उनकी अपनी काव्य-साधना में, अपितु हिन्दी के छायावादी काव्य की समग्र विकास-प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'गुंजन' में पंतजी एक प्रकार से वैचारिक चौराहे पर खड़े दिखाई देते हैं। एक ओर वह अपनी समृद्ध कल्पना द्वारा निर्मित प्रेरणादायी प्रकृति के सौन्दर्य के ऐंद्रजालिक संसार में, युवकोचित कोमल भावों एवं अनुभूतियों के वातावरण में विचरते हैं, तो दूसरी ओर अपने चतुर्दिक् की वास्तविकता में पैठने का अधिकाधिक गम्भीर प्रयत्न करते हैं।

उक्त संग्रह में दार्शनिक गीत-मुक्तकों को अधिकांश स्थान मिला है। 'एक तारा' (सन् १९३२), 'चांदनी' (सन् १९३२), 'नौका-विहार' (सन् १९२८) इत्यादि रचनाओं में पंतजी की वही प्रवृत्ति आगे चल रही है, जिसका सूत्रपात 'पल्लव' में हुआ था—प्रेरणादायी प्रकृति की प्रतिमाओं में कवि को ब्रह्म की सर्वव्यापिनी सत्ता के दर्शन होते हैं।

'एक तारा' शीर्षक रचना में कवि सांध्य नक्षत्रमण्डल में जगमगाते हुए शुक्र तारे से अपनी दृष्टि नहीं हटा सकता। उसके आलोक में कवि को अक्षुण्ण जीवन, शांति एवं महत्ता के दर्शन होते हैं। उसमें मंद प्रकाशवाले किसी तारे की भ्रांति नहीं है—वह तो है ब्रह्म, सुख, ज्ञान एवं समस्त विश्व-सार का प्रतीक। कवि

---

१. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ४४।

को लगता है कि चाँदनी रात के सौंदर्य में परमात्मा की दिव्य शक्ति का ही विधान होता है।

'एक तारा' में जो कल्पना निहित है, उसका अधिक विकास 'चाँदनी' शीर्षक रचना में हुआ है।

सुप्त संसार पर चाँदनी जैसे एक मनोहर रहस्यमय पट के समान फैली हुई है। समस्त प्रकृति जैसे उसे एकसी रुपहली जगमगाहट से नहला रही है। पर चाँद अपने प्रकाश से सारी धरती को आलोकित नहीं कर सकता। वन, पर्वत, करार आदि उसकी किरणों के असीम, स्वतंत्र प्रसार में बाधा डालते हैं, संसार का एक अंश पहले ही की भाँति अँधेरे में डूबा हुआ है। इसी प्रकार ब्रह्म एक साथ समग्र मानव को आक्रांत नहीं कर सकता, उसके भाव एवं अनुभूतियाँ संसार में प्रविष्ट होते हैं, और केवल क्रमशः ब्रह्म उसे अपनी दिव्य शक्ति से अनुप्राणित करता है, उसके सारे अस्तित्व को सुख एवं आनन्द से भरपूर कर देता है। जिस भाँति चन्द्रालोक संसार को प्रकाशमय करता है, ठीक उसी भाँति सर्वव्यापी ब्रह्म मानव को चेतना एवं सृजन शक्ति प्रदान कर उसमें नव-जीवन फूँक देता है।

"यह संसार कितना ही सुन्दर तथा विविधतापूर्ण क्यों न हो—वह परमात्मा की किसी से भी सम्बन्ध न रखनेवाली चिरंतन शक्ति का मात्र अवतार एवं प्रतिबिम्ब है। वह है, और साथ-साथ, नहीं भी है···वह अनिर्वचनीय है, दिव्य चेतना से परिपूर्ण···" कवि के इन उद्‌गारों से अद्वैतवाद-विषयक विचारों को बहुत ही स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।

जल से भरपूर गंगा की द्रुत धारा को देखकर पंतजी के मन में संसार की अविरत, चिरंतन गतिशीलता एवं विकास से संबंधित विचार जाग्रत होते हैं। 'नौका विहार' शीर्षक रचना में कवि ने चन्द्रालोकित गंगा के सजीव, प्रभावशील चित्रों की सृष्टि की है। उसमें है वह नीरव, असीम जलविस्तार जिसमें रात्रिकालीन गगन के जगमगाते तारे प्रतिबिंबित हैं और जिसकी लहरों पर चाँदनी रुपहली चिनगारियाँ बिखेर रही हैं। जलप्रवाह की अविरत गति का न कोई आदि है और न अन्त ही। उसकी तुलना में एक मानव के जीवन की हस्ती ही क्या! बस, वह है अनंत की तुलना में मात्र एक क्षण के समान!

पर संसार के सामान्य गति-विकास में मानव उतना ही अमर एवं चिरंतन है जितना यह प्रवाह। इसीलिए मानव गंगा जितना, समस्त प्रकृति जितना ही महान् एवं असीम है। जन्म और मृत्यु मानव के अस्तित्व की सीमाएँ नहीं, अपितु जीवन की गति के भिन्न रूप मात्र हैं। पर संसार के विकास की इस द्वंद्वात्मकता में भी पंतजी दिव्य शक्ति की सत्ता देखते हैं:

हे जग-जीवन के कर्णधार
चिर जन्म-मरण के आर-पार

शाश्वत जीवन नौकाविहार
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान !

दार्शनिक गीत-मुक्तकों के साथ-साथ 'गुंजन' में प्रेम विषयक गीत-मुक्तक भी संगृहीत हैं। इनमें कई ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें पंतजी ने 'वीणा' शीर्षक संग्रह तथा 'ग्रंथि' शीर्षक कविता में आरम्भ किए गए प्रेम एवं नारी-सौंदर्य के विषय को आगे बढ़ाया है, विकसित किया है। पर वर्तमान शती के चतुर्थ दशक के आरम्भ के प्रेम-विषयक गीत-मुक्तक उनके यौवन-कालीन गीत-मुक्तकों से स्पष्टतया भिन्न हैं।

अर्धगोचर, प्रकृति में घुली हुई-सी और अपनी रहस्यमयता से युवक कवि को इंगित करने वाली युवती की प्रतिमा धीरे-धीरे पार्थिव तत्त्व से परिपूर्ण हो जाती है और कल्पनालोक के कुहरे में से उसकी मानवीय रूपरेखाएँ अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती हैं।

'भावी पत्नी के प्रति' (सन् १९२७) शीर्षक रचना में उस नारी का स्वप्न देखते हुए, जो उसके लिए सुख ला दे, उसके अकेलेपन के विषाद को मिटा दे, कवि अपने सम्मुख उसकी प्रतिमा खड़ी करना चाहता है—यह प्रतिमा कभी गोचर, पार्थिव-सी लगती है तो कभी धुंध में विलीन होती-सी दिखाई देती है। प्रकृति-चित्रों को निहारते हुए कवि सर्वत्र संयोग के सुख एवं आनन्द के दर्शन करता है और सुन्दर नारी के साथ अपने मिलन के, संगम के स्वप्न देखता है। उसे लगता है कि वह उसके सामने खड़ी मुसकरा रही है—कभी लज्जा एवं संकोच के साथ तो कभी शोक एवं विचारमग्नता के साथ। प्रेमिका के आगमन की प्रतीक्षा में कवि अपने एकाकी आवास को दीपकों एवं फूलों के तोरण-वंदनवारों से सुशोभित कर देता है। पर उसका तो कोई ठिकाना ही नहीं···दीपक बुझ जाते हैं, फूल मुरझा-कर गिर पड़ते हैं और उनके साथ-साथ उड़ जाती हैं कवि की आशाएँ। उसका अंतस् उदासी से आप्लावित हो जाता है। निराशा में वह कह उठता है : "हे नक्षत्रों की-सी उज्ज्वल आँखों वाली सुन्दरी, एक क्षण-भर तो दर्शन दो, अपना नाम तो बता दो।" प्रेम की अभिलाषा अतृप्त ही रह जाती है, स्वप्न भंग हो जाते हैं और हृदय फिर एकाकीपन की उदासी से आक्रांत हो उठता है।

पर 'गुंजन' की रचनाओं में रहस्यमय एवं निराशावादी स्वर कुछ दबा हुआ-सा लगता है, उसे वैभवशाली जीवन का विजय-स्वर धीमा कर देता है। यह जीवन अधिकाधिक दल-बल के साथ कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों के संकुचित संसार पर जैसे धावा बोल देता है। इस संग्रह की अधिकांश रचनाओं में अनेक ऐसे विचार प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुए हैं, जो भारत में वर्तमान शती के

चतुर्थ दशक के तूफानी वर्षों के लोकप्रिय विचारों से मेल खाते हैं। उनमें नये समय की साँस, जाति के सुख, अत्यन्त उत्पीड़ित मातृभूमि के उज्ज्वल भविष्य संबंधी विचारों एवं स्वप्नों की प्रतिध्वनियाँ स्पष्ट रूप से सुनाई देती हैं। 'पल्लव' की अंतिम रचनाओं में अपनी कल्पना द्वारा निर्मित घनी झाड़ी के अँधेरे में भटका हुआ-सा कवि अब जैसे सूर्य की किरणों को उस झाड़ी में से छन-छनकर आती हुई देखता है और उनकी अगवानी के लिए उस ओर लपक पड़ता है : "जीवन अपनी सम्पूर्णता में सुख-दुख के साथ, फूल-काँटों के साथ, आध्यात्मिकता-भौतिकता के साथ कवि को आकृष्ट कर सका है।"[१]

'गुंजन' का प्रधान स्वर जीवन-समर्थक आशावाद और आलोकमय शक्तियों की विजय में अडिग विश्वास का स्वर है।

संग्रह का श्रीगणेश करने वाली पहली ही रचना को लीजिए। यह एक प्रकार से संग्रह का आमुख ही है। इसमें जागती हुई वासंतिक प्रकृति की प्रतिमाएँ मानवीय एवं आशावादी विषय-वस्तु से भरपूर हैं। सौरभ एवं जीवनरस लेकर अधीर वसंत के आने ही का विलंब है कि वन, क्षेत्र आदि, या यों कहिए कि कुल वायु-मंडल ही, सद्योजात मधुमक्षिकाओं के कोमल एवं मादक गुंजन से ओत-प्रोत हो जाता है। कवि के अशांत एवं संवेदनशील अंतस में इसकी प्रतिध्वनि और नई आशाएँ जाग उठती हैं। चारों ओर वह जो कुछ भी देखता है, वही उसे आनन्द की भावना से अनुप्राणित कर देता है, दुःख एवं पीड़ा से मानव की मुक्ति के प्रति विश्वास की ज्योति उसके अंतस में जगाता है :

सुंदर से नित सुन्दरतर
सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर सुन्दर जग-जीवन

प्रारंभिक प्रगीतों में समय-समय पर सिर उठाने वाले अकेलेपन के मनोविन्यास जैसे पूर्णतया लोप हो जाते हैं। अब पंतजी के स्वर में वे आँसू नहीं दिखाई देते, जो कई छायावादी कवियों की रचनाओं के अभिन्न अंग बने हुए हैं। पंतजी को हम फिर से 'प्रकृति एवं जीवन, आशा एवं विश्वास, चेतना एवं संस्कृति के कवि'[२] के रूप में देखते हैं।

पंतजी का प्रगीत-नायक अपनी अनेक भ्रांतियों और वैयक्तिक मनोविन्यासों से मुक्त हो जाता है, अपने निजी सुख एवं कल्याण को कवि अब समस्त जनता के सुख से भिन्न नहीं मानता।

---

१. अरविन्द, 'पंत की काव्य-साधना', पृ० ११५।
२. वही, पृ० ६६।

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग जीवन की ज्वाला में गल,
वन अकलुप, उज्ज्वल औ' कोमल
अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम।

इन कविताओं में लोगों के दुःख एवं पीड़ा के प्रति सहानुभूति और पीड़ितों के दुर्भाग्य का वोझ हलका करने के लिए अपना जीवन समर्पित करने की उत्कण्ठा का स्वर भी सुनाई देता है।

'गुंजन' की रचनाओं में मानवीयता की धारा वड़ी प्रभावशाली वन पड़ी है। इस संग्रह की कई रचनाएँ सच्चे मानव-स्तुतिगान ही-सी लगती हैं।

पंतजी के मानवता-विषयक आदर्श विशेप रूप से 'मानव' शीर्षक रचना में प्रकट हुए हैं :

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने।
मेरे मानस के स्पंदन,
प्राणों के चिर पहचाने।

मानव के कारण ही तो चारों ओर सब-कुछ सुंदर और महान् दिखाई देता है। मानव प्रकृति का स्वामी है और सब-कुछ पर उसकी कृतियों की मुद्रा लगी हुई है :

सीखा तुमसे फूलों ने,
मुख देख मंद मुसकाना।
तारों ने सजल नयन हो,
करुणा किरणें बरसाना।
सीखा हँसमुख लहरों ने
आपस में मिल खो जाना
अलि ने जीवन का मधु पी
मृदु राग प्रणय के गाना !
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो
चिर आदि और चिर अभिनव !

संसार के सौंदर्य को निहारते हुए, मानव की पूर्णता पर रीझते हुए पंतजी साथ-साथ यह भी देखते हैं कि जीवन अभी कितना दूभर है; और तब उनकी कविता में दुःख एवं निराशा के स्वर आ जाते हैं :

लगता अपूर्ण मानव-जीवन।

फिर लोगों को दासता से मुक्त करने, मानव-जीवन को पूर्ण एवं समृद्ध बनाने के लिए आखिर करना क्या चाहिए ? पंतजी लिखते हैं :

चाहिये विश्व को नव-जीवन ।

वास्तविकता में क्रांतिकारी परिवर्तन के विचार से पंतजी कोसों दूर हैं। प्रकृति की परस्पर संघर्षकारी शक्तियाँ उनके लिए अपरिचित एवं अज्ञेय हैं। देदीप्यमान् सूर्य की अपेक्षा उषःकाल की कोमल गुलाबी झलक वह श्रेष्ठतर मानते हैं, उन्हें साँय-साँय करती हुई आँधी का नहीं, अपितु समीर के मंद झोंके का, प्रकृति की जगमगाती प्रफुल्लता का नहीं, पर अर्धोन्मीलित कुसुमों एवं कलिकाओं की कमनीयता का, भड़कीले रंगों की क्रीड़ा का नहीं, वरन् मंद-गुलाबी निलही धानी-रंगच्छटाओं का आकर्षण है। पंतजी के लिए सौंदर्य का आदर्श है सार्वत्रिक सामंजस्य जिसकी पूर्णतम सत्ता वह चिर नूतन एवं परिवर्तनशील, पर सदा ही यौवन एवं सौंदर्यशालिनी प्रकृति में देखते हैं।

ऐसा ही सामंजस्य कवि जन-जीवन में देखना चाहता है। वह ऐसी सामाजिक व्यवस्था के गीत गाता है, जिसमें "दुःख एवं सुख, औदास्य एवं आनन्द, भूत, वर्तमान एवं भविष्य, आधिभौतिकता एवं आध्यात्मिकता की धाराएँ मिलकर बहती रहें—तभी जाकर आदर्श समाज-व्यवस्था का उदय हो सकता है, विषमता नष्ट हो सकती है और सामाजिक निष्पक्षता की पुनःस्थापना हो सकती है।" कवि कहता है :

अविरत सुख है उत्पीड़न
अविरत दुख भी उत्पीड़न

बहुत से भारतीय साहित्यशास्त्री मानते हैं कि जिस प्रकार प्रेमचन्दजी ने हिन्दी के कलात्मक गद्य साहित्य में गांधीवादी विचार-धारा को सशक्त वाणी दी है, उसी प्रकार पंतजी काव्य-क्षेत्र में गांधीवाद के प्रबल समर्थक रहे हैं।

'जीवन रुणवाला' शीर्षक रचना में कवि 'स्वर्ण भोर' का स्वागत करता है। यह 'स्वर्ण भोर' उसे 'सार्वत्रिक सांस्कृतिक जागरण' के नवयुग का संदेशवाहक-सा लगता है। "कवि का यह आगत स्वर्णयुग में विश्वास उसके स्वर को कहीं भी अवसाद या निराशा से नहीं भरने देता।"[१]

'गुंजन' में पंतजी द्वारा अभिव्यक्त किए गए समस्त विचार एवं मनोविन्यास उनके रूपकात्मक नाटक 'ज्योत्स्ना' (सन् १९३४) में अधिक विकसित हुए हैं। वह लिखते हैं : "'ज्योत्स्ना' में मैंने इस नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को एक सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'पल्लव' कालीन जिज्ञासा तथा अवसाद के कुहासे से निखरकर 'ज्योत्स्ना' जगत जीवन के

---

१. अरविंद, पंत की काव्य साधना, पृ० ८९।

प्रति एक नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होती है।"[1]

उक्त नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है : धरती के जन-जीवन की अपूर्णता से चिंतित तथा दु:खित इंदु अपनी चिर सुंदर पत्नी ज्योत्स्ना को आदेश देता है कि वह धरती पर जाए और वहाँ अक्षय सुख, सौंदर्य एवं स्नेह के सुहावने साम्राज्य की स्थापना कर दे। नाटक के प्रथम अंक के आरंभ में संध्या और छाया नामक दो सुंदरियों के संभाषण से हमें इस आदेश का पता चलता है।

'ज्योत्स्ना' नाटक स्वच्छंदतावादी एवं कल्पनारम्य चित्रों से समृद्ध है। संध्या के सौंदर्य का एवं उसके निवास का शब्दचित्र इनमें से एक है।

संध्या का निवास-स्थान उस प्रदेश में है जहाँ हर शाम को सूर्य अस्त होता है, जो सिंदूरी रंग का है। वह निवास गेरुए रंग के प्रस्तरों से वना हुआ है। उसकी वड़ी-वड़ी खिड़कियों की चौखटों में पक्षियों के रंगविरंगे पंखों की किनारियाँ और उन पर धानी रंग के परदे लगे हुए हैं, जिनकी छटा दूर क्षितिज पर प्रतिविंवित होती है। निवास के पश्चिमी भाग से प्रवाल के विशाल पथ निकलते हैं जिन पर खड़ी मेहरावों में गुलावी मणियों के अर्धगोलाकृति तोरण टंगे हुए हैं।

संध्या गंभीर विचारों में मग्न है। इस रमणी का शांत सौंदर्य स्थिर ज्योति जैसा ही है। उसकी अनावृत, कोमल, लम्वी वाँहें लचीले कमल-नालों जैसी हैं। उसके सुनहरे वस्त्र जैसे उसके सुगठित शरीर से चिपके हुए हैं। कंधों पर सुनहरे घुँघराले केश लटक रहे हैं। संध्या घोषणा करती है कि इंदु की सुंदर पत्नी ज्योत्स्ना शीघ्र ही धरती की यात्रा करेगी और वहाँ 'आदर्श साम्राज्य' की स्थापना करेगी, जन-मानस को नए स्वप्न, नई साँस, नए सौंदर्य से भरपूर करेगी, उसमें नई शक्तियाँ, आशाएँ एवं अभिलाषाएँ जाग्रत करेगी, समस्त जीवधारी संसार में मानव को सर्वोपरि स्थान देगी और चतुर्दिक् प्रेम, सुख, सौंदर्य, संगीत इत्यादि के सागर को लहरा देगी।

दूसरे अंक में तरुण-सुंदर रजनीनाथ, जिसके सौंदर्य के आगे अगणित तारों का आलोक फीका पड़ता है, अपनी पत्नी से वार्तालाप करता दिखाई देता है। उसकी पत्नी की अपार्थिव सुंदरता पर समस्त नक्षत्र-मण्डल चकित है। धरती पर नए जीवन की सृष्टि करने के विषय में अपने पति इंदु का आदेश सुनकर वह असमंजस में पड़ती है—धरती का जीवन इतना अपूर्ण जो है। क्या केवल प्रेम तथा सौंदर्य से अशिव पर विजय पाने में उसकी शक्तियाँ पर्याप्त सिद्ध होंगी ? वह कहती है : "आनन्द और सुख धरती से उठ जा रहे हैं। विश्वास एवं प्रेम, सत्य एवं न्यायशीलता, मैत्री एवं समानता या संक्षेप में वह सब जो मानव-आत्मा का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, दुर्लभ हो रहा है। मानवता को घृणा एवं घमंड की जंगली शक्तियों ने बुरी भाँति घेर लिया है। मानवता के घुप्प अँधेरे हृदय में अंधविश्वास, अहंता और वंश, वर्ग तथा धर्म विषयक शत्रुत्व के दैत्य विनाश का भयंकर नृत्य

१. सुमित्रानंदन पंत, काव्य-कला और जीवन-दर्शन, दिल्ली, १९५७, पृ० ६।

कर रहे हैं। ज्योत्स्ना के अनुसार इस सवका कारण यह है कि "सत्ता तथा सम्पत्ति की लालचभरी पिपासा ने मानवीय व्यक्तित्व का या यों कहिए कि समस्त मानव जाति ही का अवमूल्यन कर दिया है।" धरती के निवासी लोगों के जीवन की यह राम-कहानी अपनी पत्नी के मुँह से सुनकर इंदु दुःखित हो जाता है। "जाओ रानी!" वह पुकार उठता है। "देवतागण तुम्हारे सहायक हों। तुम संसार में अवतरित होकर मानव-जाति को सत्य और ममत्व का संदेश दो।"[१]

तृतीय अंक में इंदु की पत्नी समीर तथा सौरभ को अपने साथ लेकर धरती की ओर प्रस्थान करती है। समीर जो सर्वत्र संचार कर चुका है, सव-कुछ देख चुका है और हर बात जानता है, इंदु-पत्नी को वता देता है कि धरती पर क्या हो रहा है: लोग अपने वड़प्पन तथा वल के मायाजाल में ऐसे ही फँसे हुए हैं जैसे लोहे की शृंखलाओं से जकड़े हुए हों। समीर इस वात को सवसे दयनीय मानता है कि धरती पर निरादर का साम्राज्य फैला हुआ है और "सारे लोग अत्याचारी धनियों और उनके द्वारा उत्पीड़ित अभागे, पददलित श्रमिकों में बँटे हुए हैं।" लोगों की सवसे तीव्र इच्छा यह है कि धरती पर नए 'स्वर्ण-युग' की सृष्टि हो। "पर ज्ञान तथा विज्ञान से तो लोगों को केवल संपत्ति की प्राप्ति हो सकेगी," इन्दु-पत्नी कहती है, "मानव धरती पर सुखमय एवं शान्तिपूर्ण जीवन की सृष्टि आध्यात्मिक संस्कृति के विकास द्वारा ही कर सकता है।"

धरती से कुछ ही दूरी पर इंदु-पत्नी की मनोहर मण्डली की भेंट एक टिड्डे से हो जाती है। यह टिड्डा ऐसे मानव का प्रतीक है जो पूर्णतया यंत्रशक्ति का दास है। "इस जीवधारी के शरीर के अंगों में कोई लचीलापन और मानवीय सौंदर्य नहीं है। वे केवल ऐसे यंत्र के कल-पुर्जों के समान हैं जिसमें किसी मानवीय नहीं, अपितु यांत्रिक भावना से गति उत्पन्न होती हो···" इन्हीं शब्दों में पंतजी युग के दास बने हुए मानव का चित्र खींचते हैं। समीर की कहानी में अपना स्वर मिलाते हुए, सारे वातावरण को धातुओं की खड़खड़ाहट-चरमराहट में डुवोते हुए टिड्डा इस अर्थ का गीत गाता है कि धरती पर रहने वाले समस्त जीवधारी 'लाठी की शक्ति' के अधीन हैं, सारा सभ्य संसार वस 'गाड़ी में जुता हुआ मूक भैंसा मात्र है।"

ज्योत्स्ना का हृदय लोगों के प्रति सहानुभूति की भावना से परिपूर्ण हो जाता है। समीर तथा सौरभ को स्वप्न तथा कल्पना में परिवर्तित कर वह उन्हें आदेश देती है कि वे साहित्य, संगीत, चित्रकला या अन्य शब्दों में सभी कला-प्रकारों द्वारा ऐसे आदर्श जनों की सृष्टि करें, जिनसे समस्त मानव-जाति को आत्म-विकास के पथ पर चलने की प्रेरणा प्राप्त हो।

फिर धीरे धीरे स्वप्न तथा कल्पना अर्धनिद्रित मानव-जाति के वीच

१. श्री सुमित्रानंदन पंत, 'ज्योत्स्ना', इलाहाबाद, सं० २००४, पृ० ४१।

संचार करते हैं। जन-मानस में पैठकर वे उनमें स्नेह, सहृदयता, सत्य, सुख, विश्वास, निःस्वार्थता, कृतज्ञता, मातृप्रेम इत्यादि भावनाएँ जगा देते हैं, जिनका उन्हें एक लम्वे समय से विस्मरण हो चुका है। इन्हीं भावनाओं के कारण संसार का पुनर्निर्माण होता है और वह सार्वत्रिक भ्रातृत्व-प्रेम तथा सुख के आदर्श साम्राज्य में परिवर्तित होता है। कवि मानव के सुखमय भविष्य का एक रमणीक उपवन का दृश्य प्रतिफलित होता है जिसमें भाँति-भाँति के फूल एवं फलों के वृक्ष शोभा-भार से लदे हुए हैं। शाखाओं पर तरह-तरह के पक्षी कुदक-कुदक कर कलरव कर रहे हैं। इधर-उधर हिरनों और पालतू पशुओं के निर्भीक झुंड विचर रहे हैं। बीच-बीच में छोटे-छोटे सुंदर गृह एवं पट-मंडप बने हैं। मनोहर वेशों में सुंदर-स्वस्थ वालक-वालिकाओं और युवक-युवतियों के गिरोह उपवन में टहलते एवं कुंज-वितानों में क्रीड़ा-कौतुक आमोद-प्रमोद करते, फूल चुनते, हार गूँथते, फलों का आस्वादन करते दृष्टिगोचर होते हैं।"[1]

"यह रहा मानव का नया, सुखमय भरापूरा शांतिपूर्ण जीवन", इंदु-पत्नी पुकार उठती है। इधर स्वप्न एवं कल्पना का सृजन-कार्य चलता ही रहता है। चित्रपट के-से, क्षण में सम्मुख दिखाई देने वाले और दूसरे ही क्षण अंतर्धान होने वाले लोगों की बातचीत में से आदर्श समाज-व्यवस्था, ऊर्ध्व नैतिक स्तर तथा भविष्य के स्वाधीन समाज के लोगों के आध्यात्मिक सौंदर्य के विषय में पंतजी के विचार प्रकट होते हैं।

हमारे सामने किसी चलचित्र की भाँति जीवन के विभिन्न दृश्य उपस्थित होते हैं। यह देखिए प्रेमिका के मिलन का एक दृश्य : एक सुंदर युवती सशक्त एवं सुगठित युवक के कंधे पर अपना माथा टेके हुए है। यह तरुण युगल सारे संसार को भूल गया है। उनके सुख में कोई वाधा नहीं डाल सकता। पर इधर युवती के मन में अतीत के स्मृतिचित्र जाग उठते हैं और उसके मनोहर मुखमण्डल पर दुःख की छाया की लहर दौड़ती है। वह युवक से कहने लगती है, "जानते हो, मेरा जन्म बंदीगृह में हुआ था! तव मेरी माँ राष्ट्रीय स्वतंत्रता के युद्ध में कारावास भुगत रही थी। तुम्हारे पिता ने ही उन्हें कैद किया था।...तुमसे मिलने पर मेरे हृदय में जीवन की नवीन बाढ़ उमंगें लेने लगी।" युवक उत्तर में कहता है : "उँह, उन पुरानी स्मृतियों के प्रेतों को आँखों के सामने मत आने दो।...मानव-प्रेम के नवीन प्रकाश में राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता, जाति और वर्ण के भूत-प्रेत सदैव के लिए तिरोहित हो गए हैं। इस समय देश-जाति के बंधनों से मुक्त मनुष्य केवल मनुष्य है।"[2] सच्चा प्रेम सर्वोपरि है, वह घृणा पर विजय पाता है, दुःख एवं पीड़ा को

---

१. सु० पंत, 'ज्योत्स्ना' पृ० ६०, ६१।
२. वही, पृ० ६५।

भुलाने में लोगों की सहायता करता है, उनके हृदयों को उच्च भावनाओं से परिपूर्ण कर देता है।

यह एक शब्दचित्र और देखिए : हमारे सामने एक विधवा तरुणी आती है। एक सप्तवर्षीय बालक उसकी उँगली पकड़कर चल रहा है। विधवा अपनी कहानी सुनाती है। उसके पति की मृत्यु हो चुकी है। उसकी स्मृतियाँ तो उसके मन में हैं ही, और उसको हृदय से प्यार करने वाले एक युवक के साथ वह दूसरी बार विवाह करना नहीं चाहती। जीवन का अर्थ वह एक रुग्णालय की सेवा में और अपनी मृत सहेली के अनाथ बालक के पालन-पोषण में पाती है। इस चित्र में पति-पत्नी के परस्पर विश्वास, निःस्वार्थता, कृतज्ञता, मातृप्रेम आदि नैतिक आदर्शों का पंतजी द्वारा समर्थन किया गया है। हमें यहाँ एक प्रसन्नता एवं आनन्दभरा गीत सुनाई देता है : "संसार का जीवन सतत नूतन बनता है, प्रति पल, प्रति क्षण उत्सव आता है।..."

विभिन्न देशवासियों के वस्त्र-परिधान किए हुए मैत्रीपूर्ण परिवार में एकता के साथ रहने वाले युवक-युवतियों द्वारा यह गीत गाया जाता है।

फिर हमारे सम्मुख यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों-वैज्ञानिकों का दल आता है। ये लोग कहते हैं कि पूर्व तथा पश्चिम की सांस्कृतिक विधियों के एकीकरण और एक मिली-जुली विश्व-संस्कृति के निर्माण का समय आ चुका है।

इसके पश्चात् आते हैं चटकीले-सजीले उत्सवीय वस्त्र पहने हुए किसान तथा श्रमिक, जो आनन्द एवं उत्साह-भरा गीत गा रहे हैं :

सब मानव मानव हैं समान
निज कौशल, मति इच्छानुकूल
सब कर्म निरत हों भेद भूल।

आगे श्रमिकों तथा किसानों के स्थान में हमें शिक्षाशास्त्रियों का एक दल दिखाई देता है। वे आपस में चर्चा कर रहे हैं कि जन-संस्कृति का स्तर कैसे ऊपर उठाया जाए। वे सब निर्णय पर पहुँचते हैं कि मानव की चेतना में उच्च, मानवीय आदर्शों को दृढ़मूल कराना ही प्रबोधन का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है।

तृतीय अंक के अंतिम दृश्य में कवि मानव-समाज के जीवन में साहित्य एवं कला की भूमिका से सम्बन्धित समस्या के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है। कवि, कलाकार तथा सगीतज्ञ यह विचार घोषित करते हैं कि नव मानव के निर्माण में कला को महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करनी चाहिए। उनमें से एक कहता है : "विगत युग में, कला को कला के लिए महत्त्व देते आए हैं। अब हम जानते हैं कि कला सत्य नहीं, जीवन ही सत्य है। कला में जो कुछ सत्य है, वह उसके जीवन की परछाईं होने के कारण; ...सर्वोच्च कलाकार वह है जो कला के कृत्रिम पट में जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थि-माँस की इन सजीव

प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की साँसें भरता है, उन्हें सम्पूर्णता का सौन्दर्य प्रदान करता है, उनके हृदय-प्रदीप को जीवन के प्रेम से दीप्त कर देता है।...सच्चा कवि वह है, जो अपने सृजन-प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है। अपने को जीवन के सत्य और सौन्दर्य की प्रतिमा वना लेता है।"[1]

फिर अंतिम दृश्य समाप्त हो जाता है और कल्पना तथा सौरभ द्वारा किए गए परिश्रम के लिए ज्योत्स्ना उन्हें धन्यवाद देती है। अपने विश्वासपात्र सेवकों का वह इन शब्दों में मार्गदर्शन करती है: "तुम्हें वारंवार संसार के सम्मुख वे उच्च आदर्श रखने चाहिए, जिन्हें लोग आसानी से आत्मसात कर सकें और अपने दिन-प्रति-दिन के जीवन में साकार कर सकें।"[2]

तृतीय अंक के अंत में निद्रा का आगमन होता है। यह एक अधेड़ उम्र की नारी है, जो काले रंग की साड़ी पहने हुए है। उसके मुख पर माता का पूरा दुलार झलक रहा हैं। आँखें उसकी अधमुँदी हैं। अंधेरा गहरा होता जाता है और समस्त संसार गहरी नींद में निमग्न हो जाता है। तुहिन-विन्दुओं के मोतियों से सुशोभित गगन की पालकी में ज्योत्स्ना विराजमान है और नक्षत्र-किरण-रूपी सेवक अपनी सुन्दर स्वामिनी को नभोमंडल की ओर ले जा रहे हैं।

चतुर्थ अंक का एक दृश्य इस प्रकार है: रात्रिकालीन वन में वृक्षों के तल में ऊँघती हुई छाया अपनी निद्रा को भंग करने वाले शरारती उल्लू को उसके हथकंडों, चंचल स्वभाव तथा रात्रिकालीन वन के शान्तिभंग के लिए भला-बुरा कहती है। इस उल्लू के भाषण से, उसके सारे आचरण से हमें ऐसे उजड्ड-से देहाती छोकरे का स्मरण हो आता है, जो सीधा-सादा और भोला-भाला तो अवश्य है पर साथ-साथ होशियार और फुरतीला भी है। जब सब कोई सोए हुए हैं, वह स्वयं 'पितामह ब्रह्मा' से जान गया है कि असुरगण सारा अमृत पी जाने की सोच रहे हैं। उनका विचार है कि इससे वे और अधिक शक्तिशाली बन जाएँगे और धरती पर अनंत अंधकार का साम्राज्य अंतिम रूप से पक्का कर सकेंगे। शैतान उल्लू कहता है: "ब्रह्मा दादा ने कहा कि उस अमृत का असुरों पर विलकुल उल्टा असर होगा। वे अमृत पीकर कई साल तक, बल्कि मौसी, दादा ने कहा कि युगों तक वेहोश पड़े रहेंगे, और इस बीच पृथ्वी में आदर्श युग रहेगा। कल का प्रभात उस युग का सोने का प्रभात होगा।"[3]

फिर ऊषा का आगमन होता है। धीरे-धीरे प्रकृति जाग्रत होने लगती है। वह संसार के सुन्दर भविष्य के ऐन्द्रजालिक स्वप्न देख चुकी है। जाग उठने पर वृक्ष अपने सिर हिलाते हैं और शाखाकार फैलाते हैं। सारा वन प्रदेश आनन्दमय

---

१. सु० पंत, 'ज्योत्स्ना', पृ० ८३, ८४।
२. वही, पृ० ८७।
३. वही, पृ० ६५।

स्वरों से गूंज उठता है, सब ओर गहरी साँस सुनाई देती है। रात्रि की समस्त कुरूप एवं उपद्रवकारी छायाएँ अपने साथ बीमारियों, दुःख, शोक, विपदा, दुर्भाग्य आदि को लेती हुई निविड़ झाड़-झंखाड़ों में रेंगकर चली जाती हैं। धरती पर सुखमय जीवन का निर्माण करने में प्रयत्नशील लोगों के मार्ग में रोड़े अटकाने वाला सब-कुछ उक्त छायाओं के साथ भाग खड़ा होता है। वन की निबिड़ छाया में एकत्रित होकर असुरगण चोरी करके लाया गया अमृत मानव-कपालों में भर-भरकर पीते हैं और भयंकर नारकीय संगीत के ताल पर अपना हृदयविदारक तांडव नाचने लगते हैं। इस अग्निजल के पान से उन्मत्त होकर कुत्सित असुरगण विचारशक्ति खो बैठते हैं, रेंगकर सघन वन की छाया में प्रवेश करते हैं और घोर अंधकार में अदृश्य हो जाते हैं।

ऊषा उठ खड़ी होती है। चारों ओर मंद प्रकाश फैल जाता है। इस प्रकाश का सौन्दर्य वैसा ही है जैसा भारी बीमारी से उठकर अभी-अभी सँभल रही किसी युवती का। यह युवती निर्बल, निस्तेज तो लगती है पर अपने-आप में सुन्दर भी। नए दिन के जन्म की महिमा गाने वाले स्वागत-गीतों का स्वर अधिकाधिक ऊँचा होता जाता है। "कौन है यह रहस्यमयी सुन्दरी, जो स्वर्गीय अप्सरा के-से सौंदर्य से आलोकित है, आकाश से धरती पर उतर रही है और अपनी महानता के स्वर्णिम प्रकाश-मंडल से मंडित है?" ऊषा के संदेशवाहक लावा विहग अपने गीत में घोषित करते हैं :

> नाथ, हो स्वर्ण-प्रभात !
> तुम प्रकाश, तुम हो जीवन-धन
> स्वर्ण सृष्टि के प्रात ! [१]

सूरज की सुनहरी किरणों की बौछार में ऊषा अपने भाई अरुण के साथ धरती पर उतर आती है। ऊषा की आँखें आकाश की नीलिमा लिये हुए हैं और उसके लम्बे-लम्बे खुले बाल सुनहरी रंग के हैं। अरुण एक हृष्ट-पुष्ट युवक है और उसका स्वास्थ्य उसके गुलाबी गालों पर झलक रहा है। वह किसान के-से वस्त्र पहने हुए है। ऊषा के हाथों में एक सुनहरी डाल है जिस पर नई आशाओं, नई आकांक्षाओं तथा नये सौन्दर्य के फूल खिले हुए हैं। वह नवयुग के प्रभात का आगमन घोषित कर देती है। आनन्दोल्लास भरे गीतों एवं नृत्यों द्वारा लोग धरती पर उसके आगमन का स्वागत करते हैं। फूल खिल उठते हैं और उसकी ओर अपने सौरभपूर्ण मस्तिष्क झुकाते हैं।

विहग, बालक एवं बालिकाएँ, जो चमकीले, रंगबिरंगे वस्त्र पहने हुए हैं, प्रभात-गीत गाने लग जाते हैं। सूरज की सुनहरी किरणें, जो उनके पंखों पर आरूढ़ हो रही हैं, गूँजते हुए स्वरों में उन गीतों को दुहराती हैं :

१. सु० पंत, 'ज्योत्स्ना', पृ० १००।

जागो, जीवन के आतप में
आओ, हिल-मिल खेलें जी भर
गई रात त्यागो जड़ निद्रा
खुला ज्योति का छत्र गगन पर
आतप से त्रस्त तिमिर
जीवन से ग्रस्त मरण।

नये दिन के आगमन से प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करते हुए सारा जीवधारी संसार नवयुग के सूर्य की ओर आगे बढ़ता है। नूतनीकरण एवं विकास का यह युग है।

नाटक शब्द के पूर्ण अर्थ में पंतजी के 'ज्योत्स्ना' नाटक को देखा जाए और रंगमंच पर प्रस्तुत करने के हेतु लिखी गई नाटक कृति से सामान्यतः जो अपेक्षाएँ रखी जाती हैं उनकी कसौटी पर उसे कसा जाए तो मानना पड़ेगा कि वह बहुत सीमा तक इन अपेक्षाओं को पूरा नहीं करता।

इस नाटक में कथावस्तु है, कथानक का विकास है और निश्चित संघर्ष भी है। भावात्मक एवं रूपकात्मक ढंग से दिखाया गया यह संघर्ष परस्पर-विरोधी सामाजिक शक्तियों का टकराव अभिव्यक्त करता है। यह संभाषणों, स्वगत भाषणों, वक्तव्यों तथा भारतीय नाट्यकला में स्वीकृत गीत, नृत्य आदि विशेष अभिव्यक्ति-साधनों द्वारा प्रकट होता है। पर वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो इस नाटक में कोई चरित्र-दर्शन नहीं है। इसके समस्त पात्र बस लेखक की कुछ निश्चित कल्पनाओं के थक्के मात्र हैं। इसीलिए नाटक का संघर्ष और उसके कथानक का विकास चरित्रों के टकराव एवं विकास के फलस्वरूप नहीं उत्पन्न हुए हैं, अपितु केवल लेखक की कल्पना पर निर्भर रहे हैं। यह नाटक भारतीय परम्परा के तत्वों पर आधारित है और नाट्यगृह में प्रस्तुत कराने के लिए नहीं, अपितु पठन मात्र के लिए लिखा गया है। इसके परिणामस्वरूप पंतजी ने कई बार समान साहित्य प्रकार को व्यवहृत किया है।

हिन्दी नाटक साहित्य के विकास को इस नाटक की कोई महत्त्वपूर्ण देन तो नहीं रही, पर वैसे भी उसकी अपनी विशेषता महान् है। इसमें बहुत ही स्पष्ट एवं निश्चित रूप से राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक दृष्टिकोण तथा विचारात्मक-सौन्दर्यात्मक आदर्श अभिव्यक्त हुए हैं और ऐसे अनेक जटिल विरोधाभास प्रकट हुए हैं, जो केवल पंतजी के ही नहीं, अपितु सभी भारतीय स्वच्छंदतावादी लेखकों की रचनाओं में पाए जाते हैं।

पर बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों के बहुत-से भारतीय स्वच्छंदतावादी कवियों से पंतजी इस अर्थ में भिन्न हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने को दुःख तथा विषाद की अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं रखा है। वह चतुर्दिक्

की उस वास्तविकता में भी रस लेते हैं, जो अपने में अपूर्ण तो है, पर फिर भी उन्हें अनुद्वोधनीय नहीं लगती। मानव मे और अंधकार तथा उदासी से उसकी भावी मुक्ति की अनिवार्यता में उनका विश्वास बना हुआ है। कवि कभी का समझने लग गया है कि लोगों की पीड़ा का सबसे बड़ा कारण है सामाजिक विषमता एवं अन्याय और मातृभूमि की औपनिवेशिक दासता। पर अभी वह इस बात से कोसों दूर है कि साहस के साथ दुष्ट शक्तियों को चुनौती दे, सारी शक्तियों के साथ डट-कर उनसे लोहा ले, जैसा कि उन दिनों हिन्दी के कवि 'प्रचण्ड निराला', बँगला के 'विप्लवी कवि' नज़रूल इस्लाम या उर्दू के 'क्रान्तिकारी कवि' जोश मलीहाबादी (जन्म सन् १८९४) ने किया था। पंतजी मानते हैं कि चतुर्दिक् की वास्तविकता के दोषों तथा त्रुटियों को मानव के आत्मविकास तथा उसके अंतस में उच्च मान-वीय आदर्शों की जाग्रति के मार्ग से दूर किया जा सकता है। कवि आदर्श मानव के और स्वाधीन, विकासशील समाज के समानाधिकारी सदस्यों की मित्रता, परस्पर सहयोग एवं प्रेम की भावनाओं पर आधारित नए सामाजिक सम्बन्धों के स्वप्न देखता हैं। इस प्रकार के समाज के निर्माण के लिए कवि यह आवश्यक मानता है कि बस दुःख एवं पीड़ा का सुख एवं आनन्द के साथ संतुलन भर हो—उन्हें पूर्णतया नष्ट न किया जाए। पंतजी के मतानुसार इससे धरती पर ऐसी नई, पूर्ण, विश्व-सम्यता की सृष्टि कराने की दिशा में प्रगति हो सकेगी, जिसमें "पश्चिम के बुद्धिवाद एवं भौतिकवाद का पूर्व के आदर्शवाद के साथ" सामंजस्य-पूर्ण मिलाप होगा। पंतजी की मान्यता है कि नई मानव-चेतना या विश्व मान-वतावाद का आधार 'अहिंसा' होना चाहिए। वर्तमान शती के पंचम दशक के ये विचार पंतजी की समस्त काव्य-साधना में प्रभावशील रहे हैं और इनके कारण उनके काव्य में एक नई धारा का उद्‌गम हुआ है। इस धारा को सामान्यतया नवमानवतावाद के नाम से पुकारा जाता है।

इस प्रकार 'ज्योत्स्ना' नाटक में जहाँ एक ओर पंतजी की प्रारम्भिक काव्य-साधना के सारतत्व के रूप में उनके सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोणों का विरोधा-भास, उनकी स्वप्नशीलता का काल्पनिक स्वरूप, हिन्दुत्व की धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं और गांधीजी की सुधारवादी विचारधारा के प्रति उनका झुकाव दिखाई देता है, वहाँ दूसरी ओर इस बात को भी देखे बिना नहीं रहा जा सकता कि किस प्रकार नाटक में सूक्ष्म काल्पनिकता एवं रूपकात्मकता के पीछे से कवि के उच्च मानवीय आदर्श प्रकट होते हैं, जाति की कठिन अवस्था के प्रति सहानुभूति का स्वर गूंज उठता है, सामाजिक अन्याय के विरुद्ध निषेध और संसार को परिवर्तित तथा मानव को स्वाधीन, सुखी तथा सुन्दर रूप में देखने की तीव्र इच्छा अभिव्यक्त होती है। यही कारण है कि प्रगतिशील भारतीय साहित्यशास्त्री इस वक्तव्य से सहमत

नहीं होते कि पंतजी का दर्शन निष्क्रियतावादी है[1] और मानते हैं कि 'ज्योत्स्ना' नाटक में कवि ने "ज्योत्स्ना-गुंजन काल से ही संक्रान्तिकालीन युगचेतना को वाणी देने के उनके प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे।"[2] और यह कि "वास्तव में विश्व कामना एवं मानव की महिमा से इतने ओत-प्रोत काव्य हिन्दी में अनेक नहीं हैं।"[3]

पंतजी के काव्य की स्वच्छन्दतावादी शैली का उच्चतम विकास 'ज्योत्स्ना' नाटक में देखा जा सकता है। कवि ने इसमें अपने जीवन-विषयक तथा मानव के भाग्य-सम्बन्धी दार्शनिक विचार परिपक्व कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त किए हैं। इसमें भावाभिव्यक्ति की सरलता एवं हार्दिकता का सुन्दर मिलन सूक्ष्म कल्पना तथा सुगठित भाषा के साथ हुआ है। काव्यात्मक भाषा शैली का इसमें पूर्ण विकास पाया जाता है।

सन् १९३९ में उक्त नाटक के प्रथम संस्करण की प्रस्तावना में निरालाजी ने लिखा था : "आज उन्हीं की प्रतिभा के रूप-रंग, मधु-गंध और भावोच्छ्वास की प्रशंसा से प्रतिमुख मुखर है। अब वह 'ज्योत्स्ना' में मनोहर नाट्यकार के शुचि-रूप हिन्दी-संसार के सामने आ रहे हैं। मैं गुलाब को देखता हूँ, उसके काँटों को नहीं। 'ज्योत्स्ना' में उनका पहला प्रिय, भावमय, श्वेतवाणी का कोमल कवि-रूप ही दृष्टिगोचर होता है, जिसकी सुख-स्पर्श रश्मियों की तीव्र गति, हलकी थपकियाँ युग-जागृति का सर्वोत्तम साधन हैं।"[4]

इस प्रकार वैचारिक पक्ष में विरोधाभास तथा तर्कविसंगति और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के सक्रिय तथा निष्क्रिय तानों-बानों के होते हुए भी 'ज्योत्स्ना' नाटक पंतजी के काव्य में साधारण तौर पर प्रगतिशील वैचारिक-सौंदर्यात्मक दिशा का दिग्दर्शन करता है। 'ज्योत्स्ना' नाटक का उचित मूल्यांकन न करने का परिणाम यह होता है कि वर्तमान शती के तृतीय दशक के अन्त में और चतुर्थ दशक के आरम्भ में पंतजी द्वारा लिखी गई रचनाओं की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के विकास के सर्वसाधारण स्वरूप के सम्बन्ध में ठीक धारणा नहीं बन सकती। उदाहरणार्थ, श्री व० इ० बालिन के एतत्संबंधी निबन्ध में ऐसा ही हुआ है। इस लेखक का यह कथन कि "आगे चलकर (अर्थात् 'पल्लव' के बाद ये० चे०) उनकी रचनाओं में अधिकाधिक निश्चित रूप से दुःख-शोक के स्वर सुनाई देते हैं,"[5] केवल

---

१. उदाहरणार्थ, डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं : "कुछेक आलोचक मानते हैं कि पंतजी का दर्शन निष्क्रियतावादी है, पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है" (नगेन्द्र, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३९)।

२. ज्योत्स्ना, पृ० १।

३. अरविंद, पंत की काव्य-साधना, पृ० ८५।

४. नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० १२२।

५. व० इ० बालिन, सुमित्रानंदन पंत—स्वच्छन्दतावादी एवं यथार्थवादी, पृ० ४८।

ग़लतफ़हमी का परिणाम ही माना जा सकता है। पंतजी के तत्कालीन काव्य का मूल्यांकन करते हुए श्री अरविन्द हमारी दृष्टि में इस पूर्णतया उचित निर्णय पर पहुँचते हैं कि "अपनी जागरूकता में, मानववादी मान्यताओं में, आशावाद में, उत्तरोत्तर विकसित काव्य-शैली में अवश्य ही कवि प्रगतिशील है।"[1]

---

१. अरविंद, पंत की काव्य-साधना, पृ० ८६।

४

पंत की स्वच्छन्दतावादी शैली की विशेषताएँ और सौंदर्यविषयक दृष्टिकोण

'ज्योत्स्ना' नामक स्वच्छन्दतावादी नाटक के साथ पंतजी की काव्य-साधना का प्रथम कालखण्ड समाप्त होता है। भारतीय साहित्यशास्त्री इसे कभी-कभी 'सौंदर्य युग' या 'छायावादी युग' कहते हैं। पंत काव्य के एक प्रसिद्ध शोधक श्री गोपाल कृष्ण कौल इस युग के विषय में यों लिखते हैं : "उस समय समाज में और राजनीति में एक विद्रोही भावना का जन्म हो गया था जिसका प्रवेश कला और सौंदर्य के क्षेत्र में भी हुआ, क्योंकि साहित्य जीवन के प्रभाव से पृथक् नहीं रह सकता। इसलिए कलाकार ने रूढ़िगत रीतिकालीन काव्य-परम्परा से विद्रोह किया, प्राचीन काव्य-भाषा (व्रजभाषा) से विद्रोह करके खड़ी बोली को काव्योचित कोमल और प्रवाहपूर्ण बनाया और स्थूल से विद्रोह करके सूक्ष्म को अपनाया। इन विद्रोही प्रवृत्तियों के काव्य-प्रवर्त्तकों में पंत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन प्रारम्भिक रचनाओं में प्राचीन शैली के प्रति विद्रोह और नवीन काव्य-शैली के निर्माण की सफलता की झलक है। छन्द, भाषा और भाव सभी में पंत ने प्राचीन के प्रति विद्रोह कर नवीन को अपनाया, स्थूल को त्याग सूक्ष्म को ग्रहण करने का प्रयत्न किया।"[१]

इस काल-खण्ड की पंतजी की रचनाओं को सामान्यतः छायावादी काव्य में गिना जाता है। इसी काल में सर्वश्री निराला तथा प्रसाद द्वारा निर्मित रचनाओं के साथ मिलकर पंतजी की कविता ने हिन्दी की इस नई धारा की ठोस नींव डाली है।

---

१. गोपालकृष्ण कौल, पंत के काव्य में तीन युग, सुमित्रानंदन पंत, 'काव्य-कला और जीवन-दर्शन' नामक पुस्तक में, दिल्ली, १९५७, पृ० १३१।

अपने नवीनतापूर्ण प्रयत्नों का सैद्धान्तिक विवेचन पंतजी ने 'पल्लव' (सन् १९२६) की प्रस्तावना में किया है। रीति-काव्य के वैचारिक-सौंदर्यात्मक पक्ष के कट्टर समर्थक और हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि श्री रत्नाकर (१८६६-१९३२) द्वारा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में दिये गए भाषण ने पंतजी को यह प्रस्तावना लिखने के लिए प्रवृत्त किया। वाद-विवादात्मक ढंग से लिखी गई यह प्रस्तावना अपने-आप में एक घोषणा-पत्र ही बन गई, जिसने हिन्दी काव्य की नई धारा के जन्म एवं अस्तित्व के अधिकार की घोषणा की और उसकी प्रस्थापना की। यह धारा आगे चलकर छायावाद कहलाई। उक्त प्रस्थापना पंतजी की वस्तुतः पहली ही साहित्य-शास्त्रीय कृति है। इसमें पंतजी द्वारा उन नए सौंदर्यविषयक तत्वों की प्रस्थापना तथा समर्थन किये गए हैं, जो उनकी रचनाओं में मार्गदर्शक तत्व बने हुए हैं। काव्य के स्वतन्त्र विकास में बाधा डालने वाले जीर्ण-शीर्ण सिद्धांतों का आलोचनात्मक विश्लेषण भी इसमें किया गया है। हिन्दी साहित्य में एक महत्त्व-पूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हुए इस प्रस्तावना ने नई धारा का मार्ग प्रशस्त किया और श्रृंखला सदृश काव्य-सिद्धान्तों से मुक्ति पाने में उसकी सहायता की। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे अनेक भारतीय साहित्यशास्त्री इसे आधुनिक भारत के सौंदर्यात्मक विचार के विकास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चरण मानते हैं।

कविता जीवन से पीछे या पृथक् नहीं रह सकती है, इसी विचार से उक्त प्रस्तावना अनुप्राणित है। कविता को चाहिए कि वह नए युग का स्वर बन जाए, समाज की अग्रगामी शक्तियों के आदर्शों को वाणी दे, चतुर्दिक् की सृष्टि का अर्थ भली-भाँति और अधिक गहराई के साथ समझ लेने में मनुष्य की सहायता करे, उसमें सौंदर्य भाव जाग्रत कर दे। पंतजी बल देकर कहते हैं: "आशा है विश्वविद्या-लय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक, बेचारे देव और बिहारी में कौन बड़ा है, इसके निर्णय के साथ उनके भाग्यों का निबटारा करने तथा 'सहित' शब्द में ष्यञ् प्रत्यय जोड़कर साहित्य की सृष्टि करने में व्यस्त हैं, तब तक हिन्दी में अंग्रेजी ढंग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।"[1]

पंतजी के शब्दों में कविता को अब कुछ इने-गिने सुरुचि-सम्पन्न लोगों का एक मनोरंजन का साधन मात्र बनकर नहीं रहना चाहिए। उसे तो जाति के हितार्थ सेवारत होना चाहिए। भारत में अनेक शताब्दियों से प्रसृत कृत्रिम कविता की कठोर आलोचना पंतजी ने इन शब्दों में की है: "ब्रजभाषा की कविता में अधिक कृत्रिमता आने का एक मुख्य कारण यह समस्या-पूर्ति भी है। क्या कवि की विश्व-व्यापी प्रतिभा को तागे की सुई की आँख में डाल देना ही कविता है? सरकस के खिलाड़ियों की तरह दूर से दौड़ लगाकर शब्दों के एक कृत्रिम परिमित वृत्त के

१. श्री सुमित्रानंदन पंत, पल्लव, पाँचवाँ संस्करण, प्रयाग, सं० २००६, पृ० १-२२।

भीतर से होकर उस पार निकल जाना ही कवि का काम है ? क्या बहुपतियों को वरने की असभ्य प्रथा, कलंक की तरह हिन्दी द्रौपदी के भाल पर सदा के लिए लगी ही रहेगी ? उस लक्ष्य-वेध का, इस तुकवन्दी की चाँदमारी का अब भी अन्त नहीं होगा ?"[१]

कविता के विकास की मन्दी का एक कारण पंतजी के अनुसार यह है कि भारत में सच्चे अर्थ में आधुनिक साहित्यिक आलोचना का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। वह लिखते हैं : "जब तक हमारी साहित्यिक आलोचना नए समय की आत्मा के अनुकूल नहीं होगी, जब तक वह विश्व-साहित्य के सशक्त स्वर में अपना स्वर नहीं मिलाएगी, तब तक आधुनिक हिन्दी साहित्य के सफल विकास की प्रतीक्षा करना व्यर्थ होगा।"[२]

सामाजिक-राजनीतिक जीवन के सभी क्षेत्रों में और विशेषकर विश्वविद्यालयीन शिक्षा के क्षेत्र में, हिन्दी भाषा के विस्तृत प्रसार में पंतजी राष्ट्रीय साहित्य के सफल विकास की प्रत्यक्ष भूमि देखते हैं।

पंतजी के सौंदर्य-विषयक दृष्टिकोणों की समस्त प्रणाली में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान काव्य के रूप एवं विषय-वस्तु से संबंधित समस्या का है। आधुनिक हिन्दी काव्य में सबसे पहले पंतजी ने ही यह विचार प्रस्तुत किया कि रूप एवं वस्तु की अंगभूत एकता के बिना उसकी सौंदर्यात्मक पूर्णता निरर्थक है। उत्तर-मध्ययुगीन भारतीय काव्य में काव्यरूप के विषय में यह धारणा बहुप्रचलित थी कि काव्य रूप, वास्तविक विषय-वस्तु से स्वतंत्र, अपने-आप ही में मूल्यवान् है। इसकी आलोचना करते हुए पंतजी बल देकर कहते हैं कि रूप अपने-आप में सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने-आप में काव्य का लक्ष्य नहीं है। उसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि वह सबसे विस्तृत श्रोतृगण के लिए सहजगम्य भाषा और काव्य-विषयक साधनों का प्रयोग करते हुए विषय को अधिक अच्छे ढंग से सुस्पष्ट कर दे। वह लिखते हैं : "हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा-संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता में भावों के प्रगाढ़ संगीत के साथ भाषा का संगीत भी पूर्ण परिस्फुट होना चाहिए तभी दोनों में सन्तुलन रह सकता है।"[३]

पर हिन्दी कविता को नए पथ पर अग्रसर कराने के लिए चरित्र-चित्रण एवं वर्णन साधनों की समूची प्रणाली के आमूल पुनर्निर्माण तथा नूतनीकरण की आवश्यकता थी। ये साधन थे भाषा, शैली और कविता का सारा रूपविधान ही।

---

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० १४-१५।
२. वही, पृ० ३६।
३. वही, पृ० २६।

इस पुनर्निर्माण का भार रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महारथी के कन्धे ही वहन कर सकते थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नवीनतापूर्ण कविता के मूल में वास्तविकता के कलात्मक उद्घाटन के नए सिद्धांत निहित थे। यह सही है कि रवीन्द्र की यह कविता पंतजी के लिए इस बात का उज्ज्वल उदाहरण रही कि किस प्रकार रूप-विधान को चतुर्दिक् के संसार एवं मानवीय भावों के सुस्पष्ट तथा सर्वांगीण उद्घाटन के उद्देश्य का अनुगामी बनाए रखकर नए आशय को पूर्ण विकसित कलात्मक रूप में ढाला जा सके। पर ध्यान रहे कि पंतजी की कविता गुरुदेव की कविता का कोरा अनुकरण मात्र नहीं है, क्योंकि वह भली-भाँति जानते थे कि बँगला काव्य में गुरुदेव द्वारा लाई गई नवीनता की केवल यांत्रिक प्रतिकृति उतारने से हिन्दी कविता की प्रगति कराना संभव नहीं है।

पंतजी की नवीनता और पुरानी परिपाटी के प्रति उनकी निषेध भावना सबसे पहले कलात्मक रूपविधान के क्षेत्र में ही प्रकट हुई है।

पर यह समझना ठीक नहीं होगा कि पंतजी ने अतीत की भारतीय काव्य-कला को पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया हो। चर्चात्मक ढंग से काव्य-साधना के नए सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए भी पंतजी ने समृद्ध भारतीय काव्य-परम्परा की उत्कृष्ट उपलब्धियों की उपेक्षा नहीं की। नवीनताप्रिय कवि के सम्मुख एक महान् तथा कठिन कार्य था। यह था भारतीय काव्य की युग-युग से चली आई, सूक्ष्मतापूर्वक विकसित कलात्मक वर्णन-साधनों की प्रणाली को आलोचनात्मक ढंग से स्पष्ट करना, उसमें जो कुछ मूल्यवान् तथा नवयुगानुकूल है उसे स्वीकृत करना, उसमें से कुछ बातों को नया रूप देना और जीर्ण-शीर्ण, कालविपर्ययपूर्ण तथा नई कविता के स्वतन्त्र विकास में बाधा डालने वाले तथ्यों को अस्वीकृत कर देना। काव्यात्मक अभिव्यक्ति के नए रूपों, मार्गों एवं साधनों के विकास में पंतजी की नवीनता इसीलिए उत्पादनशील तथा अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई कि परम्परा के साथ उसका निकट संबंध रहा है।

सभी संभव अलंकारों की जटिल प्रणाली भारतीय कविता के कलात्मक रूप-विधान का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रही है। 'नाट्यशास्त्र' से लेकर अनेकानेक भारतीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इस प्रणाली का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। इस विषय में कुंवर सूर्यवली सिंह लिखते हैं: "भारतीय काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है इसका पता इसी से लग जाता है कि काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र भी कहते हैं—मानो अलंकार काव्य का पर्याय है···अलंकारविहीन काव्य उष्णताहीन अग्नि है।" [1]

---

१. कुंवर सूर्यवली सिंह, हिन्दी कविता, बनारस, १९५४, पृ० १६२।
(आगे कुं० सिंह, हिदी कविता)।

हिन्दी काव्य में अलंकारों का विशेष विस्तृत प्रसार उत्तर मध्ययुग में रहा। अलंकारों के कारण उस समय कविता का स्वरूप मात्र जटिल औपचारिकता-पूर्ण रहा। नई परिस्थितियों के अन्तर्गत कविता में अलंकार निर्णयकारी भूमिका नहीं प्रस्तुत कर सकते···क्योंकि, कुंवर सूर्यवली सिंह के अनुसार, "अलंकार काव्य के शोभाधायक गुण हैं न कि काव्य की आत्मा। अलंकारों से काव्य-शोभा का उत्कर्ष होता है जिस प्रकार आभूषणों से रूप-शोभा की श्रीवृद्धि होती है।"[१]

पंतजी ही सर्वप्रथम हिन्दी कवि रहे हैं जो आधुनिक हिन्दी कविता में परंपरागत अलंकारों की भूमिका एवं उपयुक्तता का ठीक मूल्यांकन कर सके हैं और उन अलंकारों का चयन कर सके हैं जो नई परिस्थितियों में अधिक-से-अधिक सफलतापूर्वक प्रयुक्त किए जा सकते हैं। काव्य-रूप के अन्य अंगों की भाँति अलंकारों की ओर भी पंतजी इसी दृष्टिकोण से देखते हैं कि आशय के सर्वोत्तम उद्घाटन में वे कहाँ तक समर्थ हैं। तथाकथित आलंकारिक काव्य के पृष्ठपोषकों की आलोचना करते हुए वह लिखते हैं: "ब्रजभाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौंदर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं! उस 'सूधे पाँय न धरि सकत शोभा ही के भार' वाली ब्रज की वासक-सज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से दवा दिया गया।"[२]

पंतजी अलंकारों को काव्य के केवल बाह्य रूप को चमकाने-दमकाने वाला साधन मात्र नहीं मानते। उनके अनुसार, "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं; भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं।···जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्च्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए नहीं होती हैं और विशेष स्वर के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, शब्द-शक्तियों तथा छंदों के सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।"[३]

सबसे अधिक विस्तृत और सृजनशील रूप में पंतजी अर्थालंकारों के कुछ प्रकारों और विशेषकर सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग करते हैं। पंतजी की काव्य-साधना के कुछेक शोधक ठीक ही कहते हैं कि उनकी काव्य-शैली की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें परंपरागत भारतीय काव्य-साधनों और

---

१. कुं० सिंह, हिंदी कविता, पृ० १६१।
२. सु० पं०, पल्लव, पृ० १८।
३. वही, पृ० १६।

पश्चिमी यूरोप से अपनाई गई पद्धतियों का अभिन्न संगम हुआ है। पंतजी द्वारा उपयोजित अर्थालंकारों के स्वरूप के विषय में भी यही कहा जा सकता है। प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतीय काव्य में बहुतायत से प्रयुक्त सादृश्यमूलक अलंकारों के मूल में ऐसी दो घटनाओं या वस्तुओं की तुलना होती है जो पूर्णतया निश्चित और स्थिर विशिष्ट संबंध सूचित करती हैं। यही कारण है कि भारतीय काव्य में कई समानरूप प्रतीकों का विस्तृत प्रचलन रहा है। उदाहरणार्थ, कमल को कोमलता या सौंदर्य का, अग्नि को वेग या क्रोध का, सागर को अलक्ष्य विस्तार या गंभीरता का, चातक को अक्षय निःस्वार्थ प्रेम या आत्मार्पण का प्रतीक माना जाता है। ऐसे ही अन्य कई प्रतीक हैं। कवियों ने इन सभी प्रतीकों का प्रयोग ठीक परंपरा की माँग के अनुसार ही किया है। उनमें कुछ मौलिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न उन्होंने कदाचित ही किया है।

पंतजी के काव्य में प्रयुक्त परंपरागत प्रतीकों में अनेक बार कुछ और ही वैचारिक वज़न रहता है, उनमें मानव के किन्हीं भावों या अनुभूतियों के प्रति इंगित निहित रहता है। अपनी आकस्मिकता एवं अद्‍भुतता से पाठक को चकित करने वाले अर्थालंकार उनकी रचनाओं में तीव्र भावुकता तथा कल्पना-रम्यता का वातावरण उत्पन्न करते हैं। इसमें कुछ शोधकों को पश्चिमी यूरोपीय अभिव्यक्तिवाद के प्रभाव की झलक दिखाई देती है।[1] ऐसे अलंकार कवि ने परंपरागत भारतीय काव्यशास्त्र से नहीं, अपितु चतुर्दिक् की वास्तविक सृष्टि से लिये हैं।

पंतजी की कविता की नवीनता तथा मौलिकता यह है कि उसमें मूलभूत सादृश्यमूलक अलंकार उपमा एवं रूपक एक विशेषता रखते हैं। वास्तविकता के प्रतीकात्मक रूपांकन में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने वाले ये साधन उनकी कविता में रहस्यमयी, सतत परिवर्तनशील प्रकृति के और चित्रविचित्र रंगों में रंगी हुई चिर सुंदर, सूक्ष्म काव्य-कल्पना के स्वरूप की आम रंगत में एक निखार ला देते हैं। इस प्रकार पर्वतीय वायु वंसरी बजाने वाले चरवाहे के रूप में प्रस्तुत होता है, नवजात शिशु की तुलना कवि उस कोमल, अर्धोन्मीलित वासंतिक कलिका के साथ करता है जो "अभी यह नहीं जानती कि उसमें कैसे सौंदर्य एवं सौरभ की निधि छिपी हुई है," या फिर उसकी तुलना की जाती है नवजात पर्वतीय निर्झर के साथ जो शुद्ध तथा पारदर्शी है और विना कुछ सोचे-विचारे अज्ञात पथ पर उछलता हुआ आगे बढ़ता रहता है। वायु उनकी कविता में आकाश की एक विशाल लहर बन जाता है, तो जलप्रपात नीरव पर्वत का गूंजता हुआ गीत, जबकि आकाश का तारा बन जाता है अतिसुन्दर दिव्य विहंग। ऐसे और कई उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

---

१. उदाहरणार्थ, नगेन्द्र (देखिए नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० ५६)।

'ग्रंथि' शीर्षक अपनी रचना में पंतजी ने विविध उपादानों का विस्तृत प्रयोग किया है। यहाँ इन्होंने एक विशेष रंग भर देने वाले प्रधान साधनों से काम लिया है। इनके कारण प्रकृति-चित्रों को एक विशेष प्रतीकात्मक स्वरूप प्राप्त हुआ है। दूर से वहती चली आई वयार के कारण नदी के प्रवाह पर उठने वाली हलकी तरंगों की तुलना कवि ने किसी सुप्त युवती की अचानक जाग्रति के साथ की है, जबकि आँखों में धुँधलाहट लाने वाले अश्रुओं की तुलना की है उन हलके वादलों के साथ जो क्षण-भर के लिए सूर्य को ढाँप देते हैं; या फिर शोकगीतों, क्षणिक आकांक्षाओं, अस्पष्ट मृगजल, कोमल सुगंध इत्यादि के साथ।

कभी-कभी तो पूरी रचना उपमा पर उपमाओं की एक माला ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर देती है। उदाहरणार्थ, 'छाया' शीर्षक कविता को लीजिए। इसमें उपमा पर उपमा प्रस्तुत कर कवि मानव के भावों एवं अनुभूतियों के संसार के साथ प्रेरणादायी प्रकृति की विभिन्न घटनाओं के अभिन्न सम्वन्ध के वातावरण की सृष्टि करता है। छाया यहाँ पर जैसे सजीव हो उठती है, भावों एवं चेतना से परिपूर्ण हो जाती है :

धीरे-धीरे संशय से उठ
बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि-भोर।

जब कवि नारी की प्रतिमा खींचता है, जो अखण्ड रूप से प्रकृति से संबद्ध रहती है, उस समय सौंदर्य एवं रहस्यमयता, उच्चता एवं कोमलता की आम छटा के निर्माण में उपमाएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती हैं। अन्य शब्दों में, वे जैसे नारी के उन गुणों में गहराई भर देती हैं जो कवि के सौंदर्यात्मक आदर्श के लिए सबसे अधिक अनुकूल होते हैं :

गूढ़ कल्पना-सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय सी।
ऋषियों के गम्भीर हृदय सी
वच्चों के तुतले भय सी।

'पल्लव' शीर्षक सुप्रसिद्ध रचना की श्रेष्ठ काव्यात्मकता का श्रेय मुख्यतया भावुकता से ओतप्रोत उन उपमाओं को ही है (नव पल्लवों की नवजात शिशुओं से की गई तुलना उल्लेखनीय है) जो दिव्य चेतना से अनुप्राणित प्रकृति एवं मानव की सामंजस्यपूर्ण एकता का चित्र प्रस्तुत करती हैं।

पंतजी की रचनाओं में समासोक्ति और अन्योक्ति जैसे परम्परागत अर्थालंकार भी देखने को मिलते हैं। इनका निर्माण परंपरित रूपकों के आधार-तत्त्व पर होता है। इनके लाक्षणिक अर्थ का आधार होता है कोई विशिष्ट अंतः-

प्रवाह, अस्पष्ट इंगित, प्रच्छन्न अर्थ या फिर प्रतीकात्मक समानता। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि पंतजी के लगभग प्रत्येक प्रकृति-चित्र में प्रच्छन्न अर्थ निहित रहता है, और किन्हीं मानवीय अनुभूतियों की छटाएँ उभर आती हैं। उदाहरणार्थ, 'पल्लव' शीर्षक कविता में, जाग्रत हो रहे वासंतिक वन के लाक्षणिक वर्णन में मानव के जागरणोन्मुख भावों के प्रति इंगित स्पष्ट रूप से गूँज उठता है। कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमें पंतजी के काव्य की रूपकात्मकता तत्क्षण स्पष्ट नहीं होती और किसी-किसी उपकरण के प्रच्छन्न अर्थोद्‍घाटन के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, संदेह भावना की अभिव्यक्ति के लिए पंतजी द्वारा निर्मित यह रूपकात्मक वातावरण देखिए :

निद्रा के उस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया
दृग-पलकों में विचर रही, या
वन्य देवियों की माया।

चाँदनी का रूपांकन कवि प्रकृति के निम्नांकित मानवीकृत चित्र के रूप में करता है :

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव अनिमिष एकाकिनि।

प्रच्छन्न अंतःप्रवाह को लिये इस प्रकार के काव्यात्मक चित्रों के प्रयोग से कवि को विभिन्न घटनाओं की तुलना करने, विविध वैचारिक छटाओं के जटिल समूहों की सृष्टि करने और भावों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को अत्यधिक उज्ज्वल बनाने का अवसर मिलता है।

परंपरागत भारतीय अलंकारों में किसी घटना का स्पष्टीकरण दूसरी घटना के सहारे कराने के उद्देश्य से दो घटनाओं की समानता का क्रम नियमतः निराकार से साकार की ओर होता है। उदाहरणार्थ, तुलसीदासजी की रामायण में हृदय की समानता निवास के साथ दिखाई गई है जबकि रामचन्द्रजी के भावों की तुलना वन में बेतहाशा दौड़ने वाले वन्य हाथी के साथ की गई है। पर पंतजी की कविता में इसके विपरीत तुलना का क्रम साकार से निराकार की ओर होता है जिससे उनके काव्यात्मक रूपांकन एवं उपकरणों को एक अपार्थिवता की विशाल भावनात्मक परिपुष्टि का स्वरूप प्राप्त होता है।

गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर।

परम्परागत भारतीय अर्थालंकारों से सम्बन्ध जारी रखने वाले उपकरणों के साथ-साथ पंतजी ऐसे काव्यात्मक साधनों का भी विस्तृत प्रयोग करते हैं जो यूरोपीय कविता का एक साधारण अंग होते हैं और जिनका आधार होता है शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग। शब्द की अनेकार्थकता पर आधारित मानवीकरण एवं विशेषणों का प्रयोग पंतजी विशेष विस्तृत मात्रा में करते हैं। यह सही है कि शब्दों की अनेकार्थकता का प्रयोग ऐसी कोई तत्त्वतः नई बात नहीं है जो पहले भारतीय काव्य के लिए अपरिचित रही हो। पर उत्तर मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में इन साधनों का प्रयोग मात्र बाह्य काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता था जबकि पंतजी के काव्य में इनका प्रयोग आशय के अधिकतम प्रभावशील उद्-घाटन के एकमात्र लक्ष्य को दृष्टिगत रखकर ही किया जाता है। वैसे पंतजी द्वारा प्रयुक्त कोई भी विशेषण लीजिए, उसमें ऐसी चित्रमयता होती है जिससे उनकी रचना में प्रेरणात्मक एवं भावात्मक प्रभाव का रंग बल पाता है और निखर उठता है। 'स्वप्न का मौन चुंबन,' 'आँसुओं से भीगा हुआ गीत', 'नीरव पीड़ा और उसकी मुखर शांति' इत्यादि उदाहरण इस सम्बन्ध में दिए जा सकते हैं।

इसी प्रकार पंतजी मानवीकरण का भी विस्तृत प्रयोग करते हैं। पर वह केवल मानवीय भावों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रकृति की प्रतिमाओं का उपयोग नहीं करते—ऐसा उपयोग तो उनसे पहले भी भारतीय कविता में विस्तृत मात्रा में प्रचलित था। वस्तुतः पंतजी के समस्त प्रकृति-विषयक गीत-मुक्तक मानव की उपस्थिति की भावना से अनुप्राणित हैं। ऊषा उन्हें प्रियतमा की मुसकान का स्मरण दिलाती है, फूलों की खिलती हुई पंखुड़ियों में उन्हें शिशु के कोमल होंठ दिखाई देते हैं और क्षितिज पर उभरने वाले हिम-शिखर उन्हें किसी शुभ्र-वदना सुन्दरी की मुसकान-से लगते हैं। ऐसे ही अन्य प्रतीक भावुकता की वह परिपुष्टि उत्पन्न करते हैं जिसकी सौंदर्य की दृष्टि से कोई बराबरी नहीं कर सकता। पंतजी के समस्त काव्य का यह एक अभिन्न गुण-विशेष है। कभी-कभी ये प्रतीक अपनी अभिव्यंजना-शक्ति के कारण असाधारण-से लगते हैं और उन्हें समझ लेना कुछ कठिन-सा मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ, विहग उनके लिए विटप-बालिका है, तो लहर है सलिल-बालिका।

अंग्रेज़ी काव्य से अपनाए गए प्रतीक भी पंतजी की रचनाओं में देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरों में
भर अपना सन्देश उरों में औ' अधरों में

स्पष्ट है कि उक्त दो पंक्तियों में 'भर अधरों में' शब्द 'to open lips' के अर्थ में प्रयुक्त है और पंतजी ने हिन्दी के प्रचलित 'मुँह खोलना' के स्थान में उसका प्रयोग किया है। अंग्रेज़ी मुहावरों के प्रतिरूपों का प्रयोग भी पंतजी के

काव्य में पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ : 'जीवन का पहला पृष्ठ', 'विचारों में बालकों की साँस'। पर पंतजी की कविता में, और वैसे देखा जाए तो समस्त छायावादी काव्य ही में, मुहावरेदारी का उतना विस्तृत प्रचलन नहीं है, जितना कि वह उर्दू शायरी में है। कुछ भारतीय साहित्यशास्त्री इस बात को हिन्दी कविता की एक कमी ही मानते हैं।

श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार " 'पल्लव' की भूमिका से पंत की उस महत्त्वपूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया का पता चलता है जिसके द्वारा उन्होंने शब्दों की प्रकृति, उनकी अर्थ-बोधन क्षमता, उनके अर्थों के भेदक पहलुओं की विशिष्टता, छन्दों की प्रकृति, तुक और ताल का महत्त्व आदि को समझा था और समझने के बाद काव्य में प्रयोग किया था।"[१] कई बार यह अनुभव होता है कि पंतजी की समस्त समृद्ध काव्य-कल्पना पूरी रचना के किसी एक शब्द ही में केन्द्रित रहती है। ऐसे भाव-परिपुष्ट शब्द पंतजी के काव्य में समृद्ध मात्रा में मिलते हैं। 'एक शब्द-चित्र' का स्पष्टीकरण डॉ० नगेन्द्र 'एक ही शब्द से अंकित चित्र' इन शब्दों में देते हैं। पंतजी भाषा के सूक्ष्म भावों, शब्द की विभिन्न अर्थच्छटाओं के धनी हैं और हिन्दी के सुसमृद्ध शब्द-भण्डार का उपयोग बड़े ही कलात्मक ढंग से करते हैं। हिन्दी की साहित्यिक भाषा के विकास को उनकी जो देन है उसका मूल्यांकन जितना ऊँचा किया जाए उतना कम ही है। डॉ० नगेन्द्र ठीक ही कहते हैं कि पंतजी की सेवा सबसे पहले इसी बात में निहित है कि "जिस खड़ी बोली का रूप अनस्थिरता के वाग्जाल से निकालकर हरिश्चन्द्र ने स्थिर किया और मैथिलीशरण गुप्त ने जिसे प्रांजल और मधुर बनाकर काव्योचित रूप दिया, उसकी समस्त शक्तियों को विकसित एवं गूढ़ निधियों को प्रकाशित करने का श्रेय पंतजी को ही है।"[२]

पंतजी की सूक्ष्मता से विकसित काव्य-भाषा के, उनकी कविता की सरलता एवं अपार्थिवता के मूल में 'हज़ारों टन शाब्दिक कच्ची धातु' के शोधन-परिमार्जनार्थ किए गए महत् प्रयत्न निहित हैं।

समुचित शब्द-चयन पर पंतजी सर्वोपरि ध्यान देते हैं। अभिव्यक्तिशील, अनेकार्थक, संस्कृत तत्सम शब्दों को प्राथमिकता देते हुए भी वह अपने को इस चौखटे तक ही सीमित नहीं रखते जैसा कि हिन्दी के कुछ आधुनिक कवियों की रचनाओं में देखा जाता है।

काव्यात्मक अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशील बनाने के हेतु बोलचाल के शब्दों के साथ-साथ ही ग्रांथिक-साहित्यिक शब्दों का समांतर रूप से प्रयोग तो पंतजी की काव्य-भाषा का एक विशेष स्वरूप है। उदाहरणार्थ, 'अकेली सुंदरता कल्याणी' वाक्यांश में संस्कृत के साहित्यिक 'एकांत' (पूर्ण) शब्द के बदले उन्होंने

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, दिल्ली, १९५२, पृ० ४३४।
२. नगेंद्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० ६२।

बोलचाल के 'अकेली' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे रचना में शैली की दृष्टि से एक विशेष व्यतिरेक उत्पन्न होता है, अकेलेपन के मनोविन्यास में गहराई आती है।

शब्द-योजना विषयक अपने कार्य में पंतजी परंपरागत भारतीय शब्दालंकारों का भी सहारा लेते हैं। विशेष विस्तृत रूप में वह यमक शब्दालंकार का प्रयोग करते हैं। 'ग्रंथि' शीर्षक रचना की ये दो पंक्तियाँ देखिए :

तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

यहाँ प्रथम पंक्ति में 'तरणी' शब्द सूर्य के अर्थ में प्रयुक्त है, जबकि दूसरी पंक्ति में 'नाव' के अर्थ में। इस प्रकार दो भिन्न अर्थों में एक ही शब्द के प्रयोग से नाटकीय वातावरण अधिक प्रभावशील हो उठता है। निम्नांकित और दो पंक्तियों में भी यह देखा जा सकता है :

घूमता है सन्मुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन-चक्र।

यहाँ 'सुदर्शन' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है—एक बार विशेषण 'सुन्दर' के अर्थ में और दूसरी बार श्रीकृष्ण के एक नाम के रूप में। इस प्रयोग से रचना के रहस्यमय एवं प्रेरणादायी वातावरण में और गहराई आती है।

शब्दालंकार का एक और प्रकार भी पंतजी के काव्य में देखने को मिलता है। यह है श्लेष। काव्यात्मक संदर्भ में एक ही बार किसी अनेकार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा व्यंजनापूर्ण अर्थ सूचित करने का कार्य इस अलंकार में किया जाता है। उदाहरणार्थ :

दीनता के ही प्रकंपित पात्र में
दान का कर छलकता है प्रीति से

अनेकार्थक शब्द 'पात्र' क्षण में 'बर्तन' तथा क्षण में 'हृदय' के प्रति संकेत कर कविता में एक प्रच्छन्न आशय भर देता है।

पुनरुक्ति शब्दालंकार का प्रयोग भी पंतजी ने विस्तृत मात्रा में किया है। इससे उनकी रचनाओं में भावात्मक गहराई तथा पुनरावृत्त शब्द की प्रभावशीलता बढ़ती है। पुनरावृत्त शब्द-रचना का वैचारिक केन्द्र जो बन जाता है। देखिए :

विहग, विहग !
फिर चहक उठे पुंज-पुंज
चिर सुभग-सुभग।

भाषा के समस्त माध्यमों को काव्य के आशय के सर्वांगीण उद्घाटन के एकमात्र लक्ष्य की सिद्धि का साधन बनाने के अपने प्रयत्न में पंतजी कभी-कभी 'व्याकरण की लौह-शृंखलाओं तक को तोड़ डालते हैं', जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने कहा

है। कवि की मान्यता है कि यदि किसी रचना के प्रधान शब्द का व्याकरणात्मक लिंग रचना के आशय से मेल नहीं खाता है, तो रचना की भाव-परिपुष्टि बहुत ही क्षीण हो जाती है। उदाहरणार्थ, 'प्रभात' और 'प्रात' हिन्दी में पुल्लिग शब्द हैं, पर पंतजी इन्हें बराबर स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं। उनकी काव्य-कल्पना में प्रभात को प्रतिमा का सम्बन्ध एक युवती के विकासोन्मुख कोमल सौंदर्य के साथ होता है। ऐसे संदर्भ में उक्त शब्द का पुल्लिग में प्रयोग कवि-कल्पना द्वारा निर्मित काव्य-पूर्ण चित्र को ध्वस्त कर देता है। वस्तुतः ऊषा की प्रतिमा से सम्बन्धित पंतजी की कई रचनाओं में प्रतीकात्मक रूपांकन का आधार 'प्रभात' शब्द का स्त्रीलिंग में प्रयोग ही रहा है। यह उदाहरण देखिए :

रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान
पल्लवों की यह सजल प्रभात

"इस संदर्भ में प्रभात को पुल्लिग मान लेने पर मेरे सामने प्रभात का सारा जादू, स्वर्ण, श्री, सौरभ, सुकुमारता आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका चित्र ही नहीं उतरता,"[1] पंतजी लिखते हैं। रचना के सन्दर्भ के अनुसार 'बूंद', 'कंपन' आदि शब्दों के व्याकरणात्मक लिंग भी पंतजी बदलते हैं।

'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक रचना में एक ऐसे युवक का चित्र अंकित है जो अपने हृदय में भावी पत्नी की प्रतिमा विषयक स्वप्नों को संजोए हुए हैं। इस प्रतिमा की तुलना वह अपने लिए सर्वाधिक प्रिय वस्तु से अर्थात् अपने प्राणों से करता है ("प्रिये प्राणों की प्राण")। इस तुलना में निहित भावुकता प्राण शब्द के स्त्रीलिंग में प्रयोग ही से तो निखर उठती है। जब किसी वाक्य का कर्त्ता स्त्री-लिंग संज्ञा हो और उसमें विधेय का नामिक अंग का काम देने वाली संज्ञा पुल्लिग हो तो ऐसी स्थिति में सम्बन्धित पुल्लिग संज्ञा भी पंतजी की कविता में स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होती है। उदाहरणार्थ :

बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।

'मित्र' हिन्दी में पुल्लिग शब्द है, पर उपर्युक्त संदर्भ में 'बालिका' संज्ञा से सम्बन्धित होने के कारण स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है।

भावाभिव्यक्ति को अधिक-से-अधिक सारगर्भ बनाने के हेतु कवि 'होना' सहायक क्रिया को छोड़ देता, जटिल संयुक्त अक्षरों को दूर रखता और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कदाचित ही करता है। कुछ क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते समय उन्हें अनुकूलोच्चारी बनाने के लिए वह हेतुपूर्वक संधिनियमों को तोड़ देता है (उदाहरणार्थ, 'मरुतोकाश' को वह 'मरुताकाश' बना लेता है)।

यदाकदा पंतजी की रचनाओं में ध्वनिशास्त्रीय नियमों का उल्लंघन भी देखा जा सकता है। मुख्यतः यह कुछ व्यंजनों को मृदु बनाने के रूप में होता है।

१. सु० पन्त, पल्लव, पृ० १।

'वान', 'मरन', 'कन' आदि शब्दों में कवि मूल संस्कृत के शब्दों के मूर्धन्य 'ण' के स्थान में मृदुतर 'न' का प्रयोग करता है।

काव्यभाषा में नवीनता लाने के पंतजी के प्रयत्नों की रूढ़िवादी भारतीय साहित्यशास्त्रियों द्वारा कभी-कभी कठोर आलोचना की जाती है। ये लोग उनके साहसपूर्ण प्रयोगों को काव्यभाषा के प्रस्थापित नियमों के उल्लंघन मात्र के रूप में देखते हैं। इस प्रकार एक साहित्यशास्त्री श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी घोषित कर देते हैं कि "सच बात तो यह है कि हमारी भाषा में निरर्थक शब्दों से कविता सुन्दरी को सजाने वाला इतना बड़ा दूसरा कवि अभी तक नहीं हुआ। कवि की इस मनो-वृत्ति का सबसे अधिक अनुचित प्रयोग 'गुंजन' में मिलता है।"[१] श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी पंतजी के सभी नवप्रयोगों की निंदा करते हैं। पंतजी की रचनाओं में उन्हें दिखाई देते हैं ध्वनि की दृष्टि से अस्पष्ट अनुप्रास, शब्दों की अनावश्यक पुनरावृत्ति, शब्दों के लिंगों का मनमाना परिवर्तन और अस्वाभाविक उपमाएँ एवं रूपक। वह पूछते हैं कि "उदाहरणार्थ, 'चींटियों की-सी काली पाँति' और 'गीतों की पाँति' में क्या समता हो सकती है?"[२]

पर इसके विरुद्ध मत भी विद्यमान है। देखिए, पंतजी के साहसपूर्ण प्रयोगों के विषय में डॉ॰ नगेन्द्र क्या कहते हैं: "पंतजी के इस स्वभाव-वैषम्य पर रूढ़ियों के उपासक कुछ भी कह लें, परन्तु उनकी कलात्मक आवश्यकता पर सन्देह करना सरल नहीं है।"[३]

वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी कवियों में से पंतजी एक पहले कवि हैं जिन्होंने काव्य के ध्वनि विषयक अंग पर ध्यान दिया है। संगीतात्मकता को वह काव्यात्मक अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं। वह लिखते हैं: "कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है; उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो, जिनका भाव-संगीत विद्युत्-धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो।"[४] सच्ची कविता में भाव एवं भाषा के एकात्म सामंजस्य की अपेक्षा रहती है। पंतजी कहते हैं कि "जहाँ यह ऐक्य नहीं होता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'वटु समुदाय' ही दादुरों की तरह इधर-उधर कूदते-फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनाई देते हैं।"[५]

---

१. वृजकिशोर चतुर्वेदी, आधुनिक कविता की भाषा, आगरा, सं॰ २००१, पृ॰ ६१-७०।
२. वही, पृ॰ ७५।
३. नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ॰ ६६।
४. सु॰ पंत, पल्लव, पृ॰ १७।
५. वही, पृ॰ १८।

पंतजी द्वारा प्रयुक्त शब्दों की ध्वनि-छटा सदा ही शब्द के अर्थ से सम्बद्ध रहती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह कभी शब्द पर बल देते हैं, तो कभी उसे अधिक स्थूल या स्फीत बनाते हैं और अभिव्यंजनशीलता को सशक्ततर बनाते हुए रचना की भावात्मक परिपुष्टि को वृद्धिगत करते हैं। उदाहरणार्थ 'लहर' के अर्थ में कवि कई विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करता है। इन शब्दों की ध्वनियों के वज़न के अनुसार किसी विशिष्ट भाव या मनोविन्यास की पूर्णतर एवं स्पष्टतर अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है। 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल का कोमल कम्पन या हलकी-सी छप-छप सुनाई देती है, 'तरंग' से अधीर लहरों के समूह के एक-दूसरे को धकेलने, उठने-गिरने, नाचने-थिरकने के चित्र में और गहराई भर जाती है, 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, मन्द वायु के कोमल स्पर्श से किंचित् कम्पायमान लहरियों का आभास मिलता है, तो 'ऊर्मि' शब्द से हमारे सम्मुख उछलती-कूदती, एक-पर-एक सरपट दौड़ती, हवा के चपेटों के कारण फेन की परतों को तार-तार करती हुई उत्पातपूर्ण तरंगें खड़ी हो जाती हैं। विभिन्न काव्यात्मक सन्दर्भों में पंतजी 'वायु' के अर्थ में कई पृथक् पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते हैं। इन शब्दों की विशिष्ट ध्वनियाँ भावात्मकता को अधिक प्रभावशील बनाती हैं। 'अनिल' से एक प्रकार की सुखद, शुद्ध शीतलता का अनुभव होता है, तो 'वायु' से कोमलता एवं लचीलेपन का; 'प्रभंजन' गर्जन-तर्जन के साथ वालुका-कणों की बदलियों को उड़ाता और पत्तियों को पेड़ों से उचाटता हुआ वह उठता है, तो 'श्वसन' की सनसनाहट छिपी नहीं रह सकती; 'पवन' से कवि को ऐसा लगता है जैसे हवा के रास्ते में कोई रुकावट आ पड़ी हो, जबकि 'समीर' में हवा की तेज़ लहरों की ध्वनि-सी सुनाई पड़ती है।

'भौंह' के अर्थ में विविध पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी पंतजी इसी प्रकार ध्वनि-सम्बन्धों की विशिष्ट अभिव्यक्तिशीलता से लाभ उठाकर विशिष्ट मनोविन्यासों के सन्दर्भ में करते हैं। उनके अनुसार 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भ्रकुटि' से कटाक्ष की चंचलता और 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता का अनुभव होता है।

कवि के मन में उत्पन्न होने वाले विभिन्न वैचारिक ध्वनि-वस्तु सम्बन्धों से कोई सहमत हो या न हो, पर यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि असाधारण संगीतात्मकता, सुन्दर शब्द-चयन रचना को अत्यधिक अभिव्यक्ति-सम्पन्न एवं भाव-परिपुष्ट बनाने में उसकी सहायता करते हैं।

काव्यात्मक अभिव्यक्ति को पुष्टतर बनाने के लिए पंतजी कभी-कभी कुछ शब्दों का प्रचलित रूप तक बदल देते हैं। इससे ऐसे नए शब्द बन जाते हैं जिनके ध्वनि-मूल्य से उनका अर्थ पूर्णतर एवं स्पष्टतर हो जाता है और उनका भावात्मक रंग निखर उठता है। कवि 'प्रिय' विशेषण के स्थान में 'प्रि' का

प्रयोग करता है, 'स्वप्निल', 'ह्लाद', 'अनिर्वच', 'सिंगार' जैसे नए शब्दरूप गढ़ लेता है।[1]

रचना की अभिव्यक्तिशीलता को सशक्ततर बनाने के हेतु पंतजी कई निश्चयवाचक अव्ययों का भी विस्तृत स्तर पर प्रयोग करते हैं। ('भी', 'ही', 'सा', 'सी', 'रे' इत्यादि)। इन अव्ययों के प्रयोग से रचना के चित्र में गठन एवं ताल-बद्धता की बारीकी भी आ जाती है।

पंतजी की नवीनता का एक और पहलू यह है कि वह ध्वनियों की पुनरावृत्ति एवं अनुप्रास अलंकार के विस्तृत प्रयोग द्वारा कुछ सशक्त और असाधारण ध्वनि-चित्रों की सृष्टि करते हैं। इस साधन का प्रयोग पंतजी न काव्यभाषा पर अपने अधिकार-प्रदर्शन के लिए करते हैं और न रचना के बाह्य रूप की चमत्कृति के लिए ही, जैसा कि उत्तर-मध्य-युगीन हिन्दी काव्य में किया जाता था। पंतजी की कविता में ध्वनि-चित्र कवि की भावुक मनःस्थिति की अभिव्यक्ति के एक विशिष्ट साधन के रूप ही में आते हैं। उदाहरणार्थ, "विरह आह कराहते इस शब्द से" को लीजिए। इसमें 'ह' ध्वनि की पुनरावृत्ति से गहरी, दीर्घ विरह-व्यथा का अनुभव करने वाले, एकाकी मनुष्य के रोदन एवं दुःखपूर्ण निःश्वासों का ध्वनिरूप प्रभाव उत्पन्न होता है। इसी प्रकार "लोल लहरों से कलापति पर लिखी" या "ललित लोल उमंग-सी लावण्य" में 'ल' की पुनरावृत्ति के कारण रात्रिकालीन गंगा के अपार्थिव कोमल सौन्दर्य में चार चाँद लग जाते हैं, अपनी हलकी लहरों पर चन्द्रिका के प्रतिविम्ब को धारण करने वाली गंगा का रूप निखर उठता है।

हिन्दी भाषा के ध्वनिशास्त्र में स्वीकृत 'र-ल यो (अभेद)' के तत्त्व का भी पंतजी समुचित उपयोग करते हैं। केवल 'र' एवं 'ल' के कारण ही एक-दूसरे से भिन्न लगने वाले शब्द-द्वयों के प्रयोग से उनकी काव्य-भाषा में न केवल पूर्णतम छन्दोबद्धता आती है, अपितु विशिष्ट भावों या अनुभूतियों को सशक्ततर बनाने में भी सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, पंतजी के काव्य में 'रोर' तथा 'लोल' जैसे कई शब्द-युगल मिलते हैं। अंत में 'र' व्यंजन के प्रयोग से यह शब्द गरजती हुई लहरों का ध्वनि-चित्र अधिक प्रभावोत्पादक बना देता है। 'वीचिविलास' शीर्षक रचना की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए :

अरी सलिल की लोल हिलोर।
आ मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर !

'युगांत' संग्रह की 'साँझ धुँधलका' शीर्षक रचना में ध्वनि और अर्थ का सामंजस्य इस शब्द के एक और समानरूपी शब्द के प्रयोग से सिद्ध किया गया है।

---

१. देखिए : नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० ६६।

अन्तर इतना ही है कि इसके अन्त में 'र' के वदले 'ल' आता है।

अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल
मधुर नूपुर-ध्वनि खग कुल रोल।

पंतजी काव्य की तुलना संगीत के साथ करते हैं। वह लिखते हैं : "जिस प्रकार संगीत में भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते...हम केवल राग के सिंधु में डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता में भी शब्द के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में वहने लगते हैं..."[१] यहाँ पंतजी पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव का उल्लेख करना उचित ही होगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर संगीत को कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप समझते थे और मानते थे कि साहित्य में संगीतात्मकता एक भाषा-निरपेक्ष साधन है। उन्होंने लिखा है : "पद्य और गद्य की अपनी विशिष्ट लयवद्धता होती है। साहित्य में शब्दों द्वारा जो अभिव्यक्त नहीं हो पाता वह संगीत द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है। यदि इस साधन का विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीत उपेक्षणीय को महत्त्वपूर्ण वना देता है, शब्दों में वँधी हुए व्यथाएं संगीत के सहारे सजीव हो उठती हैं।"[२]

पन्त-पूर्व युग का हिन्दी काव्य संगीतात्मकता से, तालवद्धता से रिक्त था। इसका कारण पंतजी यह मनाते हैं कि तव के कवि तुक के तथा किसी विशिष्ट भाव या मनोविन्यास की अभिव्यक्ति के लिए सुयोग्य छंद विशेष के चयन की ओर उपेक्षाभाव से देखते थे।

पंतजी लिखते हैं : "तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है।"[३] उनकी तुक काव्य-क्षेत्र की उस वाजीगरी से पूर्णतया भिन्न है, जो उत्तर-मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में साधारण रूप से प्रचलित थी। पंतजी की कविता में कलापूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से तुक का महत्त्व विशेष ऊँचा है। उनकी कविता में तुक आशय की स्पष्टतम एवं अपने रूप में विशेषतापूर्ण अभिव्यक्ति में सहायक होते हुए रचना के विविधतापूर्ण उच्चारणात्मक गठन के एक महत्त्वपूर्ण साधन का काम देती है। उदाहरणार्थ, 'परिवर्तन' शीर्षक रचना के निम्नांकित अंश में वे शब्द, जिन पर तुक पड़ती है और जो ध्वनि की पुनरावृत्ति से प्रभावित हैं, जैसे रचना की उच्चारणात्मक और साथ-साथ विचारात्मक कील का काम देते हैं :

हमारे निज सुख-दुख निःश्वास
तुम्हें केवल परिहास,

---

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० २६।
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ग्रन्थ संग्रह, खण्ड ८, पृ० ३०२।
३. सु० पंत, पल्लव, पृ० २९।

तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर आश्वास।

सुनिश्चित तथा अधिक अभिव्यक्तिशील लयबद्ध ध्वनिचित्र की सृष्टि के उद्देश्य से रचना की प्रत्येक पंक्ति के अन्त में ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका उपांत्य अक्षर 'आ' स्वर है जो पूर्ण वज़न और ध्वनि की दृष्टि से अपनी विशेषता रखता है। इस 'आ' के कारण लयात्मक एकक की समाप्ति की स्पष्ट सूचना मिलती है (देखिए : निःश्वास, परिहास, विश्वास, आश्वास)।

पंतजी की रचनाओं में तुक बहुधा लाक्षणिक शब्दों पर पड़ती है, जिससे रचना में विशेष अभिव्यक्तिशीलता आ जाती है। उदाहरणार्थ 'पल्लव' की ये पंक्तियाँ देखिए :

अरे, ये पल्लव-बाल !
सजा, सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार,
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल
नहीं छूटी तरु-डाल,

'पल्लव-बाल' वाले रूपक की अभिव्यक्तिशीलता यहाँ ध्वन्यात्मक तुक की सहायता से 'बाल' शब्द पर उच्चारणात्मक बल देकर सशक्ततर बनाई गई है।

इस प्रकार पंतजी के मतानुसार तुक उस शब्द पर पड़नी चाहिए जो रचना की पंक्ति के आशय का प्रधान वाहक हो प्रधान भाव का आधार हो। यह तुकान्त शब्द-रचना की भावात्मकता को पुष्टतर बनाते हुए उसकी रागात्मकता को अधिक प्रभावशील बनाता है। 'राग की कील' होकर तुक उनकी कविता में आशय के सुन्दरतम उद्घाटन के एकमात्र लक्ष्य की पूर्ति का साधन ही बनी रहती है। पंतजी लिखते हैं : "वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है···अन्त्यानुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव को हृदयंगम कराने में सहायता देता है।"[1]

पंतजी की कविता में तुक अपनी निश्चितता के कारण विशेषता रखती है। उनकी कविता में केवल समध्वनि स्वरों का अभाव-सा रहता है, जिससे काव्य भाषा के सुन्दरतम संगठन, लयात्मक निश्चितता की सबलता और कविता की पूर्णता तथा संगीतात्मकता में सहायता मिलती है। आधुनिक हिन्दी काव्य क्षेत्र में

१. सु० पंत, 'पल्लव' पृ० २९-३०।

कदाचित ही ऐसा कोई अन्य कवि मिलेगा, जिसने ऐसी कलात्मकता तथा सरसता के साथ इतनी विविधतापूर्ण तुक पद्धतियों की रचना कर दी हो। और यहाँ भी विशेष बात यह है कि पंतजी केवल मौलिकता के लिए मौलिकता का दम नहीं भरते। नए-नए तुक-चित्रों की सृष्टि कवि पाठक को तुक के असाधारण प्रकारों से चकित करने की इच्छा से नहीं, अपितु कविता की पूर्णतम अभिव्यक्ति की लक्ष्य-सिद्धि के उद्देश्य से करता है। कभी-कभा वह एक ही रचना में विभिन्न छंदों का प्रयोग करता है और तुक की सहायता से रचना में अभिव्यक्त किन्हीं विचारों या भावों को सशक्त बना देता है। एक विशिष्ट उदाहरण के रूप में 'पल्लव' संग्रह की 'सोने का गान' शीर्षक रचना का यह अंश देखिए :

कहो हे प्रमुदित विहग-कुमारि,
कहाँ से आया यह प्रिय-गान ?
तुहिन वन में छाई, सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल-सी तान !
उषा की कनक-मदिर मुसकान
उसी में था क्या यह अनजान ?
भला उठते ही तुमको आज
दिलाया किसने इसका ध्यान !

इस रचना में विहग-गान का वर्णन किया गया है और इसके प्रत्येक चरण में तुक 'गान' शब्द के वजन पर पड़ती है—'तान', 'मुसकान', 'अनजान', 'ध्यान' इत्यादि। तुक के कारण सवल बना हुआ 'गान' शब्द इस प्रकार संपूर्ण रचना का ध्वन्यात्मक-विचारात्मक केन्द्र-विन्दु वन जाता है। भिन्न उच्चारणात्मक माध्यम में व्यक्त एकरूप लय समस्त रचना को व्याप्त किए हुए है और इससे रचना को एक निरपवाद निश्चित रूप प्राप्त हो गया है, उसमें विशेष अभिव्यक्ति-शीलता उत्पन्न हुई है, अनुभूति की सारगर्भ अभिव्यक्ति स्पष्टतम हो पाई हैं।

पंतजी की वहुत-सी रचनाओं में तुक के संगठन का वही तत्त्व उपलब्ध है, जो 'सोने का गान' शीर्षक रचना में प्रस्तुत है। उदाहरणार्थ, 'विश्व-छवि' शीर्षक रचना को लीजिए। इसके पहले अंश में कवि अर्धोन्मीलित कुसुम-कलिकाओं को देखता हुआ, जागरणोन्मुख वासंतिक प्रकृति के कोमल सौरभ में साँस लेता हुआ संसार के अमर-यौवन की प्रशंसा करता है। इस रचना में 'वचपन' और 'फूल' शब्द विचारात्मक एवं ध्वन्यात्मक केन्द्र है। 'वचपन' शब्द से 'लोचन', 'मन', 'सरलपन', 'यौवन', 'जीवन', शब्दों की तुक मिलती है, जवकि 'फूल' शब्द के साथ 'मृदुशूल', 'मूल' इत्यादि शब्दों की।

रचना के दूसरे अंश में कहा गया है कि वसंत एवं यौवन दोनों क्षणभंगुर हैं, इनके पश्चात् वार्धक्य एवं मुरझान आते हैं; पर फिर एक वार जागरण एवं

वसंत का आगमन होता है और झरते हुए सुमन-दलों का स्थान कलिकाएँ लेती हैं। यही चिर यौवन एवं नवीनता का नियम है।

अनुभूतियाँ बदल जाती हैं और उनके साथ ही बदल जाता है समस्त रचना का उच्चारणात्मक-ध्वन्यात्मक रंग। रचना के दूसरे अंश में 'परिवर्तन' तथा 'आश्वासन' शब्द ध्वन्यात्मक-विचारात्मक केन्द्र बने हुए हैं और रचना की अधिकांश पंक्तियों की तुक इन्हीं से मिलती है।

इस प्रकार पंतजी विविध तुक-चित्रों का प्रयोग आशय की स्पष्ट एवं अपने-आप में विशेष अभिव्यक्ति के एकमात्र उद्देश्य से ही करते हैं।

हिन्दी छन्दःशास्त्र के क्षेत्र में भी पंतजी की नवीनता का विशेष स्थान है। हिन्दी के दो छन्द प्रकारों अर्थात् वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों को ध्यान में लेते हुए पंतजी हिन्दी काव्य में मात्रिक छन्दों के प्रयोग को प्राथमिकता देते हैं।

अक्षरों की निश्चित संख्या पर आधारित वार्णिक छन्द, जो संस्कृत काव्य के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं, पंतजी के अनुसार हिन्दी कविता के लिए बहुत ही बोझिल हैं। उनके मन में वार्णिक छन्द बेड़ियों के बराबर हैं, जो हिन्दी की सुकुमार कविता के कोमल चरणों को जकड़कर उसकी स्वाभाविक गति में बाधा डालते है, उसके नूपुरों की कोमल ध्वनि का गला घोंट देते हैं।[1] बंगला कविता में प्रचलित छन्दों की भी खबर पंतजी ने ली है। वह मानते हैं कि ये छन्द हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। बंगला भाषा में प्रचलित स्वराघात का हिन्दी में अभाव है, जबकि ध्वनि की ह्रस्व-दीर्घता के कठोर पालन का बंगला के लिए कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं है।

तुलसीदास द्वारा उपयोग में लाए गए कवित्त और सवैया जैसे बहुप्रचलित छन्दों को भी पंतजी आधुनिक हिन्दी कविता के लिए अस्वीकार्य समझते हैं। सवैया छन्द में एक सगण ही की आठ बार पुनरावृत्ति होती है और पंतजी के अनुसार इससे एकाकारता एवं एकस्वरता उत्पन्न होती है। कवित्त छन्द में ध्वनियों की ह्रस्व-दीर्घता पर ध्यान नहीं दिया जाता और इससे हिन्दी कविता स्वाभाविक लयबद्धता एवं संगीतात्मकता से वंचित रह जाती है।

उच्चारण-एककों की एक निश्चित संख्या के पालन पर आधारित मात्रिक वृत्त पंतजी के अनुसार हिन्दी भाषा की प्रकृति के लिए पूर्णतया अनुकूल होते हैं। वह लिखते हैं: "हिन्दी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है, दोनों में अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता या विशेषता

१. सु० पंत, पल्लव पृ० २३।

है।"[1] पंतजी ने हिन्दी कविता में विविधतापूर्ण मात्रिक छन्दों के प्रयोग के औचित्य एवं न्यायसंगतता की आधारशिला रखी है।

रोला छन्द में पंतजी को विकासोन्मुख हिन्दी कविता की श्वास और रक्त-संचार का कंपन सुनाई देता है। रोला छन्द अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेप उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पंदन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं। रोला बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है।"[2] 'परिवर्तन' शीर्षक रचना में भावों ती उज्ज्वलता तथा कल्पना की उड़ान की अभिव्यक्ति के लिए पंतजी ने इस छन्द का प्रयोग बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है। ध्यान रहे कि यहाँ पंतजी ने चौबीस मात्रा वाले रूढ़िमान्य रोला का अनुकरण मात्र न करते हुए उसमें कई परिवर्तन कर दिए हैं। उनका प्रयत्न यही रहा है कि रचना का रूप-विधान उसके आशय की पूर्णतम एवं स्पष्टतम अभिव्यक्ति करने में अधिक सशक्त हो :

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार अज्ञात।

उक्त चतुश्चरणात्मक छन्द के प्रथम सम चरण में मात्राओं की संख्या विषम चरण की तुलना में दो मात्राओं से कम है। इससे आरोह एवं अवरोह का प्रभाव सशक्त बन जाता है, सुख एवं विकास तथा दुःख एवं ह्रास के आदान-प्रदान का विरोध सबल बन जाता है।

आगे परिवर्तन का वर्णन आता है, जो काव्यात्मक भाव एवं कल्पना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अधिकाधिक पूर्णता को प्राप्त किए हुए हैं। इस परिवर्तन की अपार दिव्य शक्ति के कारण जीवन बदल जाता है। पंतजी के अनुसार वह जीवन सुन्दरता एवं कुरूपता, जन्म एवं मृत्यु, सुख एवं दुःख के अच्छेद्य तानों-बानों से बना रहता है। पंतजी लिखते हैं :

विश्वमय है परिवर्तन।
अतल से उमड़ अकूल अपार
मेघ से विपुलाकार
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !

सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी और निर्दय परिवर्तन विपयक प्रभाव उपर्युक्त

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० २६।
२. वही, पृ० ३०।

संदर्भ में निम्नलिखित उपादान से सबल बनता है—छन्द का पहला चरण छोटा है, जबकि अगले चरणों में, जिनमें परिवर्तन की प्रकृति वर्णित है, 'अ' स्वर की अधिकता है, जिससे महानता एवं असीमता के एक विशिष्ट ध्वनि-चित्र की सृष्टि होती है।

भाषाभिव्यक्ति के यति जैसे तत्त्व पर भी पंतजी ने ध्यान किया है, पर वह यति को वहीं नहीं रखते, जहाँ विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूढ़िमान्य कठोर नियमों के अनुसार उसे रखा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'परिवर्तन' शीर्षक रचना के उपर्युक्त अंशों में से पहले अंश की अंतिम पंक्ति के 'अंधकार' तथा 'अज्ञात' शब्दों के बीच की यति को लीजिए, जिसके कारण नाटकीय प्रभाव अधिक सबल हो सका है, जबकि दूसरे अंश की दूसरी पंक्ति में 'परिवर्तन' के विशेषण रूप 'अकूल' एवं 'अपार' शब्दों के बीच की यति के कारण परिवर्तन की महानता एवं अपारता को बल मिला है। डॉ० नगेन्द्र मानते हैं कि पंतजी की उपर्युक्त जैसी रचनाओं की शैली पर अंग्रेज़ी के 'ओड' का प्रभाव दिखाई देता है।[1] और यह सच भी है कि संबोधनों एवं विस्मयादिबोधक चिह्नों और प्रभावशील विशेषण युग्मों के कारण रचना पर ऊर्ध्व करुण रस का पुट चढ़ा है।

करुण रस के भावों की स्पष्टतर अभिव्यक्ति के लिए पंतजी उन्नीस मात्रा वाले पीयूष वर्षण, चौबीस मात्रा वाले रूपमाला और चौदह मात्रा वाले सखी को अत्यधिक अनुकूल छंद मानते हैं। उदाहरणार्थ, रूपमाला छंद को लीजिए, जिसका प्रयोग अधिकतर करुण रसपूर्ण काव्य में किया जाता है। इस छंद के लय-चित्र की तुलना पंतजी दिन-भर के कठोर परिश्रम के कारण श्रांत-क्लांत उस किसान के साथ करते हैं, जो अपना सिर झुकाए, धीरे-धीरे डग भरता हुआ घर की ओर जा रहा हो।

मंद गति पीयूष वर्षण छंद पंतजी के शब्दों में "मरुभूमि में बहनेवाली निर्जन तटिनी की तरह... वैधव्य वेष में, अकेलेपन में सिसकता हुआ, श्रांत, जिह्म गति से अपने ही अश्रुजल में सिक्त धीरे-धीरे बहता है।"[2] 'ग्रंथि' की ये निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :

वेदना ! कैसा करुण उद्‌गार है,
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड में,..
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में, व्योम में है वेदना।

यहाँ लय-चित्र की मंदगामिता एवं एकस्वरता के कारण उदासी के मनोविन्यास में गहराई आ जाती है। यहाँ प्रत्येक पंक्ति में दो सप्तमात्रिक और अन्त

---

१. देखिए, नगेन्द्र, 'सुमित्रानंदन पंत', पृ० ६२।
२. सु० पंत, 'पल्लव', पृ० ३१।

में पंचमात्रिक पद हैं। अंतिम पद में दो मात्राएँ कम करने से छंद की गति मंद-सी हो जाती है और असीम शोक तथा दुःख का मनोविन्यास प्रबल बन जाता है। इस छंद के प्रयोग का एक विशिष्ट उदाहरण 'ग्रंथि' के निम्नांकित अंश में देखा जा सकता है :

शैवलिनि ! जाओ मिलो तुम सिंधु से
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडगणो ! गाओ पवन वीणा बजा,
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।

बाईस मात्रा वाले राधिका छंद की तुलना कवि उन आनन्द-विभोर युवतियों की नृत्य-मण्डली से करता है, जो हाथों में हाथ लिए, अंलकारों की झनकार की संगत पर पूरी कलात्मकता तथा कुशलता के साथ नृत्य प्रस्तुत कर रही हो।

परंपरागत छंदों के साथ-साथ पंतजी ने हिन्दी कविता में नए-नए छंदों का प्रवेश कराया है। इनमें मुक्त छंद या स्वच्छंद छंद का विशेष स्थान है। उनके मतानुसार अनुभूति की सभी छटाओं की अभिव्यक्ति के लिए यह सर्वाधिक समर्थ छंद है। वह लिखते हैं : "हिन्दी में मुक्त काव्य का प्रचार भी दिन-दिन बढ़ रहा है, कोई इसे रबर काव्य कहते हैं, कोई कंगारू !...आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छंद छंद' ही की छटा दिखलाई पड़ती है...यह छंद कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है। कवि के मत में 'मुक्त छंद' काव्य-कल्पना की उड़ान को सहज संभव बनाता है। वह आवश्यकता के अनुसार छोटा और लंबा, सरल और जटिल हो सकता है और लय के स्वाधीन परिवर्तन का अवसर देता है।

हिन्दी कविता में मुक्त छंद के प्रचलन का समर्थन करते हुए पंतजी 'पल्लव' की प्रस्तावना में निरालाजी के निर्भीक प्रयोगों का हवाला देते हैं। फिर भी पंतजी साथ-साथ यह भी कहते हैं कि निरालाजी जहाँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अनुकरण करते हुए हिन्दी छंदःशास्त्र में बँगला छंदःशास्त्र के ऐसे तत्त्वों को प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करते हैं, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है, वहाँ निरालाजी को सफलता नहीं मिलती। "जहाँ पर उनकी कविता ह्रस्व-दीर्घ संगीत पर चलती है, उनकी उज्ज्वल भाव-राशि उनके रचना-चातुर्य के सूत्र में गुंथी हुई, हीरों के हार की तरह चमक उठती है।"[1] हिन्दी में मुक्त छंद की सृष्टि के क्षेत्र में निरालाजी के नवाभिमुख सफल प्रयत्न के एक उदाहरण के रूप में पंतजी निराला कृत 'अनामिका' संग्रह की एक रचना का निम्नांकित अंश उद्धृत करते हैं :

१. द्र० पंत, पल्लव, पृ० ३६।

कहाँ ?
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ?—रुकती है गति जहाँ ?

सचमुच ही निरालाजी की यह रचना हिन्दी-काव्य में मुक्त छंद के कलापूर्ण प्रयोग का एक अनूठा उदाहरण है। रचना की पंक्तियाँ क्रमशः दीर्घ होती गई हैं, जिससे भावों की बढ़ती हुई गहराई की अभिव्यक्ति को एक निराली ही छटा प्राप्त हुई है। पहली तीन पंक्तियों की तुक प्रश्न के विशेष महत्त्व पर बल देते हुए समस्त रचना की अभिव्यक्तिशीलता को सशक्ततर बनाती है। 'कहाँ'-'जहाँ' के लघु-त्रोटक-यमक, प्रश्नात्मक-विस्मयादिबोधक वाक्य-विन्यास और लय की असम, कंपनपूर्ण गति के कारण अधीरता तथा व्याकुलता के मनोविन्यास में गहराई आ जाती है और काव्य-नायक के आत्मिक आंदोलनों तथा अनुभूतियों का उद्‌घाटन बड़े ही अनूठे ढंग से होता है। पंतजी लिखते हैं कि 'पल्लव' में संगृहीत उनकी बहुत-सी आरम्भकालीन रचनाएँ शैली की दृष्टि से निरालाजी की उपर्युक्त रचना का स्मरण दिलाती हैं। उदाहरण के रूप में पंतजी अपनी 'परिवर्तन' शीर्षक रचना का उल्लेख करते हैं। उनके अपने शब्दों में इस रचना में "जहाँ भावना का क्रिया-कंपन तथा उत्थान-पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती है, वहाँ रोला आया है! ···बीच-बीच में छंद की एकस्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिए गए हैं।"[1] उदाहरणार्थ, छंद की प्रथम पंक्ति में चार मात्राएँ कम करके पंतजी अपने इस उद्देश्य में सफल हुए हैं कि दूसरी पंक्ति पूर्णतर और अधिक अभिव्यक्तिशील बन जाए :

विभव की विद्युत्-ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल

"यदि ऊपर के चरण में चार मात्राएँ जोड़कर उसे 'विभव की चंचल विद्युत्ज्वाल' इस प्रकार पढ़ा जाए, तो नीचे के चरण में विभव की क्षणिक छटा के चमककर छिप जाने के भाव का स्वाभाविक स्फुरण मंद पड़ जाता है।"[2]

पंतजी अपने काव्य में तुकांत मुक्त छंद का विस्तृत प्रयोग करते हैं और अतुकांत मुक्त छंद का भी। अतुकांत मुक्त छंद बीसवीं शती के दूसरे दशक के आरम्भ की हिन्दी कविता में प्रचलित होने लगा था और सबसे पहले इसका प्रयोग जयशंकर प्रसादजी ने अपनी 'करुणालय' (१९१३), 'भारत' (१९१४) इत्यादि रचनाओं में किया था। पंतजी ने 'ग्रंथि' में पीयूष-वर्षण अतुकांत का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है। हिन्दी कविता-क्षेत्र के इस छंद का विशेष विस्तृत एवं

---

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० ३६।
२. वही।

सफल प्रयोग नाट्य-क्षेत्र में होता है, जहाँ संभाषणात्मक भाषा की अधिक स्वतंत्र तथा अविवश गति आवश्यक होती है।

कुछ भारतीय साहित्यशास्त्री मानते हैं कि बीसवीं शती के आरम्भकालीन हिन्दी कवियों ने अतुकान्त मुक्त छन्द को अपनाते हुए सबसे पहले शेक्सपीयर के नाट्यगीत (लैंबिक पेंटामीटर) का एवं उन्नीसवीं शताब्दी के बँगला नाटककार गिरीशचन्द्र घोष (उदाहरणार्थ, 'रावणवध') और मधुसूदन दत्त ('पद्मावती') की नाट्यगीत शैली का सहारा लिया था। नये युग की भारतीय कविता में अतुकान्त मुक्त छन्द का प्रयोग सबसे पहले इन्हीं दो बँगला नाटककारों ने किया था। इस परम्परा को आगे चलाते हुए पंतजी ने हिन्दी कविता में नए छन्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'चाँदनी' नाटिका के गीतों के लिए और फिर वर्तमान शती के छठे दशक की 'शिल्पी' आदि नाटिकाओं में किया। इस छन्द में लयबद्धता का महत्त्व बहुत-कुछ बढ़ जाता है। वस्तुतः इसके कारण काव्य-भाषा के माध्यम ही में नई वि षता आती है और काव्य-रचना के विचारात्मक-भावात्मक आशय की अभिव्यक्ति में यह सर्वोपरि भूमिका प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, 'ग्रन्थि' के निम्नांकित अंश में अभिव्यक्ति की विशेष छटा उत्पन्न करने का एकमात्र साधन अपने-आपमें विशिष्ट आवर्तनात्मक लय ही रही है। देखिए :

> एक पल, मेरी प्रिया के दृग-पलक,
> थे उठे ऊपर, सहज, नीचे गिरे
> चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
> दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था।

उक्त रचना की पहली दो पंक्तियों की यतियाँ लय को एक विशिष्ट कम्पनात्मक गति देते हुए रचना को एक अनूठी अभिव्यक्तिशीलता प्रदान करती हैं, प्रेमानुभूति की पराकोटि की गोचरता का आवाहन करती हैं और व्याकुल, कम्पित श्वासोच्छ्वास तथा हृदय के कम्पन आदि के ध्वन्यात्मक अनुभव की सृष्टि कर देती हैं।

अपने सौंदर्यविषयक दृष्टिकोणों को प्रस्तुत और प्रस्थापित करते हुए और काव्य-सृजन के नए सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए पंतजी हिन्दी साहित्य में नया पथ प्रशस्त करने वाले एक साहसी नवीकार के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। पंतजी की नवीनता हिन्दी कविता के विकास की वास्तविक आवश्यकताओं पर ही आधारित है। और कुछ भी हो, रूढ़िवादी कठोर साहित्यशास्त्रियों के कड़े विरोध के होते हुए भी उनकी कविता ने अपना एक विशेष पथ प्रशस्त कर लिया है। इस दृष्टि से पंत-साहित्य में नई स्वच्छंदतावादी शैली को समर्थन मिला है और उसके विकास में सहायता भी।

वर्तमान शती के चौथे दशक के मध्य में पंतजी की काव्य-साधना का

पहला खण्ड समाप्त होता है। उनके आरम्भकालीन गीत मुक्तकों को केवल आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से देखना, जैसा कि कुछ शोधक करते हैं, उचित न होगा। उनकी काव्य-साधना में बीसवीं शती के आरम्भिक दशकों के भारतीय जीवन की कई जटिल घटनाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। उनकी स्वच्छंदतावादी कल्पना की उड़ान में हमें वास्तविकता के दर्शन होते हैं और सुख-दुखमय जीवन का स्वर सुनाई देता है। काव्यात्मक विचार के मुक्त विकास में बाधा डालने वाले घिसे-पिटे काव्य-विषयक नियमों और पुराने-धुराने काव्य-विषयों के विरुद्ध पंतजी ने जो संघर्ष छेड़ा उससे मानवीय आत्मा को मध्ययुगीन एकाकीपन से मुक्त कराने, भारतीय समाज को नैतिक अन्धविश्वासों से मुक्ति दिलाने के प्रयत्नों को बढ़ावा मिला। इस प्रकार पंतजी की उक्त काल-खण्ड की कविता में प्रगतिशील-स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों की प्रधानता रही।

५

स्वप्न-सृष्टि से जीवन के कठोर सत्य की ओर

'युगान्त'

गा, कोकिल, बरसा पावक कण !
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़-बन्धन
पावक-पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन ।

भारत में वर्तमान शती के चौथे दशक के उत्तरार्ध की यह विशेषता रही कि उस कालखण्ड में पूंजीवाद अधिक विकसित हुआ, साम्राज्यवादी शासकों और भारतीय राष्ट्रीय बुर्जुआवर्ग का परस्पर-विरोध प्रवल हुआ, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का वामपंथी दल जोर पकड़ता गया और देश की समस्त साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों की एकजुटता और अधिक पक्की हो गई। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव बढ़ता गया, मजदूर संघों ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करना आरम्भ किया और किसान आन्दोलन को संगठित तथा व्यापक स्वरूप प्राप्त हुआ।

इन वर्षों में भारतीय बुद्धिजीवी श्रेणी के प्रगतिशील स्तरों की एकजुटता भी बढ़ती गई। सन् १९३६ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई और इसने भारतीय साहित्य में लोकतंत्रीय प्रवृत्तियों के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की। स्वतन्त्रता आन्दोलन को सर्वजनव्यापी संघर्ष का स्वरूप प्राप्त हुआ। वह नरम बुर्जुआई सुधारवादी चौखटे से बाहर निकला और उससे गांधीवादी विचारधारा की नींव हिली। भारतीय बुद्धिजीवी श्रेणी के लोकतन्त्रवादी स्तर उन दिनों दूसरे देशों के प्रगतिशील विचारों को और विशेष रूप से मार्क्सवादी विचारधारा को अधिकाधिक सक्रियतापूर्वक अपनाते

गए। उसी समय भारतीय समाज में लोकतन्त्रवादी प्रवृत्तियों के सशक्त एवं विकसित होने के साथ-साथ सामाजिक प्रगति के पथ में रोड़े अटकाने वाली शक्तियाँ भी अपना काम करती रहीं। ये या तो लड़खड़ाती हुई मध्ययुगीन दार्शनिक एवं नैतिक अन्ध धारणाओं पर आधारित रहती थीं या पश्चिमी देशों की बुर्जुआ संस्कृति से अपनाए गए प्रतिक्रियावादी तत्त्वों पर। यही कारण है कि उस समय के साहित्य में प्रतिबिम्बित भारतीय बुद्धिजीवी श्रेणी का आध्यात्मिक जीवन परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं के जटिल सह-अस्तित्व का गोरखधन्धा और इधर-उधर से अपनाए गए भिन्न-भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं नैतिक सिद्धान्तों का भानमती का कुनवा-सा दिखाई देता है।

उक्त कालखण्ड में पंतजी द्वारा रचित काव्य ने वायुभारमापी की सूई की भाँति अस्थिर, मनमानी करने वाले पर साथ ही स्वच्छता की दिशा में अग्रसर होने वाले भारतीय वातावरण के समस्त कम्पन-परिवर्तनों को अंकित कर दिया है। पंतजी लिखते हैं: "उस समय प्रथम महायुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचारधारा को आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे-धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध में जिस नवीन भावात्मक दर्शन को जन्म दिया, उस सबकी सम्मिलित प्रतिक्रिया-स्वरूप विश्व-जीवन तथा मानव-जीवन के प्रति युग के विचार एवं भावना-जगत् को मैंने, अपने बदलते हुए दृष्टिकोण के अनुरूप, तब 'युगान्त' नामक अपने काव्य-संग्रह तथा पाँच कहानियों में प्रारम्भिक अभिव्यक्ति दी।"[1]

पंतजी के इस काव्य-संग्रह को उनके प्रारम्भिक स्वच्छंदतावादी गीत मुक्तकों के कालखण्ड के पश्चात् की काव्य-साधना के कालखण्ड में संक्रमण का चरण माना जा सकता है। इस पश्चात् के कालखण्ड की उनकी रचनाओं में भारतीय समाज के जीवन की तीव्र सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। इसमें ऐसी रचनाएँ भी सम्मिलित हैं, जो आमतौर पर उनकी काव्य-साधना के प्रारम्भिक कालखण्ड की सामान्य प्रवृत्तियों को जारी रखे हुए हैं, जो अपनी विचारात्मक-सौन्दर्यात्मक रुझान के कारण 'गुंजन' नामक काव्य-संग्रह की रचनाओं की श्रेणी में गिनी जा सकती हैं। इस संदर्भ में 'संध्या', 'छाया', 'छवि के नव बंधन', 'वसंत', 'शुक्र' आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ, 'शुक्र' शीर्षक रचना में, जो कि 'पल्लव' नामक संग्रह की 'एक तारा' शीर्षक रचना का स्मरण दिलाती है, कवि को ब्रह्म की रहस्यमयी शक्ति की झलक दिखाई देती है। सांध्य गगन में अपनी उज्ज्वल आभा से जगमगाती हुई शुक्र तारिका को देखकर कवि पुकार उठता है:

१. सु० पन्त, साठ वर्ष, पृ० ४८।

द्वाभा के एकाकी प्रेमी
नीरव दिगन्त के शब्द मौन
रवि के जाते स्थल पर आते
कहते तुम तम से चमक कौन ।

'तितली' शीर्षक रचना में कवि तितली को या तो 'पवन पुष्प' कहता है या 'विहग पुष्प' या फिर "अपने विशेष भाग्य के धागों से बुना हुआ जीव ।"

फिर भी पंतजी की प्रारम्भिक प्रकृति विषयक रचनाओं की तुलना में 'युगांत' के प्रकृति-चित्र आम तौर पर अधिक यथार्थ लगते हैं। आरम्भ में कवि संसार की ओर मानो ऐसी ऐनक के बीच में से देखता था, जो उसकी अनूठी कल्पना एवं भाववादी विचार-प्रणाली के रंग में रँगी हुई थी; अब वह चतुर्दिक् की वास्तविकता को सीधे अपनी आँखों से निहारने लगा था। 'वसंत' शीर्षक रचना में कवि को अभी-अभी खिल रहे फूलों की गुलाबी कालीन को देखकर सुप्त शिशु के गुलाबी गालों का स्मरण हो आता है, वृक्ष उसे धानी, नीली तथा सुनहरी ज्वाल-जिह्वाओं में लिपटे हुए-से लगते हैं। पंतजी कह उठते हैं :

'लो, चित्र-शाल-सी पंख खोल उड़ने को है कुसुमित घाटी
यह है अल्मोड़े का वसंत, खिल पड़ी निखिल पर्वत पाती ।

पंतजी के प्रकृति-विषयक गीत-मुक्तकों के क्रमविकास की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही कि उनकी मानवतावादी प्रवृत्तियाँ सशक्ततर होती गईं। उनकी कविता में अब प्रेरणादायिनी प्रकृति क्रमशः पृष्ठभूमि में रहने लगी, और उसमें ध्यान का केन्द्रबिन्दु मानव बन गया। प्रकृति अब मानवीय अनुभूतियों के सुस्पष्ट एवं सर्वांगीण उद्घाटन का एक साधन मात्र बन गई। प्रकृति की प्रतिमाएँ अब भाग्यहीन तथा अभावग्रस्त जनजीवन से संबद्ध रहने लगीं :

है पूर्ण प्राकृतिक सत्य
किन्तु मानव जग ।
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज
कुसुम, आतप खग ।

दिव्य चेतना से परिपूर्ण प्रकृति के महान् सौन्दर्य को कवि अब जैसे देखता ही नहीं :

जो एक असीम, अखंड
मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी
वह जीवन सार्थकता ।

वैसे 'परिवर्तन' शीर्षक रचना ही में जीवन का विसंघटन और सुख की क्षणभंगुरता चिन्ता एवं दुःख को जन्म देते हुए दिखाई देते हैं, जन-जीवन को सुसह्य

बनाने के पक्ष में प्रयत्नशील कवि का स्वर सुनाई पड़ता है। ये उद्देश्य 'युगांत' नामक संग्रह में और अधिक विकसित हुए हैं। इस संग्रह में प्रथम वार पंतजी ने श्रमिक जनता के जीवन की पूरी संकटपूर्णता एवं अभावग्रस्तता के चित्र अंकित किए हैं :

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन, भारी पग।

फिर भी कवि वास्तविकता के परिवर्तन के लिए सीधा आवाहन करने के विचार से अभी दूर ही रहा है। संसार को भिन्न रूप में, उत्पीड़न तथा व्याकुलता, दारिद्र एवं अज्ञानता से मुक्त देखने की दिशा में उसके प्रयत्न सबसे पहले मनुष्य की नैतिक पूर्णता के लिए आवाहन के रूप में हमारे सामने आते हैं। कवि की अपनी यह मान्यता जो है कि "वाह्य क्रान्ति सदा ही संहारात्मक होती है, जबकि आंतरिक क्रान्ति सृजनात्मक"[1] :

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य स्नेह उल्लास मुझे
मिल सका नहीं जग में वाहर।

इसमें वर्तमान शती के चौथे दशक के मध्यकाल के पंतजी के काव्य-नायक का एक स्वभाव-विशेष प्रकट हो जाता है—यह है काव्यगत 'मैं' और वाह्य माध्यम अर्थात् तीव्र तथा निर्मम वास्तविकता के वीच के हृदयभेदी एवं अजेय संघर्ष का, वहुत-से स्वच्छन्दतावादी कवियों की रचनाओं में निहित संघर्ष का उसमें अभाव। 'प्रकृति के अक्षय सामंजस्य के कवि' पंतजी के सृजनात्मक व्यक्तित्व के लिए कोई भी तीव्र विरोधाभास या टकराव अपरिचित ही है। वाइरन के मैन्फ्रेड या चाइल्ड हैराल्ड अथवा लरमोन्तोव का दैत्य अपने लिए शत्रुरूप और पराई वास्तविकता से वाहर झपटकर, गर्वपूर्ण एकांत में उस वास्तविकता की यंत्रणाओं तथा बोझ को अनुभव करते हुए कठोर एवं निर्मम संसार के विरुद्ध अकेले ही संघर्ष छेड़ देते हैं। पर पंतजी के काव्यनायक के स्वभाव में सच्ची नाटकीयता का अभाव ही है। यद्यपि कठोर वास्तविकता उसके लिए अपरिचित एवं अनाकल-नीय है तथापि वह उससे भाग खड़ा होता है और न उससे अकेले टक्कर लेने ही की सोचता है। समाज के पुनर्निर्माण के लिए सक्रिय संघर्ष की आवश्यकता है इस मान्यता से वह दूर ही रहता है। पंतजी का काव्यनायक कल्पनामय स्वप्न-सृष्टि से मुँह मोड़ते हुए जनता के समीप आकर उनकी हृदयपूर्वक सहायता करना चाहता तो है, पर जानता नहीं कि यह कैसे किया जाए। अतः धरती पर सुखमय एवं

१. शान्तिप्रिय द्विवेदी, 'युग और साहित्य', प्रयाग, १९६१, पृ० २३४।

विकासशील जीवन का निर्माण कराने के विषय में उनका आवाहन वहुत-कुछ अनिश्चित और अस्पष्ट-सा लगता है। वह मानते हैं कि संसार का किसी प्रकार अपने-आप ही परिवर्तित हो जाना निश्चित है—यह ऐसा ही अनिवार्य है जैसा रात के पश्चात् प्रातःकाल का आना। वह मानते हैं कि इस परिवर्तन की प्रधान शक्ति मानव के पूर्ण आत्मविकास ही में निहित है—उस मानव के जिसने सार्वत्रिक भ्रातृत्व, सुख एवं समग्र मानवता के विकास के महान् आदर्श आत्मसात् कर लिए हों।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी लिखते हैं : "कवि स्वीकार करता है कि संसार परिवर्तित होगा और दुःख एवं विषाद के पश्चात् सुखमय जीवन का उदय होगा, पर उक्त काव्य-संग्रह में इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि समस्त प्राचीन एवं कालविपरीत वस्तुओं के अनन्त में विलीन होने के पश्चात् जो जीवन आएगा, उसका स्वरूप क्या होगा।"[१] पंतजी के सामाजिक आदर्श अभी अस्पष्ट एवं अनिश्चित ही रहे हैं। हाँ, उनका यह विश्वास मात्र है कि अन्त में अक्षय दुःख एवं शोक के स्थान में धरती पर वहुप्रतीक्षित, सुन्दर एवं सारपूर्ण जीवन का आगमन होकर ही रहेगा :

पतझड़ के कृश, पीले तन पर
पल्लवित तरुण लावण्य लोक
शीतल हरीतिमा की ज्वाला
दिशि-दिशि फैली कोमलालोक।

मानव-जीवन वैसा ही होना चाहिए जैसा चिरयौवना एवं सामंजस्यपूर्ण 'प्रकृति का पूर्ण सत्य'। जीवन की सुन्दरता एवं महत्ता का समर्थन करते हुए पंतजी कभी वहुत दूर तक पहुँच जाते हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय कला के एक अनूठे स्मृतिचिह्न ताजमहल में—सम्राट् शाहजहाँ की पत्नी की उस विख्यात कब्र में—कवि मनुष्य के हाथों की कीमया नहीं देखता, परन्तु देखता है केवल "मृत्यु की अक्षय पूजा और जीवन की अक्षय तुच्छता···"

मानव ऐसी भी विरक्ति
क्या जीवन के प्रति
आत्मा का अपमान
प्रेत औ' छाया से !

कवि समग्र जीवन की नवीनता के लिए तरसता है—अमरता, अक्षयता और पारलौकिक सुख के स्वप्न उसे निष्फल प्रतीत होते हैं।

पर मानव के नवजीवन पथ में अभी कितनी ही वाधाएँ हैं, अभी झूठे पूर्वाग्रहों, कालविपरीत परंपराओं और पुरानी रीतियों का कैसा बोलवाला है। और

१. शां० द्विवेदी, 'युग और साहित्य', पृ० २३४।

इधर कवि उस समय के स्वप्न देखता है जब पुराना संसार सदा के लिए समाप्त हो जाएगा। 'चिर' शब्द उनकी रचनाओं में बारंबार आने लगता है और उसके साथ-साथ प्रतिसंतुलनकारी शब्द 'नवल' भी। संसार की नवीकरण, मध्ययुगीन स्थितिशील परंपराओं से मानव की मुक्ति—यही पंतजी की समस्त काव्य-साधना का प्रधान स्वर बन जाता है।

'युगांत' नामक संग्रह की पहली कविता ही में नवयुग-सन्देश-वाहक कवि का अधीर स्वर सुनाई पड़ता है :

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र
हे स्रस्तध्वस्त हे शुष्क शीर्ण
हिम-ताप पीत, मधुवात-भीत
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन
निष्प्राण विगत युग मृत विहंग
जगनीड़ शब्द औ' श्वासहीन
च्युत, अस्तव्यस्त पंखों-से तुम
झर-झर अनंत में हो विलीन।

मानव-जीवन की सभी कठिनाइयाँ तथा दुर्भाग्य कवि को ऐसे विशाल पर्वत-से लगते हैं जो इर्द-गिर्द की सृष्टि पर कहर ढा रहे हों, अपनी अगम्यता से उसको दबा रहे हों। पर ये उत्तुंग पर्वत प्राची में उदय हो रहे सूर्य को आवृत नहीं कर सकते।

जिस प्रकार जागृति के साथ ही भयानक स्वप्नसृष्टि लोप हो जाती है, ठीक उसी प्रकार अगम्य मालूम होने वाले पर्वत सूर्य की स्वर्ण रश्मियों में डूब जाते हैं। पंतजी लिखते हैं : " 'युगान्त' में निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था उसका आभास 'ज्योत्स्ना' में पहले ही दे चुका था।"[1] उक्त संग्रह की लगभग प्रत्येक रचना में यह विचार-सूत्र उपस्थित है। आशावादी स्वर, जोकि पंतजी के काव्यसृजन के स्रोत ही में निहित है, इस संग्रह में स्पष्टतर तथा सुनिश्चित रूप में सुनाई पड़ता है। अपने आनन्दमय स्वरों से उषःकाल का और पतझर के पश्चात् नया रूप धारण कर रही, खिलती हुई वासंतिक प्रकृति का स्वागत करने वाले विहग पंतजी के काव्य के प्रिय प्रतीक बन गए हैं :

जगती के जन पथ कानन में
तुम गाओ विहग ! अनादि गान

१. देखिए सुमित्रानंदन पंत, 'काव्यकला और जीवनदर्शन', पृ० २३४।

चिर शून्य शिशिर पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण ।

ऊँघते हुए वन की रात्रिकालीन नीरवता को एकाएक एक तीव्र स्वर चीर देता है। फिर यह स्वर कोमल आकर्षक गीत में परिवर्तित हो जाता है। यह है कोयल का गीत। कोयल है ऊषा की संदेशवाहिका जो प्रकृति को जगा देती है, नये दिन का स्वागत करती है। और फिर जागृत हो रही समस्त प्रकृति ही धीरे-धीरे उसके स्वर में अपना स्वर मिला देती है। पन्तजी को कोयल का स्वर कवि के स्वर जैसा लगता है जो जन-हृदय को सुन्दरतर भविष्य की ओर रात्रि के तमस्, दुःख एवं शोक से मुक्ति की आशाओं से भरपूर कर देता हो :

गा कोकिल वरसा पावक कण
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बंधन
पावक पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन।

पंतजी चाहते हैं कि कवि के शब्द उज्ज्वल अग्निकणों की भाँति व्याकुल जन-हृदय में आशा की उष्ण ज्योति जगा दें, सत्य तथा न्यायशीलता के विजयोत्सव में विश्वास के दीपक जला दें। यहाँ पंतजी प्रथम वार कलाकार के सामाजिक कर्तव्य, स्वजनसेवा के विषय में कवि के उत्तरदायित्व की वात छेड़ते हैं। वह कवि से कहते हैं कि वह उसी प्रकार उच्च स्वर में और आवाहनपूर्वक गा उठे जिस प्रकार कोई स्वतंत्र विहग गाता है :

गा सके खगों-सा मेरा कवि
विश्री जग के संध्या की छवि
गा सके खगों-सा मेरा कवि
फिर हो प्रभात फिर आवे रवि।

एक अन्य कविता में पंतजी सीधे ही मानव-सेवा-विषयक अपनी प्रयत्नशीलता की और अपनी काव्य-साधना को जनोपयोगी वनाने की वात करते हैं :

जग-जीवन में जो चिर महान
सौन्दर्यपूर्ण औ' सत्य प्राण
मैं उसका प्रेमी वनूं नाथ
जिसमें मानव हित हो समान !

पंतजी के काव्य के कुछ भारतीय आलोचक पंतजी पर स्वामी विवेकानंद के दृष्टिकोणों की छाप के विषय में वारंवार लिखते हैं। और यह सही है कि स्वयं पंतजी ने भी कई बार इस वात का उल्लेख किया है। हमें ऐसा लगता है कि पंतजी पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव उनके मानवतावाद के क्रमिक विकास में, मानव

की विषयवस्तु की ओर उनके पदन्यासों में सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है।

'गुंजन' नामक काव्य-संग्रह की 'मानव' शीर्षक रचना में ही कवि मानव को प्रकृति की संपूर्ण सृष्टि कहता है और यह भी कहता है कि केवल मानव ही के कारण चतुर्दिक् की वास्तविकता में विचार एवं सौन्दर्य की अनुभूति होती है। फिर भी इस रचना में मानव अभी यथार्थ सत्तासंपन्न और सभी पार्थिव गुणों से परिपूर्ण जीवधारी के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता। 'युगांत' नामक संग्रह की 'मानव' शीर्षक रचना में मानव एकदम ही भिन्न दिखाई देता है। एक ओर से कवि मानव के सम्मुख नतमस्तक होता है जैसे वह कोई देवता हो। कवि उसे विश्व की सबसे परिपूर्ण रचना मानता है :

> सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
> मानव तुम सबसे सुन्दरतम।

दूसरी ओर कवि मानव के शरीर-सौन्दर्य से चकित हो उठता है और "तन में संचार करने वाले तरुण रक्त, बलशाली भुजाओं, सुडौल, चौड़े कंधों" आदि की प्रशंसा के गीत गाता है। उदारता, त्यागशीलता, सदसद्विवेक, विश्वास और मानवीयता आदि गुण देखकर वह मनुष्य के आध्यात्मिक विश्व से भी चकित हो उठता है। मानवीयता को वह इनमें से सर्वश्रेष्ठ गुण मानता है। अब कवि का मानव-प्रेम अस्पष्ट प्रतीकात्मक रूप में नहीं प्रकट होता—कवि अब पार्थिव, सामान्य प्रीति के गीत गाता है।

मानव-सत्ता के ऐसे द्विविध अर्थग्रहण में विवेकानन्द के नववेदांतवाद के प्रभाव के दर्शन हुए बिना नहीं रहते। मनुष्य को ऊपर उठाने के प्रयत्न में स्वामी विवेकानन्द ने इस बात पर बल दिया था कि स्वयं श्रेष्ठतम दिव्य सत्ता—अर्थात् ब्रह्म—लाखों सामान्य जीवधारी मनुष्यों के रूप ही में अवतार लेती है और इसी लिए मानव-सेवा ईश्वर-पूजा के ही बराबर है। विवेकानन्द लिखते हैं : "देह के आवरण में निहित मानव-आत्मा ही वह एकमेव भगवान् है जिसके सम्मुख हमें नतमस्तक होना चाहिए।" वह आगे लिखते हैं : "मनुष्य समस्त जीवधारियों में, सभी देवदूतों से श्रेष्ठ है। यहाँ तक कि यदि स्वयं भगवान् को धरती पर अवतरित होना है, तो उसे मानव ही का रूप धारण करना पड़ेगा।"[1] विवेकानन्द के इस विचार को दुहराते हुए पंतजी कहते हैं :

> जीवन के इस अंधकार में
> मानव आत्मा का प्रकाश कण।

विवेकानन्द ने अपने देशबन्धुओं से आवाहन किया था कि वे अपने स्वप्न से जागृत होकर नवजीवन निर्माण के पथ पर अग्रसर हो जाएँ। उस समय भारत

१. 'Thus spoke Vivekanand', Shri Ramkrishna Math, Madras, 1955, p. 10-24.

में सामाजिक चेतना के निर्माण में इस आवाहन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। यह आवाहन पंतजी के विचारों में प्रतिध्वनित हो उठा।

विवेकानन्द की भाँति पंतजी भी मानव को सशक्त, सुन्दर, गौरवशाली तथा स्वतंत्र देखना चाहते हैं। यही कारण है कि वह मानव के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास, सुखमय जीवन प्राप्त करने के मानव-अधिकार के समर्थन और मानव में आत्मसम्मान की भावना के विकास के लिए आवाहन करते हैं।

पंतजी की कुछेक रचनाएँ कहीं-कहीं विवेकानन्द के विशिष्ट विचारों की काव्यमय अभिव्यक्ति-सी लगती हैं। उदाहरणार्थ, विवेकानन्द द्वारा अपने देश-बन्धुओं के प्रति कहे गये ये शब्द देखिए : "जाओ, पुरुषार्थी बनो, वीर बनो, अपने भाग्य का उत्तरदायित्व स्वयं अपने हाथों में ले लो।"[1] ये शब्द लगभग जैसे-के-तैसे पंतजी की निम्नांकित काव्य-पंक्तियों में दुहराए गए-से दिखाई देते हैं :

बढ़ो अभय, विश्वास चरणधर
सोचो वृथा न भव-भय-कातर
सुख-दुख की लहरों के शिर पर
पग धर पार करो भव-सागर
बढ़ो-बढ़ो विश्वास चरण धर।

भारतीय काव्य में इस प्रकार के मानवतावादी विचार सबसे पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं में अभिव्यक्त हुए थे। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा ने पंतजी की कल्पना को काव्य-साधना पथ पर उनके पहले चरणों के साथ ही प्रभावित कर दिया था। इसलिए जब पंतजी पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव की बात उठती है तो हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव को भी भुला नहीं सकते। रवीन्द्र के जन-जागरणात्मक गीत-मुक्तकों और विशेषकर 'बलाका' (१९१४) नामक संग्रह की 'आह्वान' शीर्षक कविता का पंतजी पर विशेष प्रभाव पड़ा। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

आमरा चलि समुख-पाने
के आमादेर दाँविवे
रइलो जारा पिछुर टाने
काँदवे ताँरा काँदवे।[2]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा तत्कालीन प्रथितयश अन्य भारतीय कवियों की रचनाओं में पहले ही विस्तारपूर्वक प्रकट हुए इस प्रकार के विचार पंतजी की रचनाओं में अभिव्यक्त हुए हैं, जो भारतीय साहित्य में गुणात्मक दृष्टि से नव-मानवतावाद के आगमन के साक्षी हैं। इस विचारधारा ने भारतीय जाति की

---

१. वही, पृ० ७।
२. रवीन्द्र रचनावली, खण्ड १२, पृ० ५।

राष्ट्रीय आत्मचेतना के आम-उत्थान तथा स्वाधीनता-संघर्ष और भारतीय साहित्य में नए विचारात्मक-सौंदर्यात्मक आदर्शों के समर्थन की दिशा में महान् भूमिका प्रस्तुत की। इस मानवतावाद की विशेषता यह रही कि मानव को ऊपर उठाने, मानव में आत्मसम्मान की भावना और औदार्य, सत्य तथा न्यायशीलता के आदर्श जगाने के प्रयत्नों के साथ-शाथ उसमें (अर्थात् मानवतावाद में) ऐसी भावात्मक एवं औदासीन्यपूर्ण छटाएँ भी उपस्थित थीं, जो मुख्यतया गांधीजी की विचारधारा के प्रभाव से विकसित हुई थीं। इसमें एक ओर जाति के हितार्थ आत्मसमर्पण के लिए आवाहन, उसके उत्पीड़न के विषय में हार्दिक सहानुभूति और दासता तथा दमन के विरुद्ध निषेध का अस्तित्व था जबकि दूसरी ओर थे अहिंसा तथा पूर्ण आत्मविकास का उपदेश और वर्ग-शांति के लिए आवाहन इत्यादि।

'युगांत' संग्रह की 'बापू के प्रति' शीर्षक अन्तिम रचना पंतजी ने गांधीजी को संबोधन करते हुए लिखी है और उनके विचारों में अपने देशबंधुओं एवं समस्त मानवता की स्वतंत्रता का पथ ढूँढ़ने के प्रयत्न किए हैं।

एक महामानव 'महात्मा' के रूप में गांधीजी की स्तुति पंतजी करते हैं, निःस्वार्थ, त्यागमय जनसेवा के लिए उनकी प्रशंसा करते हैं, 'नई मानवतावादी संस्कृति' के निर्माण में गांधीजी द्वारा खेली गई भूमिका की बात करते हैं। पंतजी के मत में गांधीजी का सर्वोपरि सेवाकार्य यह रहा कि उन्होंने प्राप्त परिस्थितियों में अहिंसा सिद्धान्त का पुनरुत्थान किया, उन्हीं के कारण जनता को दमन और हिंसा के लिए एक नया शस्त्र मिल गया और लोग समझ गए कि "घृणा का सामना घृणा से नहीं, अपितु प्रेम से करना चाहिए।"[1]

जीवन को नए रूप में देखने के लिए उत्सुक पंतजी मानते हैं कि उनके सबसे बड़े स्वप्नों को साकार बनाने का पथ केवल गांधीजी के विचारों द्वारा ही प्रशस्त हो सकता है। अतः अपने सारे स्वप्नों, समस्त आशाओं तथा उमंगों का सम्बन्ध वह गांधीजी के साथ जोड़ देते हैं। यह करते हुए वह उनका हद तक आदर्शीकरण करते हैं, उनकी सेवा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, सभी सम्भव सद्‌गुण उनमें देखते हैं। गांधीजी के क्रियाकलापों के राजनीतिक पहलू पर पंतजी न के बराबर ध्यान देते हैं। वह मानते हैं कि गांधीजी का सर्वश्रेष्ठ सेवाकार्य मानवतावाद, 'नवमानव संस्कृति' के विकास ही में निहित है। गांधीजी को 'मानवतावाद के बीजारोपक', 'भावी संस्कृति के निर्माता', 'अतंस के प्रबोधक' आदि संज्ञाओं से सम्बोधन करते हुए पंतजी लिखते हैं :

जड़ता हिंसा स्पर्धा में भर
चेतना अहिंसा नम्र ओज

---
१. विश्वम्भर मानव, सुमित्रानंदन पंत, प्रयाग, १९५९, पृ० ३०७।

कारा थी संस्कृति विगत, भित्ति
बहु धर्म-जाति-गत रूप नाम
बंदी जगजीवन भू-विभक्त
विज्ञान मूढ़ जन प्रकृति-काम
आए तुम मुक्त पुरुष, कहने—
मिथ्या जग बंधन, सत्य राम···

पंतजी के अनुसार नव जीवन (संस्कृति) को गीतहीनता तथा रूढ़िवाद से मुक्त 'दिव्य चेतना' के मनोहर प्रभामंडल से मंडित और महान् मानवतावाद के विचारों से पुष्ट होना चाहिए और यह केवल गांधीजी के उपदेशों के पालन द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है।

दमन और अन्याय से मानव की मुक्ति के लिए सक्रिय संघर्ष के बदले पंतजी उदारमतवादी भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करते हुए गांधीवादी विचारधारा के मूलभूत सिद्धान्तों को अपना लेते हैं।

फिर भी यह बात उल्लेखनीय है कि 'बापू के प्रति' शीर्षक रचना में भाववादी-नैतिकात्मक उपदेश और अहिंसा सिद्धान्तों की प्रशंसा के साथ-साथ साम्राज्यवादी दमन एवं शोषण की स्पष्ट आलोचना का स्वर भी सुनाई देता है, जिसमें गांधीजी के दृष्टिकोण का प्रगतिशील पहलू प्रतिबिंबित होता है :

साम्राज्यवाद था, कंसबंदिनी
मानवता पशुबलाक्रान्त
शृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन-पद-शक्ति भ्रान्त
कारागृह में दे दिव्य जन्म
मानव आत्मा को मुक्त कान्त।

इस प्रकार गांधीजी के दृष्टिकोणों और भारतीय जाति के समूचे आध्यात्मिक जीवन में उनकी भूमिका के अर्थोद्घाटन एवं मूल्यांकन का प्रथम प्रयत्न करने वाली पंतजी की 'बापू के प्रति' शीर्षक रचना को एक प्रकार से उक्त संग्रह का निष्कर्ष, कवि के समस्त विचारों एवं स्वप्नों, अनिश्चितताओं एवं शंकाओं का सार माना जा सकता है। आगे चलकर कवि ने कई बार इस विषय पर लिखा है और ऐसा करते हुए अपने देशबंधुओं के आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक जीवन में गांधीवादी विचारधारा की भूमिका को अधिक विस्तारपूर्वक और पूर्णता के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ठीक ही लिखते हैं कि 'युगांत' संग्रह में पंतजी के दार्शनिक दृष्टिकोण काव्यात्मक रूप में प्रकट हुए हैं। यदि उनके 'वीणा' नामक प्रथम संग्रह में अस्पष्ट सौंदर्यानुभूति दिखाई देती है, जो आगे चलकर 'पल्लव'

एवं 'गुंजन' में पूर्णतर-विकास पा चुकी है, तो 'युगांत' संग्रह में नए युग की वाणी —यद्यपि अभी अस्पष्ट ही क्यों न हो—सुनाई पड़ती है, जो पंतजी के 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' नामक बाद के संग्रहों में सशक्त और दृढ़ बन गई है। इस प्रकार यदि 'वीणा' को छायावाद का बीजारोपण माना जा सकता है, तो 'युगांत' को प्रगतिवाद का संदेशवाहक कहा जा सकता है।[1]

'युगवाणी' संग्रह

"तुम दावा वन को हरित भरित कर जाती !"—'क्रांति'

सन् १९३६ के शीतकाल से लेकर सन् १९४१ तक पंतजी बराबर कालाकांकर में रहते रहे। यह पंतजी की काव्य-साधना का द्वितीय कालाकांकर कालखण्ड रहा। हमारी दृष्टि से कवि की समग्र काव्य-साधना में यह सबसे महत्त्वपूर्ण कालखण्ड है। उन दिनों उन्होंने जन-साधारण के कष्टमय जीवन को समीप से देख लिया और तब सौंदर्य एवं सामंजस्य के प्यासे उनके हृदय में परस्परविरोधी भावों एवं अनुभूतियों का एक पूरा तूफ़ान ही उठा। "इस युग में जीवन के वातावरण तथा रहन-सहन का निरीक्षण-परीक्षण मैं अधिक अच्छी तरह कर सका और अपने तथा आर्थिक-राजनीतिक विचारों तथा सांस्कृतिक भावना और कवि-कल्पना की पृष्ठ-भूमि में उसे ग्रहण कर उसके पुनर्निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार करने लगा। मेरे सौंदर्य-प्रेमी हृदय को गाँवों की अत्यन्त दयनीय दुरवस्था को देखकर अनेक बार कठोर आघात भी लगे हैं और मेरा विचार-जगत् क्षुब्ध तथा विचलित होता रहा है। अनेक रूप से मैंने अपने व्यक्तिगत तथा लोकजीवन के अवसाद को उस काल की रचनाओं में वाणी दी है···प्रकृति निरीक्षण, अध्ययन तथा ग्राम-जीवन की विपन्नता का विश्लेषण, कालाकांकर के निवासकाल के ये मेरे प्रमुख जीवन अवलम्ब रहे हैं। सन् ३६ से ४० तक मैंने अपना अधिकांश समय केवल पठन-पाठन, चिंतन तथा सृजन को ही दिया है। इन वर्षों में मैं एक बौद्धिक यन्त्र की तरह रहा हूँ।"[2] देहात में पंतजी के सम्मुख एक नया, अभी तक अपरिचित संसार उद्घाटित हुआ जिसने उनके समग्र जीवन को ही व्याप्त कर दिया और उनकी तरुणोचित स्वच्छंदतावादी स्वप्नसृष्टि को परिवर्तित कर दिया। अब कवि समय की पुकार को अधिक लगन से सुनने-गुनने और तूफ़ानी वेग से घटित होनेवाली घटनाओं को ध्यानपूर्वक देखने लगा।

वर्तमान शती के चौथे दशक के अन्त में राष्ट्रीय कांग्रेस ने देश की समस्त साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों को एकत्रित कर दिया और तब यह संगठन भार-

---

१. द्विवेदी, 'युग और साहित्य', पृ० २३३।

२. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ५३।

तीय जाति के राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष का 'सच्चा, एकतापूर्ण मोर्चा'[१] बन गया। भारतीय कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ता गया। उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्तर्गत कार्य किया, राष्ट्रीय कांग्रेस के झण्डे के नीचे विभिन्न जन-संगठनों को सामूहिक रूप में एकत्रित करने की माँग जारी रखी और सभी वामपंथी तत्त्वों की गति-विधियों की एकता के लिए प्रयत्नशील रहे।"[२] अधिकाधिक संख्या में जन-समूह राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष में सम्मिलित होते गए, जिनमें तरुण मज़दूर वर्ग सर्वोपरि रहा। मज़दूर और भारतीय बुद्धिजीवी श्रेणी के अग्रणी स्तरों में मार्क्सवादी विचारधारा अधिकाधिक विस्तृत मात्रा में फैलती गई और बुर्जुआ-सुधारवादी तथा गांधीवादी विचारधाराओं से उसका टकराव हुआ।

पंतजी पर इस स्थिति की स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई। उनके लिए अपने वे पहले के दृष्टिकोण जो गांधीवादी विचारधारा पर आधारित थे अब उतने पक्के और सर्वव्यापी नहीं रहे। उन्होंने ऐंद्रजालिक स्वप्नसृष्टि से विदा ली और चतुर्दिक् की वास्तविकता में नये आदर्शों तथा मूल्यों की खोज करने लगे। अपने नियमों और रीतियों के बावजूद उन्होंने स्वाधीनता-संघर्ष में भाग लिया। "कालाकांकर में भी स्वतंत्रता-संग्राम की हलचल होती रहती थी···मुझे दो-एक बार···स्वयंसेवकों के प्रदर्शन में जाने का अवसर मिला है। गांधीजी के उपवासों तथा आमरण व्रतों से मन उद्वेलित होता रहता था और सांझ-सवेरे रेडियो द्वारा उनके समाचार जानने को जी व्याकुल रहता था। हमारी पीढ़ी की भावना का विकास युद्धक्षेत्र में हुआ।"[३]

उस समय भारत में रंगभूमि का-सा वातावरण था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा सामाजिक विमोचन के लिए संघर्ष करने वाली जनता द्वारा बढ़ते हुए विरोध की शक्तियों और देश में उपनिवेशवादी शासन को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावादियों के बीच घनघोर, प्राणघातक सामना चल रहा था। तूफ़ान के वेग से घटनेवाली घटनाओं के कारण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष से संबंधित सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक प्रत्यक्ष समस्याएँ अधिकाधिक तीव्र तथा निर्णायक रूप में आगे आईं। इन समस्याओं का शीघ्रातिशीघ्र हल होना अपेक्षित था। पर गांधीवादी विचारधारा की सँकरी चौखटें भारतीय जाति के स्वतन्त्रता संघर्ष के विकास में बड़े पैमाने पर बाधाएँ बनी हुई थीं। जब तक पंतजी अपने भावों तथा अनुभूतियों के एकान्त संसार में मग्न रहे, वे भाव तथा अनुभूतियाँ चतुर्दिक् की वास्तविकता से सम्बद्ध होते हुए भी उनके आदर्शवादी दार्शनिक दृष्टिकोणों की सीमाओं में बँधी हुई रहीं और जब तक जनता के जीवन से पंतजी

१. उद्धरण 'भारत का नवीनतम इतिहास', मास्को, १९६१, पृ० ३४०।
२. वही, पृ० ३४२।
३. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ५५, ५६।

का समीप से सम्पर्क न हुआ तव तक उन्हें गांधीजी के दृष्टिकोणों ने मुग्ध कर रखा और वह उनमें सभी दु:खों की दवा और उन्हें परेशान करनेवाले सभी प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए प्रयत्नशील रहे। पर इधर कितने ही अन्य स्वच्छंदतावादी लेखकों की भाँति पंतजी को भी एक के वाद एक घटनेवाली वेगवान घटनाओं के प्रवाह ने अपनी लपेट में ले लिया और उस प्रत्याशित द्वीप को आप्लावित कर दिया जो कवि को विश्वासार्द आश्रय भूमि-सा लग रहा था। जीवन के प्रचण्ड प्रवाह में उन्हें अपने पहले के स्वच्छंदतावादी आदर्श तथा इन्द्रधनु-समान मोहक स्वप्न एकदम निराधार तथा मृगजल-से महसूस हुए। कठोर वास्तविकता से टकराकर वे चकनाचूर हो गए और कल्पना की भुरभुरी भूमि पैरों के नीचे से बड़ी तेज़ी के साथ खिसकती गई। पर इससे शरण कहाँ ली जाती? कहाँ थे वे नये आदर्श और सिद्धान्त जिनका विश्वासपूर्वक आधार लिया जा सकता और जिनके लिए न तूफ़ान का डर होता और न नीरवता का, न गहराई का भय होता और न उथलाई का ही। पंतजी को गांधीवादी सिद्धांतों की असंगति अधिकाधिक मात्रा में प्रतीत होने लगी। गांधीजी के विचार एवं सिद्धांत, जो कि आरम्भ में पंतजी को वहुत ही स्थिर तथा सर्वव्यापी लगते थे, समय की परीक्षा में टिक न पाए।

कुछेक भारतीय शोधकों के इस कथन से सहमत होना कठिन है कि वर्तमान शती के चौथे और पाँचवें दशक के सभी हिन्दी कवियों में पंतजी ही गांधीजी के दृढ़तम एवं अत्यधिक विश्वासी समर्थक थे। काव्य-साधना के पथ पर पदार्पण के आरम्भ से ही पंतजी के दृष्टिकोण कई प्रश्नों के विषय में गांधी-वाद के मूल सिद्धान्तों से तत्त्वतः भिन्न रहे हैं, फिर भले ही स्वयं कवि ने गांधीवादी विचारधारा के निर्विवाद स्वीकार की घोषणा कर दी हो। यह कहना आवश्यक है कि पंतजी के मानवतावादी एवं जीवन-समर्थक काव्य के लिए गांधीजी के संन्यासवाद से ओतप्रोत उपदेश पराये ही थे। गांधीजी तो वासना-नियन्त्रण, कठोर इन्द्रिय-निग्रह और प्रेम के आनन्द एवं सुख के दमन के लिए आवाहन करते थे। पंतजी इस बात से कभी सहमत न थे कि दारिद्र एवं वेदना मनुष्य की उच्चतम नैतिक निधियों के स्रोत हैं और संन्यासवाद में ही उसकी महान् नीतिमत्ता के बीज छिपे हुए हैं।

सन् १९३८ में कवि नरेन्द्र शर्माजी के साथ पंतजी ने 'रूपाभ' नामक साहित्यिक-आलोचनात्मक पत्रिका के प्रकाशन में हाथ वँटाया। प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली इस पत्रिका का उद्देश्य पंतजी के शब्दों में उस जनता के बीच सामाजिक चेतना जागृत करने का था, जो स्वदेश को स्वतन्त्र बनाने के हेतु संघर्ष छेड़ने के लिए कटिबद्ध हो रही थी। "साहित्य-प्रेमियों ने तब उसका अच्छा स्वागत

किया था और उसने उस युग की पत्रकारिता को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया था।"[१]

'रूपाभ' की पहली ही संख्या में पंतजी ने पत्रिका के कार्यक्रम के विषय में एक विस्तृत लेख लिखा था, जिसमें उनके विचारात्मक-सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित हुए थे। 'पल्लव' नामक संग्रह की प्रस्तावना उनके नवीनतापूर्ण आरम्भकालीन स्वच्छंदतावादी काव्य की सैद्धांतिक आधारशिला रही है और भारत में अक्सर इसे एक प्रकार से 'छायावाद का घोषणा-पत्र' कहा जाता है। इसी प्रकार 'रूपाभ' में प्रकाशित उपर्युक्त लेख एक प्रकार से 'प्रगतिवाद का घोषणा-पत्र' सिद्ध हुआ। इसमें छायावादी काव्य का सारग्रहण था और कविता के नये लक्ष्यों तथा दायित्वों की नींव डाली गई थी।

इस प्रकार युगनिर्माता और छायावाद के अग्रणी कवि पंतजी ने पहली ही बार अपने काव्यविषयक विशेष दृष्टिकोणों एवं विश्वासों को खुली चुनौती दी और कवियों से आवाहन किया कि वे जनजीवन की अगवानी करने के लिए आगे बढ़ें। "इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता सपनों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"[२]

श्री रवीन्द्र वर्मा के अनुसार "पंत द्वारा इंगित कविता का यह नया आदर्श वस्तुतः मार्क्सवादी आदर्श है।"[३] अपने इस कथन के समर्थन में श्री वर्मा व्ला०इ० लेनिन की यह सम्मति उद्घृत करते हैं कि "कला पर जनता का स्वामित्व है। उसकी जड़ें विशाल श्रमिक समाज के विस्तृत-से-विस्तृत स्तरों में गहराई तक पहुंच जानी चाहिए। उसे इस समाज के लिए बोधगम्य तथा प्रिय होना चाहिए। कला को इस समाज के भावों, विचारों एवं इच्छा को एकत्रित करके उसे ऊपर उठाना चाहिए।[४]

और सचमुच ही पंतजी के उपर्युक्त लेख की प्रधान कल्पना इस सम्पति की समर्थक है कि कविता को अप्रतिहत रूप से जीवन के साथ सम्बद्ध होना चाहिए, उसमें चतुर्दिक् की समस्त घटनाओं की प्रतिध्वनि उठनी चाहिए और उसे जनता की शिक्षा-दीक्षा में तथा उसके बीच नई चेतना को विकसित करने के कार्य में

---

१. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ५७।
२. 'रूपाभ', पंत का संपादकीय, वर्ष, १, अंक १, जुलाई, १९३८।
३. र० वर्मा, 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव', पृ० २२८।
४. देखिये व्ला० इ० लेनिन, 'साहित्य एवं कला के विषय में' मास्को, १९५७, पृ० ५८३।

महत्त्वपूर्ण भूमिका खेलनी चाहिए। पंतजी स्वीकार करते हैं कि "छायावादी कविता की समस्त उच्च काव्यात्मक सिद्धियों के बावजूद वह इन ऊर्ध्व दायित्वों को नहीं निभा सकती, क्योंकि उसमें इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए आवश्यक भाव और रस नहीं हैं, जो लोगों को उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के लिए प्रेरित कर सकें, सौंदर्य के नए आदर्शों, नए विचारों, भावों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल साधन तथा संभावनाएँ उसके पास नहीं हैं। अतः एक विशिष्ट कालखंड में सकारात्मक भूमिका खेलते हुए भी वह आज एक मोहक अलंकार, सुन्दर संगीत मात्र रह गई है, जो अपने समस्त सौंदर्य के होते हुए भी नए, अग्रणी विचारों और नए युग के प्रगतिशील जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति देने की स्थिति में नहीं है।"[1]

पंतजी ने छायावादी कविता में विकसित होने वाली प्रतिगामी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों को, जोकि सबसे पहले यथार्थ वास्तविकता से मुँह मोड़कर ऐंद्रजालिक स्वप्नों, व्यक्तिगत अनुभूतियों तथा वास्तविकता से रिक्त काल्पनिक सौंदर्य के मायावी संसार की ओर बढ़ने में प्रकट हो रही थीं, कठोर आलोचना की कसौटी पर कसा। छायावादी कविता के संकुचित विचार-क्षेत्र से अब उन्हें सन्तोष नहीं होता। इस छायावादी कविता में आध्यात्मिक संसार पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था और अधिभौतिक संसार की उपेक्षा की जाती थी। पूर्ण सुख एवं सौंदर्य के रहस्यवादी तथा आध्यात्मिक संसार में विलीन भाववादी आदर्शों की खोज की संभावनाओं की विफलता कवि को अधिकाधिक अनुभव होने लगी। 'युगवाणी' नामक संग्रह की 'पुण्य-प्रसू' शीर्षक रचना में कवि "निर्जीव नभ की नीलिमा से ध्यान हटाकर इस धरती पर—मानव की पवित्र माता पर ध्यान दिलाने" के लिए आवाहन करता है।

वर्तमान शती के चौथे दशक के अन्त में स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता-संघर्ष की ज्वाला ने पंतजी की कविता को गहरे, चमकीले रंगों में रँग दिया। उसमें राष्ट्रभक्ति की नई, उजली धारा फूट पड़ी। फिर भी अभी तक कवि यथार्थ की दिशा में अन्तिम चरण बढ़ाने का पूरा निश्चय नहीं कर पाया था—वह धार्मिक-दार्शनिक परंपराओं से दृढ़ संवद्ध जो था, और उसकी कविता में स्वच्छंदतावादी धारा अति प्रबल जो थी। यह बात निर्विवाद है कि यहाँ पंतजी पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चौथे दशक की कविता का प्रभाव था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उक्त कालखंड की कविता "पीड़ा से उदात्तीकृत अनुराग की गहरी भावना से ओतप्रोत थी। अगले दशक में उनकी कविता का निकट व्यक्तित्वपूर्ण स्वरूप बदलकर गहरे, परिपक्व मानवतावाद से परिपूर्ण हो गया। उनकी पहले की रचनाओं की स्थूलता विचारों एवं अभिव्यक्ति-माध्यमों की

१. उद्धरण, अरविंद, 'पंत की काव्य-साधना', पृ० ६।

मितव्ययिता में परिवर्तित हो गई।[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चौथे दशक की कविता के विषय में प्राध्यापक हुमायूँ कवीर द्वारा कहे गये ये शब्द उस महाकवि के शिष्य एवं अनुयायी पंतजी पर भी लागू होते हैं।

फिर भी ठाकुर तथा पंत की चौथे दशक की काव्य-साधना की महत्त्वपूर्ण भिन्नता को भी ध्यान में लेना चाहिए। जीवन के अस्तकाल में गुरुदेव अनेक वार भारतीय विषयवस्तु की सीमाओं को लाँघ जाते थे, समूची मानवता के भाग्य के विषय में उनका जी अधिकाधिक वेचैन हो उठता था। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ तव उनकी रचनाओं में प्रतिविंवित हुई थीं। इस सम्बन्ध में कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। फासिस्ट इटली द्वारा इथियोपिया पर किए गए आक्रमण की घटना से सम्वन्धित 'अफ्रीका' शीर्षक रचना, जापान द्वारा चीन पर किए गए आक्रमण के विषय में लिखी गई 'बुद्धपूजक' शीर्षक रचना आदि इनमें से विशेष प्रभावपूर्ण उदाहरण हैं।

पर पंतजी की काव्य-कल्पना वरावर भारतीय सीमाओं के अन्दर ही रही है। यह कहना ठीक न होगा कि समस्त मानवता की समस्याएँ पंतजी को वेचैन नहीं करती थीं। उनका ध्यान तो सदा ही मानव के भविष्य पर केन्द्रित रहा है, पर उन दिनों अपने देश की श्रमिक जनता के कष्टमय जीवन के निकट संपर्क में आने के फलस्वरूप भारत की वास्तविकता ही उन्हें सवसे पहले वेचैन कर देती थी। उनकी कविता में तव अधिकाधिक स्पष्ट और खुले रूप में श्रमिक किसानों के प्रति सहानुभूति का स्वर गूँजने लगा था।

सन् १९३७-३८ में पंतजी द्वारा लिखी गई अधिकांश रचनाएँ उनके द्वारा संपादित 'रूपाभ' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुईं। सन् १९३९ के अन्त में ये कविताएँ प्रयाग के 'भारती भण्डार' द्वारा एक स्वतंत्र काव्य-संग्रह के रूप में प्रकाशित की गईं।

अपनी नई पुस्तक को पंतजी ने 'युगवाणी' का नाम दिया। इस काव्य-संग्रह के आशय को ध्यान में लेते हुए इससे अधिक समुचित नाम भला और क्या हो सकता था? इस संग्रह की समस्त ८२ कविताओं में वास्तविकता के तीव्र भाव कूट-कूटकर भरे हुए हैं। पंतजी ने इसमें समय की नाड़ी अचूक पकड़ ली है। उनकी पैनी दृष्टि ने वे सव महत्त्वपूर्ण वातें ठीक-ठीक देख ली हैं जो तत्कालीन भारतीय वास्तविकता की विशेषताएँ थीं।

'युगवाणी' नामक संग्रह में कई आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक-सौंदर्यात्मक समस्याओं को वाणी मिली है जो उन दिनों भारतीय समाज के ध्यान का केन्द्रविन्दु वनी हुई थीं और रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रेमचन्द, निराला आदि चोटी के भारतीय साहित्यिकों की रचनाओं में सिर उठा

१. 'सोवियत संस्कृति', २१-११-१९५९।

रही थीं। पंतजी का यह काव्य-संग्रह ठीक उस समय प्रकट हुआ जिस समय भारत के प्रगतिशील लेखक संघ की गतिविधियों का श्रीगणेश हो रहा था। प्रगतिशील साहित्य के विकास में इसने वड़ा हाथ वँटाया। नगेन्द्र का 'आज की हिन्दी कविता और प्रगति'[1] शीर्षक लेख पंतजी की काव्य-साधना के विश्लेषणार्थ ही लिखी गई पुस्तक में समाविष्ट हुआ, यह कोई संयोग की वात नहीं थी। भारतीय साहित्य की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के विपय में भारत में जो पहले गम्भीर अनुसंधान हुए उनमें से एक यह लेख था। यह निःशंक रूप से कहा जा सकता है कि निरालाजी के साथ पंतजी हिन्दी कविता के प्रगतिवादी आन्दोलन में एक अग्रगामी कवि रहे हैं।

उक्त काव्य-संग्रह का मूलगामी विचार है जन-जीवन के साथ साहित्य के अखण्ड संवंध का समर्थन और काल्पनिक सौंदर्य की खोज में वास्तविकता से दूर रहने वाले साहित्य का अस्वीकार। 'नव-दृष्टि' शीर्पक रचना में कवि सीधे इस विचार का समर्थन करता है: "आज हम केवल ऐसी कला को स्वीकार करते हैं जो सवकी सेवा करती हो, जो सवको सुन्दरता से संपन्न करती हो। आज कला की संमस्त विधि, समूची ऊर्ध्व कल्पना धरती पर उतरकर साधारण संसार में रहती और विकसित होती है।" पंतजी की तत्कालीन कविता का विश्लेषण करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं: "आज मूल्यांकन भिन्न हो जाने से सौंदर्य का आदर्श वदल गया है। पुराना वासनायुक्त सौंदर्य आज वासी हो गया है। आज तो जो प्रत्यक्ष है, जीवन-प्रद है, वही सुन्दर है।"[2] उस समय की अपनी एक रचना में पंतजी लिखते हैं कि "आज असुन्दर लगते सुन्दर"।[3]

इस दृष्टि से उक्त 'युगवाणी' नामक संग्रह की सर्वोत्तम कविताओं में से 'दो लड़के' शीर्षक कविता विशेष उल्लेखनीय है।

अपने कमरे की खिड़की में से कवि दो देहाती लड़कों का खेल देख रहा है। विखरे वालों वाले, गदवदे, साँवले, गठीले और लगभग अनावृत शरीरवाले पर वरावर आनन्दी एवं हँसमुख वालकों को वह निहारता है। उनके हास्य एवं किलकारियों को वह ऐसे ही सुनता है जैसे जीवन का मोहक संगीत सुन रहा हो। ये लड़के कूड़े के ढेर में फीतों के टुकड़े, सिगरेट के खाली डिव्वे, रंग-विरंगी तस्वीरें और चमकीली पन्नी पाकर खुश होते हैं, आँगन में एक-दूसरे का पीछा करते हुए किलकारियाँ भरते हैं। इन्हीं देहाती लड़कों में कवि को जीवन का उच्च अर्थ प्रतीत होता है, वह उनमें पूर्ण सौंदर्य को साकार हुआ देखता है:

---

१. 'आज की हिन्दी कविता और प्रगति', नगेन्द्र कृत 'सुमित्रानंदन पंत' शीर्षक पुस्तक का एक लेख, आगरा, सं २०१४, पृ० १३२-१३६।
२. नगेन्द्र, 'सुमित्रानन्दन पंत', पृ० १३५।
३. सुमित्रानन्दन पंत, 'चिदम्बरा', प्रयाग, १९५९, पृ० १६।

मेरे आँगन में (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे-से लड़के आ जाते हैं अक्सर,
नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले—पर फुर्तीले···

मानव से सुन्दरतर तथा पूर्णतर और कुछ नहीं हो सकता। मानव तो समस्त दिव्यता से भी श्रेष्ठ है :

अस्थि-मांस के इन जीवों का ही यह जग घर
आत्मा का अधिवास न यह, वह सूक्ष्म अनश्वर !
न्यौछावर है आत्मा नश्वर रक्त-मांस पर
जग का अधिकारी है वह, जो है दुर्बलतर !

कवि आगे कहता है कि जनसमाज ही इस संसार का स्वामी है। जब यह संसार सुन्दर एवं पूर्ण विकसित होगा, तब मानव किसी दूसरे स्वर्ग के स्वप्न नहीं देखा करेगा :

क्यों न एक हों मानव मानव सभी परस्पर,
मानवता निर्माण करे जग में लोकोत्तर !
जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय,
मानव का साम्राज्य बने, मानव हित निश्चय !
जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त-मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित !
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें, मानव ईश्वर !
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर !

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सबसे पहले बँगला काव्य में सौन्दर्य के विषय में नई धारणा का समर्थन किया। यह सौन्दर्य उनके समग्र काव्य को व्याप्त किए हुए है जिससे उस काव्य को अनूठे मानवतावादी, जीवनानन्दमय स्वर प्राप्त हुए हैं। रवीन्द्र के अनुकरण में पंतजी ने भी हिन्दी काव्य में सौन्दर्यविषयक नए आदर्श प्रचलित किए। सौन्दर्य को चतुर्दिक् की वास्तविकता का स्वाभाविक गुण मानते हुए रवीन्द्र ने सुन्दरता तथा उपयोगिता के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न उठाया। वह लिखते हैं : "यदि सौन्दर्य का आकर्षण मनुष्य के मन को संसार से इस प्रकार छीन ले, मनुष्य की वासना को अपने चारों ओर के साथ यदि किसी प्रकार अनुकूल न होने दे, जो कुछ प्रचलित है उसे बेकार कहे, जो हितकर है उसे ग्राम्य कहकर परिहास करे तो ऐसे सौन्दर्य को धिक्कार है।"[१] पंतजी जैसे इसी विचार को निम्नलिखित शब्दों में दुहराते हैं : "मेरी दृष्टि में भू-जीवन को भगवत जीवन बनाने के लिए हमें कहीं ऊपर नहीं खो जाना है, प्रत्युत जीवन-आकांक्षाओं का

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'साहित्य', बम्बई, १९४९, पृष्ठ ८३।

पुनर्मूल्यांकन कर विगत मूल्यों को अधिक व्यापक बनाना है। निश्चय ही जो आध्यात्मिकता मानव-जीवन के रक्त-मांस के उपादानों का बहिष्कार या अवहेलना कर किसी उच्च जीवन की कल्पना करती है, वह जीवन-मंगल की द्योतक नहीं हो सकती !...मैंने 'युगवाणी' में रूप-मांस अर्थात् संस्कृति-शुद्ध जीवन ही को भगवत् प्रकाश का मूर्त उपादान बनाया है...।"[१]

...धातु, वर्ण, रस-सार,
बने अस्थि, त्वच, रक्तधार,
कुसुमित अंग उभार !
सुन्दरता उल्लास,
छाया, गंध, प्रकाश
बने रूप लावण्य विकास
नव यौवन मधुमास।
जीवन रण में प्रतिक्षण
कर सर्वस्व समर्पण,
पूर्ण हुई तुम प्रकृति !
आज बन मानव की कृति !

पंतजी मानते हैं कि बाह्य तथा आन्तरिक, आत्मिक तथा शारीरिक सौन्दर्य का अखण्ड, अभिन्न संगम ही सत्यार्थ में सुन्दर होता है। मानव प्रतिभा द्वारा निर्मित समस्त आध्यात्मिक मूल्य समग्र जनता की सम्पत्ति बन जाने चाहिए— तभी जाकर धरती पर सच्चे सौन्दर्य एवं सुख की सृष्टि हो सकती है। इस विषय में पंतजी ने 'मन के स्वप्न' शीर्षक अपनी रचना में अपने विचार प्रकट किए हैं। यह कविता 'गीतांजलि' के गीतों की शैली पर 'जीवन की दिव्यता' के प्रति प्रार्थना के रूप में लिखी गई है :

आज अखिल विज्ञान ज्ञान को
रूप, गंध, रस में प्रकटाओ।
आत्मा की निःस्सीम मुक्ति को
भव की सीमा में बँधवाओ !
उनकी रक्त-मांस इच्छा को
मधुर अन्न-फल में उपजाओ !
सत्य बनाओ, हे
मानव उर के स्वप्नों को
सत्य बनाओ !

कवि ('युगवाणी' शीर्षक रचना में) चाहता है कि समस्त संसार में प्रबल

१. सु० पंत, 'चिदम्बरा', पृष्ठ २६।

युगवाणी इस प्रकार गूंज उठे कि चारों ओर से उसकी प्रतिध्वनि सुनाई दे :

स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव,
स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अंतर्जगत ही बहिर्जगत
बन जावे, वीणापाणि
युग की वाणी !

कला तथा ज्ञान की देवी सरस्वती से कवि सहायता एवं समर्थन के लिए यह प्रार्थना करता है।

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, तरुण एवं स्वच्छंदतावादी कवि पंतजी के लिए चिरनूतन, सजीव, मानव से सदैव सम्बद्ध तथा प्रेरणादायी प्रकृति का सामंजस्य ही पूर्ण सौंदर्य रहा है। इसी प्रकार के सामंजस्य को वह जन-जीवन में देखना चाहते हैं। यह विचार प्रथम बार स्पष्ट रूप से 'गुंजन' नामक काव्य-संग्रह में प्रकट हुआ था। 'युगांत' में वह अधिक विकसित हुआ और 'युगवाणी' में तो उसी की प्रधानता रही। 'पतझर' शीर्षक रचना में कवि को वह ऋतु मुरझान की द्योतक न लगकर सृष्टि के नवीकरण की संदेशवाहिका-सी लगती है। भारतीय जनता के अज्ञानपूर्ण जीवन की तुलना कवि पतझर के साथ करता है, जिसके पश्चात् वसंत और प्रफुल्लता का समय अवश्य ही आता है :

पतझर यह, मानव जीवन में आया पतझर,
आज युगों के बाद हो रहा नया युगांतर !
बीत गए बहु हिम, वर्षातप, विभव पराभव,
जग जीवन में फिर वसंत आने को अभिनव !

निराशा का कोई कारण नहीं—बोझिल बरसाती बादल छँट जाएँगे और नवरूपधारिणी धरती पर वासंतिक सूर्य की सुनहरी किरणें बिखरने लगेंगी :

झरते हों, झरने दो पत्ते—डरो न किंचित्,
नवल मुकुल मंजरियों से मन होगा शोभित !
सदियों में आया मानव जग में यह पतझर,
सदियों तक भोगोगे नव मधु का वैभव वर !

हाँ, प्रकृति नया रूप धारण करती और विकसित होती है और उसके स्वाभाविक विकास में कोई बाधा नहीं डाल सकता। पर इधर धरती पर अभी तक ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जो सामाजिक प्रगति में रोड़े अटकाने, मानवता को पीछे ठेलने और उसके लिए नव-जीवन का पथ बन्द कर देने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। इन सभी कृष्ण शक्तियों के विरोध को समाप्त किए बिना नव-समाज रचना और धरती पर नए विकसनशील जीवन की सृष्टि असंभव है और इसीलिए पंतजी इन शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दायित्व मानते हैं।

पंतजी लिखते हैं : "मैंने 'युगवाणी' में मध्ययुगीन, परंपरागत नीतिकल्पना पर प्राणघातक प्रहार किया है, और जनता की चेतना को झूठे मायाजाल, ध्वंसावशेषों तथा अंधविश्वास से मुक्त कराने और धरती पर नए उत्थान के युग के आगमन की घोषणा करने का प्रयत्न किया है।"[1]

पंतजी के मन में सामाजिक विषमता, धार्मिक, सांप्रदायिक, वर्णविषयक तथा वांशिक अंधविश्वास और रूढ़िवादी परंपराएँ मानव की स्वतंत्रता में बाधा डालती हैं। ये लोगों को अलग-थलग बना देती और उनमें अविश्वास तथा अंध-विश्वास उत्पन्न कर देती हैं। इन सभी अनावश्यक बातों के गये-बीते कबाड़खाने के पीछे से मानव दिखाई ही नहीं पड़ता—वह उन्हीं के बीच खोया हुआ रहता है। इसलिए पंतजी आवाहन करते हैं :

आज मनुज को खोज निकालो !
जाति, वर्ण, संस्कृति, समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो !
देश राष्ट्र के विविध भेद हर,
धर्म नीतियों में समत्व भर,
रूढ़ि रीतिगत विश्वासों की
अंध यवनिका आज उठा लो।

भारतीय समाज में नारी की दयनीय एवं अधिकारहीन दशा को पंतजी बहुत बड़ी राष्ट्रीय विपदा मानते हैं। इस समस्या की ओर कवि का ध्यान जाना कोई संयोग की बात नहीं थी। राष्ट्रीय अस्मिता की जाग्रति और भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के उत्थान ने अनिवार्य रूप से नारी की स्वतंत्रता के मार्गों तथा साधनों का प्रश्न बड़ी ही तीव्रता के साथ खड़ा कर दिया था। राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रेमचन्द तथा अन्य अनेक श्रेष्ठ भारतीय साहित्यिकों तथा समाज-सेवकों की भाँति पंतजी ने भी समाज में भारतीय नारी की दरिद्र एवं दयनीय दशा की ओर ध्यान देते हुए नारी-रक्षा के लिए आवाज़ उठाई। 'नर की छाया' तथा 'नारी' शीर्षक कविताओं में नारी के प्रति स्वच्छंदता-वादी दृष्टिकोण की झलक तक नहीं दिखाई देती। ऐंद्रजालिक कोहरा तितर-बितर हो जाता है और हमारे सम्मुख सुन्दर अप्सरा, कवि के तरुणोचित स्वप्नों में ढली हुई वधू या भावी पत्नी नहीं, प्रत्युत मानवीय अधिकारों से वंचित, यहाँ तक कि मूक पशु की दयनीय दशा को पहुँची हुई, भाग्यहीना दासी बनी हुई नारी खड़ी हो जाती है। पंतजी की ये कविताएँ धार्मिक अंधविश्वासों की शृंखलाओं में जकड़े हुए भारतीय समाज की काल्पनिक सम्मान्यता का क्रोधपूर्वक पर्दाफाश कर देती हैं और उस मध्ययुगीन नैतिकता को वीरतापूर्ण चुनौती देती हैं, जो आवश्यकता से

१. सु० पंत, 'काव्य-कला और जीवनदर्शन', पृष्ठ १४०।

अधिक काल तक जीवित रही है, काल प्रतिकूल बन गई है। पूर्णतया पुरुष की इच्छा की अनुगामिनी, अपनी सारी इच्छाओं तथा भावनाओं को दबाकर रखने वाली और एक बंदिनी का-सा दीन-हीन जीवन बिताने वाली—'नर की छाया' शीर्षक कविता में नारी का यही रूप हमारे सामने आता है :

पुरुषों ही की आँखों से
नित देख-देख अपना तन,
पुरुषों ही के भावों से
अपने प्रति भर अपना मन,
लो, अपनी ही चितवन से
वह हो उठती है लज्जित
अपने ही भीतर छिप छिप
जग से हो गई तिरोहित
वह नर की छाया नारी!
चिर नमित नयन, पद विजड़ित,
वह चकित भीत हिरनी-सी
निज चरण चाप से शंकित !
मानव की चिर सहधर्मिणी,
युग-युग से मुख अवगुंठित,
स्थापित घर के कोने में
वह दीपशिखा-सी कम्पित।

फिर भी नारी-स्वतंत्रता की समस्या पंतजी द्वारा मुख्य रूप से सामाजिक स्तर पर नहीं प्रत्युत नैतिक स्तर पर उठाई और हल की गई है। कवि सबसे पहले पुरुष के सम्मुख नारी की दासता की, जोकि सामाजिक नैतिकता में मान्यता पा चुकी है, निंदा करता है। वह मानता है कि नारी की स्वतंत्रता पुरुष की उदार-मनस्कता ही पर तो निर्भर है। यही कारण है कि 'नारी' शीर्षक समग्र कविता नारी को स्वतन्त्र बनाने के हेतु पुरुष के प्रति एक विनय ही के रूप में लिखी गई है :

मुक्त करो नारी को, मानव !
चिर वंदिनि नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से
जननि, सखी, प्यारी को !
छिन्न करो सब स्वर्ण पाश
उसके कोमल तन-मन के,
वे आभूषण नहीं, दाम,
उसके बंदी जीवन के···

योनि मात्र रह गई मानवी
निज आत्मा कर अर्पण,
पुरुष प्रकृति की पशुता का
पहने नैतिक आभूषण !
नष्ट हो गई उसकी आत्मा,
त्वचा रह गई पावन,
युग-युग से अवगुंठित गृहिणी
सहती पशु के बंधन !

कविता की अन्तिम पंक्तियों में जाकर कहीं नारी-स्वतंत्रता विषयक समस्या को ठोस सामाजिक स्वर दिया जाने के प्रयत्न प्रतीत होते हैं। इन पंक्तियों में नारी के प्रति युग-युग से चली आई अन्यायपूर्णता और वर्तमान भारतीय समाज में नारी की अधिकारहीनता में समानता की ओर संकेत किया गया है :

क्षुधा कामवश गत युग ने
पशु वल से कर जन शासित
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत !
मुक्त करो जीवनसंगिनि को,
जननि देवि को आदृत,
जग जीवन में मानव के संग
हो मानवी प्रतिष्ठित !

पर पंतजी अभी तक नारी-स्वतंत्रता के मार्गों एवं साधनों से सम्बन्धित प्रश्नों की समष्टि के आकलन से दूर ही थे।

'युगवाणी' और उसके पश्चात् के काव्य-संग्रहों में 'मानव' शीर्षक रचनाएँ संगृहीत हैं। पर जबकि 'गुंजन' तथा 'युगांत' में मानव की समस्या पंतजी ने व्यक्तित्व के अस्तित्व की स्थितियों से पृथक् भाववादी पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत की है (कवि मुख्यतया मानव की—'विश्व की पूर्णतम सृष्टि' की—महत्ता पर रीझ उठता है), 'युगवाणी' नामक संग्रह की 'मानव' शीर्षक रचना में मानव के अपूर्ण जीवन के विषय में असंतोष प्रधान विषय रहा है। इसमें मानव पुकार उठता है कि "यह जीवन दरिद्रता, तुच्छता, कुरूपता, अपमान, अंधकार, दुःख और कलंक से भरा पड़ा है।" पर पंतजी मानव की उच्च प्रकृति और उसके अस्तित्व की पशुतुल्य स्थितियों के बीच की घोर विषमता का केवल यथार्थ कथन करके ही नहीं रुकते। अज्ञानग्रस्त मानव के जीवन का चित्र वह इसीलिए प्रस्तुत करते हैं कि उसके मानस में प्रकाश प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत हो, स्वतंत्रता, विश्वास तथा उज्ज्वल भविष्य की अभिलाषा उत्पन्न हो। वह लिखते हैं :

पशु-जीवन के तन में
जीवन रूप मरण में
जाग्रत मानव।
सत्य वनाओ स्वप्नों को
रच मानवता नव,
हो नव युग का भोर !

इस प्रकार वर्तमान शती के चतुर्थ दशक के अंत में पंतजी के मानवतावाद में परिवर्तन होकर उसमें सक्रियता का श्रीगणेश हुआ। मानव का अज्ञानमय जीवन दिखा, आदर्श तथा यथार्थ का अन्तर स्पष्ट कर पंतजी जीवन को एक नए रूप में और मानव को स्वतंत्र एवं सुखी देखने के लिए उत्सुक रहे। 'युगवाणी' नामक संग्रह की 'धनपति', 'मध्य वर्ग', 'कृषक', 'श्रमजीवी' आदि रचनाओं में भाग्यहीन जनता के प्रति सहानुभूति का स्वर सुनाई देता है, उनके दुख को हलका करने की उत्कंठा दिखाई देती है। पंतजी मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व को निकट से समझ लेते दिखाई देते हैं और यह उनके मानवतावाद के विकास का एक नया चरण है। मानव आत्मा के विमोचन से सम्वन्धित भाववादी-मानवतावादी स्वप्नों को छोड़-कर यहाँ पंतजी सामाजिक अन्याय की समस्या तथा समाज के वर्गीय स्वरूप को समझ-वूझ लेते हैं। पर वह अभी भी वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता तथा शोषकों के सम्वन्ध में वल-प्रयोग को स्वीकार करने से दूर ही रहे हैं।

पंतजी और प्रेमचन्दजी के मानवतावाद के क्रमिक विकास की समानता विचारणीय है। प्रेमचन्दजी की साहित्य-साधना ने भारतीय साहित्य में यथार्थता-वादी प्रगतिशील प्रवृत्तियों के विकास की नींव डालने का काम किया था। यह कार्य विशेष रूप से वर्तमान शती के चौथे तथा पाँचवें दशकों में हुआ था। गांधीजी के एक कट्टर अनुयायी के रूप में साहित्य-साधना के पथ पर प्रथम चरण वढ़ाने वाले प्रेमचन्दजी अपने जीवन के अन्तिम काल में गांधीवाद के भाववादी, मानवता-वादी, सुधारवादी विचारों के विषय में अधिकाधिक मात्रा में निराश होते गए और श्रमिक जनता की दारिद्र्यपूर्ण स्थिति के कारणों को समझने लगे। उन्होंने लिखा है: "जव तक निजी सम्पत्ति का अस्तित्व होगा, तव तक सच्चे अर्थ में स्वतंत्र मानव-समाज का होना असम्भव है।"[१] प्रेमचन्दजी का 'महाजनी सभ्यता'[२] शीर्षक अन्तिम लेख उनके मानवतावाद के स्वरूप-परिवर्तन का सवसे महत्त्वपूर्ण साक्षी है। यह लेख उन्होंने अपनी मृत्यु से (सितम्वर १९३६) एक महीना पहले ही लिखा था। इस लेख में दिखाया गया है कि किस प्रकार पूंजीवादी समाज मानव

१. प्रेमचन्द, 'वायु की दिशा'; 'जागरण', २६-१-१९३६।
२. प्रेमचन्द; 'महाजनी सभ्यता', 'हंस', सितम्वर, १९३६।

को कुरूप एवं तुच्छ बनाता है, यहाँ तक कि वह उसे पशु की-सी अवस्था में डाल देता है।

इसमें कोई शक नहीं कि प्रगतिशील हिन्दी साहित्य के झंडाबरदार प्रेमचन्दजी के विचारों ने पंतजी पर फलदायी प्रभाव डाला था। 'युगवाणी' का मानव समय तथा अवकाश के बाहर का नहीं दिखाई देता। वह तो रहता है परस्पर विरोधी वर्गों में बँटे हुए समाज में। मानव की दयनीय दशा का प्रधान कारण पंतजी पूँजीवादियों के परजीवी वर्ग के अस्तित्व में देखते हैं। पूँजीवादियों को वह 'विगत युगों के सारे विष को धारण करने वाले और मानव वंश की हत्या करने वाले' कहते हैं। उत्पादन-साधनों से वंचित और बेगार के बोझ के नीचे दबे हुए श्रमजीवियों के शोषण के सहारे अपनी जीविका चलाने वाले पूँजीवादी वर्ग की परजीवी प्रकृति को कवि ने बल देकर स्पष्ट किया है :

> वे नृशंस हैं : वे जन के श्रमबल से पोषित,
> दुहरे धनी, जौंक जग के, भू जिनसे शोषित !
> नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
> नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित !
> दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित
> गत संस्कृति के गरल, लोकजीवन जिनसे मृत।
> जगजीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
> अब न प्रयोजन है उनका, अंतिम है उनका क्षण !

पर हैं कहाँ वे शक्तियाँ जो लालची धनिक श्वानों के झुंड से पीड़ित जनता को स्वतंत्र बना सकें ? कवि जैसे यही प्रश्न पूछता है। हो सकता है कि यह शक्ति उन 'मध्यवर्गीय लोगों' अर्थात् बुद्धिजीवियों की भुजाओं में है, जो ज्ञान की चोटी पर पहुँचे हुए हैं और विज्ञान एवं संस्कृति के विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। कवि अपने ही चतुर्दिक् के जन-मण्डल को ध्यानपूर्वक देखता है। इन जनों से वह सुपरिचित है। कवि से ये प्रतिदिन मिलते हैं। उनकी रुचियों, स्वप्नों, आशा-आकांक्षाओं, नीति-रीतियों, मनोविज्ञान इत्यादि को वह भलीभाँति जानता है। अब वह कल्पना में डूबा नहीं रहता, क्योंकि वह जानता है कि पूँजीवादी समाज में बुर्जुआ बुद्धिजीवी श्रेणी की समस्त गतिविधियाँ शासक वर्गों के हितार्थ ही होती हैं। ये बुद्धिजीवी उन शासक वर्गों के सेवक जो होते हैं। कवि कहता है कि स्वतंत्र व्यवसायी लोग अधिकाधिक मात्रा में सीधी-सादी, खरीदी हुई शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और शोषकों के हाथ के आज्ञाकारी हथियार मात्र बन जाते हैं।

उपनिवेशवादियों से शासित भारत के वातावरण में तो यह स्थिति इस कारण और अधिक तेज हुई थी कि बुद्धिजीवी श्रेणी को उपनिवेशवादियों की

रुचियों, हितों एवं आवश्यकताओं की ताल पर नाचना पड़ता था। ये सारे विचार पंतजी की 'मध्य वर्ग' शीर्षक रचना में प्रकट हुए हैं :

गत संस्कृति का दास : विविध विश्वास विधायक,
निखिल ज्ञान, विज्ञान नीतियों का उन्नायक !
उच्च वर्ग की सुविधा का शास्त्रोक्त प्रचारक,
प्रभु सेवक, जनवंचक वह, निज वर्ग प्रचारक !

बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की असंगतियों, घमण्ड, अलस और व्यर्थता की पंतजी हँसी उड़ाते हैं :

भोगशील, धनियों का स्पर्धी, जीवन प्रिय अति,
आत्म वृद्ध, संकीर्ण हृदय, तार्किक, व्यापक मति !
पाप-पुण्य संत्रस्त, अस्थियों का बहु कोमल,
वाक् कुशल, धी दर्पी, अति विवेक से निर्बल !

बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के छिछोरेपन, संकीर्णता, जीवन-संघर्ष के प्रति उनकी व्यवहारशून्यता की आलोचना करते हुए पंतजी उक्त रचना के अंत में दृढ़ विश्वास प्रकट करते हैं कि नवयुग के उदय के साथ-साथ मध्य वर्ग के लोग निश्चित रूप से बुर्जुआ वर्ग से पृथक् होंगे, अपने भाग्य को जनता के भाग्य से मिलाकर मानव प्रगति के लिए श्रम करते रहेंगे :

मध्य वर्ग का मानव, वह परिजन पत्नी प्रिय,
यशकामी, व्यक्तित्व प्रसारक, परहित निष्क्रिय !
श्रमजीवी वह, यदि श्रमिकों का हो अभिभावक,
नव युग का वाहक हो, नेता लोक प्रभावक !

फिर भविष्य का मार्ग कौन प्रशस्त करेगा ? कदाचित् किसान ही यह काम करेंगे ? 'कृषक' शीर्षक रचना में किसान हमारे सम्मुख उस हीन-दीन, अभागे, भारवाही पशु के रूप में खड़ा होता है, जो भारी सामान से लदे हुए छकड़े को सिर झुकाए खींच रहा हो :

विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित वह निश्चल,
वही खेत, गृह-द्वार, वही वृष, हँसिया औ' हल !
....
वह संकीर्ण, समूह कृपण, स्वाश्रित पर पीड़ित,
अति निजस्व प्रिय, शोषित, लुंठित, दलित क्षुधार्दित !

पंतजी यह नहीं देखते कि अपने ही संकीर्ण हित-साधन में लिपटे हुए, शोषित, वंचित और सदा ही भूखे कृषक जन-समुदाय अब आंदोलन की रौ में आ चुके हैं। वह उनमें देखते हैं केवल सामाजिक प्रगति की धारा से कटे हुए, परंपरा की शृंखलाओं के पुरजोश समर्थकों एवं संरक्षकों को जो अखण्ड दरिद्रता तथा

अपनी क्षुद्र कुटियों के अक्षय अंधकार के सिवा और किसी बात को जानते ही नहीं।

पर नव युग सारे संसार में नवीनता ला देगा।

खैर, वह किसानों के लिए क्या लाएगा ? नव जीवन की ओर उनका मार्ग कौन-सा है ? पंतजी मानते हैं कि बस, सहकारिता ही भारतीय कृषकों के अनगिनत समुदायों को दारिद्र एवं शोषण से बचाएगी।

कर्षक का उद्धार पुण्य इच्छा है कल्पित,
सामूहिक कृषि कायकल्प, अन्यथा कृषक मृत !

इस संबंध में पंतजी के विचार रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रकट किए गए विचारों से भिन्न नहीं हैं। उन्होंने कहा था : "भारतीय ग्राम के नवीकरण का एकमात्र उपाय है—कृषि का सहकारीकरण।"[1]

पंतजी के मतानुसार संसार के पुनर्निर्माण में, नवयुग की सृष्टि में महत्त्व-पूर्ण भूमिका मज़दूरों को खेलनी है। उन्हीं में वह समाज की आशा एवं आधार देखते हैं। इस संदर्भ में पंतजी का दृष्टिकोण गांधीजी की विचारधारा से मूलतः भिन्न है। विदित है कि गांधीजी भारतीय कृषक वर्ग को सामाजिक विकास की महत्त्वपूर्ण शक्ति मानते थे। जीवन के पुनर्निर्माण में मज़दूर वर्ग की क्रांतिकारी और प्रधान भूमिका को पहले-पहल स्पष्ट एवं निश्चित रूप से घोषित करने वाले हिन्दी साहित्यकारों में से पंतजी एक थे। इस बात में वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रेमचंद से भी काफी आगे बढ़े, जिनका ध्यान संघर्ष के लिए ताल ठोंकने वाले तरुण भारतीय मज़दूर वर्ग पर नहीं गया था।

समाज के विभिन्न स्तरों के प्रतिनिधियों को संकेत कर लिखी गई पंतजी की रचनाओं में से एक है 'श्रमजीवी', जिसमें श्रम के सहारे जीविकोपार्जन करने वाले मनुष्य की प्रशंसा की गई है। यह मनुष्य धरती पर सब-कुछ निर्माण तो करता है; पर उसका अपना स्वामित्व किसी चीज़ पर नहीं होता। यद्यपि इस श्रेणी की अन्य रचनाओं में भी पंतजी सबसे पहले पूंजीवादी समाज में श्रमजीवी वर्ग की स्थिति के नैतिक पक्ष पर ध्यान देते हैं, तथापि उक्त रचना में यह विचार भी उतनी ही स्पष्टता से अभिव्यक्त है कि श्रमजीवी ही, जोकि भौतिक सुखों की सृष्टि की मूलभूत शक्ति है, समाज का सबसे अग्रगामी वर्ग है, 'लोक क्रांति का अग्रदूत' है और इसीलिए भविष्य उसके हाथों में है।

भारतीय कविता में बहुप्रचलित विरोध, व्यतिरेक अलंकारों का विस्तृत प्रयोग करते हुए पंतजी श्रमजीवी की भाव-परिपुष्ट प्रतिभा का सृजन करते हैं :

---

१. उदाहरणार्थ देखिए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'सहकारिता'—"Towards Universal Man." Asia Publishing House, Visva Bharati, Shantiniketan, 1961.

वह पवित्र है : वह जग के कर्दम से पोषित,
वह निर्माता : श्रेणी, धन बल से शोषित !
मूढ़, अशिक्षित, सभ्य शिक्षितों से वह शिक्षित,
विश्व उपेक्षित, शिष्ट संस्कृतों से मनुजोचित !
दैन्य, कष्ट कुंठित—सुंदर है उसका आनन,
गंदे गात, वसन हों पावन श्रम का जीवन !
स्नेह, साम्य, सौहार्दपूर्ण तप से उसका मन,
वह संगठित करेगा भावी भव का शासन !
भूख-प्यास से पीड़ित उसकी भद्दी आकृति,
स्पष्ट कथा कहती, कैसी इस युग की संस्कृति !
वह पशु से भी घृणित मनुज-मानव की है कृति,
जिसके श्रम से सिंची समृद्धों की पृथु संपति !

शोषकों की तुलना में नैतिक श्रेष्ठता, असाधारण सहनशीलता एवं पौरुष, त्याग के लिए सिद्धता, निःस्वार्थता, श्रमप्रेम, निर्भीकता और संकट-विरोधी संघर्ष में दृढ़ता पंतजी के मतानुसार ये ही वे गुण हैं जो श्रमिक को 'लोक क्रांति का अग्रदूत' बना देते हैं। वह कटुता एवं क्रोध के साथ पुकार उठते हैं :

लोक क्रांति का अग्रदूत, वर वीर जनादृत
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित !
चिर पवित्र वह : भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी—पावन श्रम से प्रक्षालित !

पर श्रमजीवी को 'लोक क्रांति का अग्रदूत' घोषित करने भर से आगे वह नहीं बढ़ते। पूंजीवाद, शोषण और निजी स्वामित्व के विनाश में श्रमजीवी वर्ग की ऐतिहासिक, क्रांतिकारी भूमिका विषयक प्रश्न के समीप पहुँचने के लिए निकला हुआ कवि जैसे आधी राह में ही रुक जाता है। धैर्य के साथ आगे बढ़ने के स्थान में वह पीछे को मुड़ जाता है और अपने द्वारा स्वीकृत मार्ग के औचित्य के विषय में आशंकाएँ उठाने और क्रांतिकारी मार्क्सवादी तथा सुधारवादी गांधीवादी विचारों एवं सिद्धांतों की तुलना करने लग जाता है।

सामाजिक अन्याय और देश की दयनीय दशा पंतजी को अधिकाधिक व्यग्र करती रही है। उन्हें अकाट्य लगने वाले गांधीवादी विचार बारंबार चतुर्दिक् की वास्तविकता की कठोरता एवं निर्ममता से टकराते हैं। 'युगवाणी' का श्रीगणेश करने वाली, गांधीजी को संकेत कर लिखी गई 'बापू' शीर्षक पहली ही रचना में 'युगांत' संग्रह की 'बापू के प्रति' शीर्षक अंतिम कविता के विचार का ही तर्कसंगत क्रम और विकास दिखाई देता है। यद्यपि इस कविता में पंतजी 'संघर्ष की ओर बढ़ने वाले संसार' को पीड़ा से मुक्त करने और उससे 'महान प्रेम शक्ति के सहारे

असभ्यता तथा पशुता को' नष्ट करने के रूप में अहिंसा पर ही आशा रखना जारी रखते हैं, तथापि वह कतई यह अस्वीकार भी नहीं कर सकते कि विना संघर्ष के 'धरती पर शांति एवं सुख का अमर साम्राज्य' स्थापित करना, 'धरती पर उस स्वर्ग की सृष्टि करना असंभव है जिसकी आस लोग कभी से लगाए हुए हैं।' 'नहीं जानता, युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय'—कवि पुकार उठता है।

छायावाद के वैचारिक-सौंदर्यात्मक मंच से प्रस्थान कर पंतजी उन्हें किसी समय अटल लगने वाले गांधीवादी सिद्धांतों के विषय में आशंकित होने लग जाते हैं। वह अब निरपवाद रूप से इन सिद्धांतों का समर्थन नहीं करते अपितु केवल यह पूछते हैं कि :

सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग वन जाएगा जीवन ?
आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता ?

कवि इन सभी प्रश्नों के उत्तरों की खोज में था। उन दिनों भारतीय बुद्धिजीवी श्रेणी के अधिकाधिक स्तर गांधीवादी विचारधारा से निराश होकर अधिकाधिक मात्रा में मार्क्सवाद की दिशा में दृष्टिपात करने लगे थे। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है : "हजारों मील दूर वैठे हुए दीन और दलित भारतवासी साम्यवाद के उस स्वर्ग को ललचायी आँखों से देखने लगे। दूर से उन्हें उसका हँसता हुआ वैभव ही दीख पड़ता था। उसके नीचे कितना धुआँ—अंधकार है वह उनकी दृष्टि से बाहर ही रहा। हिन्दी साहित्य इस वदलती हुई विचारधारा से अस्पृष्ट कैसे रहता, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी रूप से उस पर इन भावनाओं का प्रतिविम्व पड़ने लगा।"[१] पंतजी कहते हैं कि "देश के जीवन-दर्शन से बाहर मेरा ध्यान सर्वाधिक तब जिन वस्तुओं की ओर आकृष्ट हुआ था, वे थे मार्क्सवाद तथा रूसी क्रांति।"[२]

फिर भी, आदर्शवादी भारतीय दर्शन के प्रति अपनी आसक्ति और अपने वर्ग की विचारधारा पर अपने दृष्टिकोणों की निर्भरता के कारण पंतजी के लिए गांधीवादी विचारों को पूर्णतया अस्वीकार करना संभव न था। यद्यपि पंतजी को अपने उन काल्पनिक आदर्शों एवं दृष्टिकोणों की अपूर्णता तथा असहायता अनुभव होने लगी थी जिन्हें जीवन के कठोर सत्य ने धराशायी कर दिया था, तथापि वह उन्हें पूर्णतया अस्वीकार नहीं कर सके और भाववादी तथा भौतिकवादी दृष्टिकोणों के बीच समझौता ढूंढ़ने के प्रयत्न में रहे। डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं : "मार्क्स की साम्य-दृष्टि और अर्थदृष्टि तो भारत के कवि ने पकड़ ली है, पर आत्मा की सत्ता को एकदम अस्वीकृत करने का बल अभी उसमें नहीं आया। मार्क्स का देहात्मवाद

---

१. नगेन्द्र, 'सुमित्रानंदन पंत', पृ० १४१।
२. सु० पंत, 'चिदंबरा', पृ० १५।

अभी उसकी बुद्धि में नहीं बैठ सका। अतः इस विषय में वह अनिश्चित है।"[1]

'युगवाणी' की प्रस्तावना में पंतजी लिखते हैं: "लोक कल्याण के लिए जीवन की वाह्य (संप्रति राजनीतिक-आर्थिक) और आभ्यंतरिक (सांस्कृतिक-आध्यात्मिक) दोनों ही गतियों का संगठन करना आवश्यक है।···जीवन-सौंदर्य की जो मानसी प्रतिभा आज अंतर्मन में विकसित हो रही है उसे भौतिक जीवन में साकार कर सके, और हमारा मनःस्वर्ग पृथ्वी पर उतर आए!···संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।···पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।"[2]

पर भौतिकवाद को कुछ विशिष्ट छूट देते हुए भी आमतौर पर पंतजी आदर्शवादी स्थिति ही अपना लेते हैं और चेतना को प्रथम तथा भूत को द्वितीय स्थान देने के विचार को नहीं त्यागते। भारतीय समाज की पुरोगामी एवं प्रतिगामी शक्तियों के बीच सतत बढ़ते हुए विचारात्मक संघर्ष, भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच तीव्र हो रहे वर्गभेद, गांधीवादी दर्शन एवं व्यवहार के विषय में स्वप्नभंग और भारत में पुरोगामी मार्क्सवादी विचारधारा के सतत विस्तृत हो रहे प्रसार के वातावरण में पंतजी गांधीवाद और मार्क्सवाद के परस्पर विरोधी तथा परस्पर खण्डनकारी विचारों के बीच समन्वय ढूंढ़ने के प्रयास में रहे। भौतिकवादी तथा आदर्शवादी विचारों के एकीकरण के प्रयत्न उन दिनों भारतीय बुद्धिजीवियों के कुछ स्तरों में एक स्पष्टतया आम बात थी। ये बुद्धिजीवी अपनी विचारधारा के विषय में ढुलमुलपंथी थे, समाज के पुनर्निर्माण और उपनिवेशवादी दासता से मातृभूमि की मुक्ति के मार्ग ढूंढ़ने के लिए प्रयत्नशील थे।

प्रो० अरविन्द लिखते हैं: "गांधी युग के संयुक्त साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे के परिवेश में कदाचित् जन-चेतना का, अधिक स्पष्ट शब्दों में वर्ग-चेतना की भावना-धारणा इतनी अधिक स्पष्ट नहीं हुई थी, विशेषकर उस उच्च मध्य-वर्गीय कलाकार के लिए जो शिक्षा और संस्कार दोनों से ही अत्यन्त सहिष्णु, संघर्षभीरु और भावुक हो, इसका होना तो और भी कठिन था।"[3]

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पंतजी को भी उनके वर्ग के कई प्रतिनिधियों की तरह ही मार्क्सवाद के सारतत्व का पर्याप्त मात्रा में सच्चा और विस्तृत परिचय नहीं था। और इसका स्पष्टीकरण बहुत ही सरल है। भारत में तब लोग मार्क्सवाद से परिचय बहुधा मार्क्सवाद के मौलिक आदर्श ग्रन्थों से नहीं, अपितु

---

१. नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० १३४।
२. सुमित्रानंदन पंत, 'युगवाणी', तीसरा संस्करण, प्रयाग १९४७, पृ० ख।
३. अरविंद, 'पंत की काव्य-साधना', पृ० ७७, ७८।

भिन्न-भिन्न अनुवादकों की पुस्तकों द्वारा प्राप्त करते थे और ये अनुवादक कभी अपर्याप्त सूचना के कारण तो कभी जान-बूझकर मार्क्सवादी विचारधारा के सार-तत्त्व को तोड़-मरोड़कर रख देते थे।

पंतजी के मतानुसार मार्क्सवाद मानव-समाज के जीवन के भौतिक पहलू पर यानी अर्थव्यवस्था पर बड़ा ध्यान केन्द्रित करता है, व्यक्तित्व की आध्यात्मिक माँगों पर उचित ध्यान नहीं देता और आध्यात्मिक मूल्यों को अस्वीकार कर देता है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी साहित्यिक राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है : "पंत ने जीवन में नई आशा और उमंग पाई। तीन-चार साल तक वह मार्क्सवाद और रूसी लेखकों के ग्रंथों को पढ़ते रहे। रहस्यवाद ने पूरी तौर से पिंड तो न छोड़ा, लेकिन मार्क्सवाद ने अन्तस्तल तक अपना प्रभाव जरूर डाला। भौतिकवाद को कोरा यान्त्रिक जड़वाद समझकर जो उन्हें कुछ विरक्ति-सी आती थी, वह मार्क्सवादी भौतिकवाद के 'गुणात्मक-परिवर्तन' से जाती रही।"[1]

यह स्वाभाविक ही है कि मार्क्सवादी सिद्धांतों का गांधीवादी विचारों से मेल बैठाने के इसी प्रकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप पंतजी के काव्य में बड़ी ही असंगति उत्पन्न हुई है। नैतिक आत्मशुद्धि के उपदेश, भावात्मक मानवतावाद एवं समानता तथा सामाजिक असंगतियों के समाधान के लिए आवाहन के साथ-साथ पंतजी की कई कविताओं में क्रांतिकारी स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, 'खोज' शीर्षक कविता में कवि के अनुसार नया मानव और नया समाज तभी उत्पन्न हो सकता है जब :

राजा, प्रजा, धनी औ' निर्धन,
सभ्य, असंस्कृत, सज्जन दुर्जन,
भव मानवता से सबको भर
खण्ड मनुज को फिर से ढालो !

दूसरी ओर 'मानव-पशु' शीर्षक कविता में वर्ग विषयक असंगतियों की दृढ़ता का स्वर सुनाई देता है, शोषित जनता के अधिकारों का समर्थन दिखाई देता है :

युग-युग से रच शत शत नैतिक बंधन
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु तन !
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित
वह न रहेगा अब नव युग में गर्हित !
नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रीति नीतियों का गत निर्भय शासन,

---

१. उद्धरण, सुमित्रानंदन पंत, 'काव्य-कला और जीवनदर्शन' से, पृ० ६१।

वह भी क्या मानव जीवन का लांछन,
वह मानव के देव भाव का वाहन !...
...जीवन के उपकरण अखिल कर अधिकृत
गत युग का पशु हुआ आज मनुजोचित !
देव और पशु, भावों में जो सीमित
युग-युग में होते परिवर्तित, अवसित,
मानव पशु ने किया आज भव अर्जित
मानव देव हुआ अब सम्मानित !

'निश्चय' शीर्षक कविता में पंतजी क्रांतिकारी वल-प्रयोग की अनिवार्यता के विषय में और अधिक निश्चयपूर्वक कहते हैं। यह समग्र कविता क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद से अनुप्राणित है, उसमें जीर्ण संसार को सदा के लिए मिटा देने, नव-जीवन के निर्माण में बाधा डालने वाली कृष्ण शक्तियों के विरुद्ध विप्लव छेड़ने के लिए उत्कट आवाहन सुनाई देता है। कवि अपने क्रांतिकारी कर्तव्य को निभाने के लिए निश्चयपूर्वक सन्नद्ध दिखाई देता है :

संघर्षों में शांति वनूँ मैं !
अंधकार में पड़ जीवन के
अंधकार की कांति वनूँ मैं !
जग जीवन के ज्वारों में वह,
कोमल प्रखर प्रहारों को सह,
भव के क्रंदन किलकारों में
हँसमुख नीरव क्रांति वनूँ मैं।

कवि जनता को प्रोत्साहित करना, उसे अपमानजनक अतीत से मुक्ति पाने के लिए संघर्षरत होने की प्रेरणा देना चाहता है :

घृणा उपेक्षा में रह अविचल,
निंदा लांछन से वन उज्ज्वल,
त्रुटियों से ज्योतित कर निज पथ
जन-सेवा की श्रांति वनूँ मैं !

लगता है कि मनुष्य में आशा रखे हुए कवि न भाग्य का विश्वास करता है और न ईश्वरीय इच्छा ही का :

झेल निराशा, कटु निष्फलता,
दैन्य, स्वभावजनित दुर्वलता,
आगे बढ़ूँ धीर एकाकी,
भाग्यचक्र को भ्रांति वनूँ मैं।

पंतजी रोम-रोम में अनुभव करते हैं कि नवयुग का उदय समीप है। वह

पूर्णतया भविष्य पर दृष्टि जमाए हुए हैं, पूर्व में आ रहे प्रभात का स्वागत करते हैं। भारतीय काव्य में परंपरागत प्रभात का प्रतीक पंतजी की समस्त काव्यमाला का सूत्र रहा है। प्रभात ही तो अंधकार पर विजय पाता है, सुप्त प्रकृति में प्राण फूंक देता है, जन-जन के अंतस में नई आशाओं की सृष्टि करता है, सुख एवं आनन्द की आशा जगाता है।

पंतजी के प्रारंभिक गीत-मुक्तकों में प्रभात का प्रतीक उस निराले, सुंदर जीवन के, जिसमें अतंतोगत्वा मनुष्य को पूर्ण सुख की प्राप्ति होगी, एक अस्पष्ट, अज्ञात स्वप्न की मात्र पूर्वानुभूति तथा प्रत्याशा के प्रतीक के रूप में आया है। यह प्रतीक रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ऐसे ही प्रतीक से बहुत ही मिलता-जुलता है। रवीन्द्र ने अपनी प्रारंभिक कविताओं में ही इस प्रतीक में नए जीवन एवं संसार के नवीकरण के स्वप्न को भर दिया था :

उठो हे उठो रवि आमारे तुले लाओ
जीवन-तरी तव पूरवे छेड़े दाओ।

इस प्रतीक का आगे का विकास रवीन्द्र की कविता में इस प्रकार होता है कि क्रमशः वह सामाजिक अर्थ से परिपूर्ण होता जाता है।

रवीन्द्र की एक अप्रतिम महान् रचना 'लोक चेतना' (१९११) में प्रभात का प्रतीक भारतीय जनजीवन में नवयुग के आगमन का संकेत देता है :

रात्रि प्रभातिल, उदिल रविच्छवि पूर्व उदयगिरि भाले।
गाहे विहंगम, पुण्य समीरण नवजीवनरस ढाले।
तव करुणारुण-रागे निद्रित भारत जागे।

उस समय की भारतीय परिस्थिति ने ही कवीन्द्र रवीन्द्र को इस प्रतीक में अधिक ठोस आशय भर देने का अवसर नहीं दिया।

पंतजी की कविता में भी प्रभात के प्रतीक का क्रमिक विकास होता गया।

पूर्ण जीवन विषयक भाववादी, अस्पष्ट स्वप्न से आगे बढ़कर यह प्रतीक अधिक स्पष्ट होने लगा। वास्तविकता के क्रांतिकारी परिवर्तन की अनिवार्यता उसमें अभिव्यक्त होने लगी। इस प्रतीक के क्रमिक विकास ही में कवि के उन विचारात्मक-सौंदर्यात्मक आदर्शों का स्पष्टतम विकास हुआ जो उसकी 'प्रकाश' आदि कविताओं में अभिव्यक्त हुए हैं। पर प्रभात के प्रतीक में क्रांतिकारी आशय भर देते हुए पंतजी रवीन्द्र से आगे बढ़ गए हैं। उक्त कविता में प्रभात के प्रतीक के दो पक्ष-से दिखाई देते हैं : एक वह प्रभात है जो धरती पर की समस्त जीवधारी सृष्टि को जकड़ देने वाले अंधकार को तितर-बितर कर देता है और दूसरा वह है जो जागृति एवं नवजीवन की सृष्टि कर देता है। प्रथम पक्ष क्रांति के इस अर्थ से संबंधित है कि वह पुराने संसार को सदा के लिए समाप्त कर देने की क्षमता रखने वाली शक्ति है :

आओ, प्रकाश, इस युग युग के
अवगुंठन से मुख दिखलाओ,
आओ हे, मानव के घट के
पट खोल मधुर श्री बरसाओ !
आओ, जीवन के आँगन में
स्वर्णिम प्रभात जग के लाओ,
मानव उर के प्रस्तर युग के
इस अंध तमस को बिखराओ।

पंतजी अपने को क्रांति की संहारकारी शक्ति की प्रशंसा करने तक ही सीमित नहीं रखते। क्रांति को वह पुराने संसार को मिटा देने वाले एक बवंडर मात्र के रूप में नहीं देखते। इस संदर्भ में पंतजी की क्रांति की प्रतिभा कुछ अन्य कवियों द्वारा निर्मित समान प्रतिभाओं से तत्त्वतः भिन्न है। उदाहरणार्थ, रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'विपथगा' (सन् १९३९) शीर्षक कविता को लीजिए। इसमें संसार पर देवी काली के विनाशकारी कोप का प्रभावशील चित्रण किया गया है। काली को क्रांति का प्रतीक माना गया है :

पायल की पहली झमक सृष्टि में कोलाहल छा जाता है
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है।

पंतजी की कविता में प्रभात के प्रतीक का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है—तमोमय संसार के विनाश के उपरांत धरती पर नवयुग के उदय की अनिवार्यता का समर्थन :

विज्ञान ज्ञान की शत किरणें
जनपथ में बरसाते आओ,
मुरझाए मानव मुकुलों को
छूकर नव छवि में विकसाओ !
दिशि पल के भेद-विभेदों को
तुम डुबा एकता में, आओ,
नव मूर्तिमान मानवता बन
जब जन के मन में बस जाओ !

इसी प्रकार पंतजी के काव्य में क्रांति का प्रतीक भी दो पक्षों में प्रकट होता है। इसमें भी संहारकारी एवं सृजनशील सिद्धांतों का देहैक्य उक्त प्रतीक का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है। उदाहरणार्थ, 'क्रांति' शीर्षक कविता में अत्यंत सशक्त और काव्यपूर्ण रीति से सीधे-सीधे यह विचार प्रकट हुआ है कि क्रांति सारी कालातीत, पुरानी-धुरानी और जीर्ण-शीर्ण वस्तुओं को मृत्यु एवं विनाश के अधीन कर देती है और धरती पर नवजीवन का आगमन सुनिश्चित कर देती है :

तुम अंधकार, जीवन को ज्योतित करती,
तुम विष हो, उर में मधुर सुधा-सी झरती !
तुम मरण, विश्व में मधुर चेतना भरती,
तुम निखिल भयंकर, भीति जगत की हरती।
तुम शून्य, अतुल ऐश्वर्य सदा बरसाती,
अपरूप, चतुर्दिक् सुंदरता सरसाती !
निष्ठुर, निर्मम, क्षुद्रों को भी अपनाती,
तुम दावा, वन को हरित भरित कर जाती !

क्रांति की निर्मम, सर्वविनाशकारी शक्तियाँ कवि को भयभीत तो कर देती हैं, पर साथ-साथ अपनी ओर आकृष्ट तथा मोहित भी कर देती हैं। क्रांति के प्रति पंतजी की यह द्विविध भावना इस प्रतीक की द्विपक्षता में विकसित होती है। इसकी तुलना क्रांति के प्रति बहुत से स्वच्छंदतावादी कवियों की द्विविध भावना से की जा सकती है। उदाहरणार्थ, अ० ब्लॉक को लीजिए जो क्रांति में उत्सव को भी देखते थे और संकट को भी। 'भयानक क्रांति' और उस पुराने संसार का, जिससे यह स्वच्छंदतावादी कवि इतना दृढ़ संबद्ध था, दुखदायी सर्वनाश कवि को भयभीत और साथ-साथ मोहित भी कर देते हैं। इसी प्रकार पंतजी की कविता में क्रांति के प्रतीक का मुख्य आशय क्रांति की सर्वसंहारकारी शक्ति का भय या अनिवार्य बल-प्रयोग की भीति नहीं, वरंच सृजनशील शक्तियों की विजय में, उसकी जीवंत, शुद्धिकारी शक्ति में विश्वास ही है। कवि समझ लेता है कि जीर्ण-शीर्ण जग को समाप्त करके ही स्वाधीन मानवता के लिए नव जीवन की सृष्टि करना संभव है। क्रांति की प्रशस्ति के स्वर उक्त कविता के अंतिम छंद में विशेष स्पष्ट रूप से सुनाई देते हैं :

तुम चिर विनाश, नव सृजन गोद में लाती,
चिर प्राकृत, नव संस्कृति के ज्वार उठाती !
तुम रुद्र, प्रलय तांडव में ही सुख पाती,
जीवन बसंत तुम, पतझड़, वन नित आती !

पंतजी के क्रांति विषयक प्रतीक के विकास में भारतीय परंपरा के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारी दृष्टि से यह प्रभाव संहार एवं सृजन-शक्तियों की निरंतर एवं नियमित एकता में निहित है। यह एकता भगवान् शिव के प्रचंड तांडव में देखी जा सकती है जो जीर्ण जगत् को खंडहर बना देते हैं और उसके स्थान में नव जीवन के अंकुर निकल आते हैं।

यह प्रतीक निरालाजी की रचनाओं में पाया जाता है। उन्होंने सन् १९२४ में स्वामी विवेकानन्द की 'नाचे उस पर श्यामा' शीर्षक कविता का मुक्त अनुवाद किया था, उसकी ओर यहाँ संकेत है।

पंतजी की 'क्रांति' शीर्षक कविता की श्रेणी में 'मार्क्सवाद के प्रति', 'नव संस्कृति', 'भव संस्कृति' आदि कविताएँ भी आती हैं। क्रांति संसार को क्या देगी ? जब मानवता क्रांति की शुद्धिकारी अग्नि-परीक्षा से गुज़रकर नव जीवन के पथ पर अग्रसर होगी, तब मानव का जीवन कैसा होगा ? कवि इन प्रश्नों के उत्तर उक्त कविताओं में देने का प्रयत्न करता है।

कवि के विचार में मानव के विकासशील जीवन का आधार समानाधिकारी स्वतंत्र जन-समाज होना चाहिए :

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आधारित,
श्रेणि वर्ग में मानव नहीं विभाजित।
धन-बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन !

"मुझे ऐसी सभ्यता नहीं चाहिए, जिसमें अत्याचार, असमानता एवं उत्पीड़न का राज्य हो"—कवि 'नव संस्कृति' शीर्षक रचना में कहता है। अन्य रचनाओं में भी उसने इस विचार को विकसित किया है। 'युगवाणी' में वह पुकार उठता है कि "इस समय स्वतंत्रता का अर्थ यही है कि इस संसार में सब कोई स्वतंत्र हो।" "धनी एवं निर्धन, शासक एवं शासित, संस्कृत एवं प्राकृत—हे नव भव संस्कृति ! तुम्हारे लिए सब समान हैं !" ('भव संस्कृति')।

नव जीवन में निजी और सामाजिक के बीच कोई असंगति नहीं होगी : एक मनुष्य की सभी इच्छाएँ एवं आकांक्षाएँ समस्त समाज के हितों से पूरा तालमेल रखेंगी :

जहाँ दैन्य जर्जर, अभाव-ज्वर पीड़ित,
जीवनयापन हो न मनुज को गर्हित।
युग-युग के छाया भावों से त्रासित
मानव प्रति मानव-मन हो न सशंकित।

समाज में व्यक्तित्व का मूल्य एवं महत्त्व सतत बढ़ता जाएगा और इस समाज में सब गतिविधियों का एकमात्र लक्ष्य होगा—मानव की भौतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति :

मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
भव मानवता में जनजीवन परिणति !
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुंदर हो जन-वास, वसन, सुंदर तन !

अतीत के भारी बोझ से मनुष्य सदा के लिए मुक्त होगा, पूर्वाग्रहों की मन-मन भारी बेड़ियों को तोड़कर फेंक देगा, पूर्ण स्वतंत्रता में मुक्त साँस लेगा और आस्तीनें चढ़ाकर एवं कमर कसकर नवजीवन के निर्माण में संलग्न हो जाएगा :

भाव कर्म में जहाँ साम्य हो संतत,
जग जीवन में हों विचार जन के रत !
ज्ञानवृद्ध, निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,
मृत आदर्श न बंधन, सक्रिय जीवन !

'भव संस्कृति' की ये पंक्तियाँ भी देखिए :

नीरस दर्शन दर्शनीय—
मानव वपु पाकर मुग्ध करे भव !
निखिल ज्ञान-विज्ञान समीक्षा—
करता भव-इतिहास प्रतीक्षा,
मूर्तिमान नव संस्कृति बन,
आओ, भव मानव, युग-युग संभव !

नव संस्कृति मानवता के सम्मुख विज्ञान एवं कला के विकास की अनेक संभावनाएँ उपस्थित कर देती है, मानव को एक तुच्छ दास के स्थान से ऊपर उठाकर प्रकृति के स्वामी में परिवर्तित कर देती है।

पर पंतजी के नवजीवन विषयक स्वप्न से संबंधित काव्य-प्रतीकों में और उनके वैचारिक दृष्टिकोण की सार-संग्रह से अक्सर असंगति पाई जाती है। भविष्य उन्हें परीकथाओं के स्वर्गलोक-सा, उत्पीड़ित मानवता के अमर स्वप्न के साकारत्व-सा लगता है। इसीलिए 'नव संस्कृति' शीर्षक रचना के अन्त में वह पुकार उठते हैं :

ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव-संस्कृति-किरणों से ज्योतित !

'धरा नव मानव-संस्कृति-किरणों से ज्योतित' होगी यह कहने के साथ-साथ पंतजी यह भी कहते हैं कि केवल कम्युनिज़्म ही धरती पर इस नवयुग की सृष्टि कर सकेगा :

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन !

मानवता के नव जीवन का पथ आलोकित करने वाले मार्क्सवादी विचारों की महत्ता की भी कवि प्रशंसा करता है। 'मार्क्स के प्रति' शीर्षक कविता में पंतजी लीक खींचकर कहते हैं कि नवयुग के आगमन का संदेश देने वाले विजयशाली दुंदुभिनाद के साथ दुर्भाग्य तथा संसार भर के धनियों एवं श्रेष्ठों की लालसा एवं कठोरता सदा के लिए विदा हो जाएँगे, अन्धविश्वास तथा कालविपरीत नैतिक सिद्धांतों का दम टूट जाएगा। प्रकृति पर अपनी विजय प्रस्थापित कर मानव ने धरती पर नव संस्कृति की नींव डाल भी दी है :

साक्षी है इतिहास, किया तुमने दुंदुभि से घोषित,
प्रकृति विजित कर, मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित।

विकसित हो, बदले जब तक जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता सम्पादन !
सामाजिक संबंध बने नव, अर्थभित्ति पर नूतन,
नव विचार, नव रीति-नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन !

पंतजी ने काव्यपूर्ण रूप में मार्क्सवाद के कुछेक सिद्धांत कथन किए हैं :

साक्षी है इतिहास, आज होने को पुनः युगांतर,
श्रमिकों का अब शासन होगा उत्पादन यंत्रों पर !
वर्गहीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन,
पूरित होंगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन !
दिग्दिगंत में व्याप्त, निखिल युग-युग का चिर गौरव हर,
जन संस्कृति का नव विराट् प्रासाद उठेगा भू पर !

पर इस कविता तक में पंतजी आदर्शवादी विचारधारा से संबंधित परंपरागत प्रतीकों से पूर्णतया पृथक् नहीं हो सके हैं। उक्त कविता की अन्तिम पंक्तियों में वह जैसे उनके लिए निकटवर्ती धार्मिक-दार्शनिक विचारों एवं प्रतीकों के संसार में स्थानांतरण कर लेते हैं और मार्क्स की प्रशंसा यों करते हैं—

धन्य मार्क्स ! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
तुम त्रिनेत्र के ज्ञानचक्षु-से प्रकट हुए प्रलयंकर !

'क्रांति' और 'मार्क्स के प्रति' शीर्षक कविताओं की श्रेणी में गिनी जाने वाली रचनाएँ सर्वोच्च शिखर जैसी हैं, जिनके ऊपर कवि मानवता के विकास के ऐतिहासिक पथ को समझ लेने के अपने प्रयत्नों में और आगे नहीं बढ़ सका है।

कुछ भी हो, पंतजी के काव्य में संसार के परिवर्तन के लिए जो आवाहन आया है, वह सबसे पहले वास्तविकता के परिवर्तन के आवाहन के रूप में नहीं, अपितु सबसे पहले जनता के हृदय और चेतना में क्रांति लाने के उनके प्रयत्नों के रूप में आया है। इसी प्रकार के विचारात्मक-सौंदर्यात्मक आदर्शों की भाववादिता कई कविताओं में उभर आई है, जिनमें से एक 'आओ' शीर्षक कविता है :

हे दूषित, हे कलुषित, गर्हित,
हे खंडित, हे त्यक्त, उपेक्षित,
मेरे उर में चिर पावन वन,
शांति, सत्व, पूर्णता पाओ !

साथ-साथ, मानव की हार्दिकतम आकांक्षाओं को साकार बनाने, उसे अतीत के भारी बोझ से मुक्त कराने के विषय में कवि के निश्चय एवं विश्वास का स्वर भी यहाँ सुनाई देता है :

आओ, मेरे स्वर में गाओ !
जीवन के कर्कश अपस्वर

मेरी वंशी में लय बन जाओ।
अहंकार बन, राग-द्वेष बन,
काम क्रोध भय विघ्न क्लेश बन,
शत छिद्रों से फूट-फूट शत
निःश्वासों से मधु बरसाओ !

अपनी जनता के प्रति कवि-कर्तव्य की सर्वोत्तम पूर्ति पंतजी के अनुसार निरालाजी के काव्य में हुई है। 'युगवाणी' संग्रह पंतजी ने उन्हीं को समर्पित किया है।

भारत में प्रसिद्ध अपनी 'अनामिका के कवि के प्रति' (कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के प्रति) शीर्षक रचना में पंतजी क्रांतिकारी आत्मा पर, जो उनके काव्य को वेधती जाती है, और कविता के रूपविधान एवं आशय के विषय में उनके धैर्यपूर्ण नव प्रयोगों पर रीझते हुए दिखाई देते हैं :

छंद बंध ध्रुव तोड़-फोड़कर पर्वत कारा
अचल, अबाध, अमंद, रजत निर्झर-सी निःसृत-
गलित, ललित आलोक राशि, चिर अकलुष, अविजित !

दर्शन, संस्कृति एवं कला की रूपांतरकारी भूमिका और वास्तविकता के अर्थोद्घाटन एवं परिवर्तन में उनके महत्त्वपूर्ण कार्य के विषय में पंतजी ने 'युग उपकरण' शीर्षक रचना में भी लिखा है :

ललित कला, कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण,
वह दर्शन-विज्ञान, मनुजता का हो जिससे चिर कल्याण।
वह संस्कृति, नव मानवता का जिसमें विकसित भव्य स्वरूप,
वह विश्वास, सुदुस्तर भव-सागर में जो चिर ज्योतिस्तूप !
रीति-नीति, जो विश्व प्रगति में बनें नहीं जड़ बंधन-पाश,
ऐसे उपकरणों से हो भव-मानवता का पूर्ण विकास।

इस प्रकार काव्यात्मक भावरूपता, असंगति, वैचारिक क्रमहीनता एवं जीवन-दर्शन की 'सार-संग्राहिता' के बावजूद आमतौर पर पंतजी का 'युगवाणी' नामक कविता-संग्रह उपनिवेशवादी शासन से मुक्त होने के पूर्व भारत में विद्यमान युग की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति देता है। भारतीय जाति एवं कुल मानवता के आमूल जीवन-परिवर्तन के ऐतिहासिक अर्थ के क्रमिक ग्रहण के फल-स्वरूप ही पंतजी के विचारात्मक-सौंदर्यात्मक आदर्शों का क्रमिक विकास हुआ था, जिससे उनके काव्य में राष्ट्रीयता के विकास में सहायता मिली। 'फिर भी', डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं, "वे जीवन-संघर्ष से दूर रहे हैं और अब भी दूर ही हैं। उन्होंने जीवन-नाटक को दर्शक की भाँति ही अधिक देखा है। अतः उनके इस युग के साथ-

साथ चलने के प्रयत्न में अध्ययन की प्रेरणा भी स्पष्ट है।"[1]

पर क्या इस बात से सहमत होना उचित है कि वर्तमान शती के चौथे दशक के अन्त में पंतजी ने एक निष्पक्ष दर्शक मात्र की भूमिका अपना ली थी ? वह एक तन्मय कलाकार की गम्भीर दृष्टि से जीवन को निहार रहे थे और यद्यपि समाज के क्रांतिकारी संघर्ष में उन्होंने प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया, तथापि वह पूर्णतया जनता के पक्ष ही में रहे। 'युगवाणी' इसका साक्षी है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में " 'युगवाणी' एक प्रकार से भारतीय साम्यवाद की वाणी है—भारतीय अर्थात् जिस रूप में उसे भारत का मस्तिष्क और हृदय समझ सका। साम्यवाद अभी हमारी समझ से आगे नहीं बढ़ा—अभी जीवन की वस्तु नहीं बन सका, यह निर्विवाद है। अभी वह सुन्दर दर्शन मात्र है।"[2]

इस संग्रह में पंतजी ने कुछ मार्क्सवादी सिद्धान्तों को काव्यात्मक रूप में केवल प्रस्तुत ही नहीं किया है, अपितु उन्हें स्वीकार भी किया है।

फिर भी, 'युगवाणी' संग्रह का मूलभूत आशय भारतीय जाति का प्रत्यक्ष जीवन या तूफानी वेग से आगे बढ़ने वाली घटनाओं के नहीं, अपितु मानव के तथा समूची मानवता के जीवन, अपनी मातृभूमि एवं अखिल विश्व के भाग्य के विषय में एक दार्शनिक कवि के विचार और जो कवि को उस समय युगवाणी में महत्त्वपूर्ण लगा, उसे साधारणीकृत काव्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करने के प्रयत्नों के स्वरूप ही में रहा है।

---

१. नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० १४१

२. वही, पृ० १४१।

आलोचनात्मक यथार्थवाद की ड्योढ़ी पर

'ग्राम्या' संग्रह

अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन !

—'वे आँखें'

सन् १९४० के वसंत में प्रयाग के भारती भण्डार ने पंतजी का 'ग्राम्या' नामक कविता संग्रह प्रकाशित किया। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने ". 'ग्राम्या' को कवि पंत की लम्बी ध्रुव-यात्रा का नया मील-चिह्न"[1] कहा था। इस संग्रह में तिरेपन रचनाएँ संगृहीत हैं जो कवि ने केवल तीन महीनों (दिसम्बर १९३९ से फरवरी १९४० तक) की अवधि में लिखी थीं। इस पुस्तक के साथ पंतजी की काव्य-साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण कालखण्ड समाप्त होता है। इसमें जैसे कवि के लगभग दस-वर्षीय ग्रामीण जीवन-काल का कुल जोड़ ही प्रस्तुत है। यदि 'युगांत' तथा 'युग-वाणी' नामक संग्रहों से ऐसा लगता है कि वह केवल अपने निवास के वातायन से कृषकों के जीवन पर दृष्टि डालता है और कभी-कभार ही ग्रामीण जनों को अधिक भली-भाँति देखने के हेतु गाँव के पथ पर कुछ कातर-से चरण बढ़ाता है, तो 'ग्राम्या' श्रेणी की रचनाओं में जिन्हें कालाकांकर खण्ड की रचनाएँ कहा जाता है, पंतजी पूरी तरह ग्राम जीवन पर ध्यान देते हुए दिखाई देते हैं। 'युगांत' तथा 'युगवाणी' नामक संग्रहों में मुख्यतया साधारणीकृत भाववादी रूप में प्रस्तुत कल्पनाओं एवं विचारों को 'ग्राम्या' संग्रह की रचनाओं में जीवन्त ठोसपन तथा यथार्थ परिस्थिति के साथ अनुभवजनित सम्बन्ध प्राप्त हुआ है :

१. प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'नया हिन्दी साहित्य, एक भूमिका', वाराणसी, १९५३, पृ० १३२।

मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों ही में अन्तर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत !

पंतजी द्वारा किया गया ग्रामीण जीवन का रूपांकन अ० स० पुश्किन की 'ग्राम' शीर्षक कविता में प्रस्तुत इसी विषय के वर्णन का स्मरण दिलाता है।

कवि की आनन्दोल्लसित आँखों के सामने ग्राम प्रकृति के अप्रतिम-सुन्दर चित्र एक के बाद एक बराबर आते रहते हैं। प्रभात के झिलमिलाते हुए ओस-कण कवि को हीरक हारों-से लगते हैं। ये हीरक कण हरियाली पर बिखरे हुए हैं और झाड़-झंखाड़ों के कंधों से टपक रहे हैं। कवि मुग्ध-सा होकर गंगा के चाँद-किरण-स्नात प्रवाह से अपनी दृष्टि नहीं हटा सकता। नव मृद्‌गंध, खेतों में पक रहे अनाजों की सुगंध और फूलों तथा घास की सुवास से कवि जैसे पागल हो उठता है। 'ग्राम श्री', 'गंगा', 'संध्या के बाद' शीर्षक रचनाओं के प्रकृति-चित्र सुन्दरता एवं सरसता की दृष्टि से पंतजी के प्रारम्भिक गीत मुक्तकों के उत्कृष्ट उदाहरणों का स्मरण दिलाते हैं। पर 'ग्राम्या' नामक संग्रह की रचनाएँ प्रकृति विषय के विकास की दृष्टि से उनकी प्रारंभिक रचनाओं से मूलतः भिन्न हैं। कुछ विरले ही अपवादों को छोड़कर इनमें से अधिकांश रचनाओं में पंतजी प्रकृति को माया अथवा ब्रह्म की सर्वव्यापिनी शक्ति की छाया के रूप में देखने की परंपरागत धार्मिक-दार्शनिक परिपाटी को जैसे भूल गए हैं। इन प्रकृति चित्रों में दिव्य शक्ति या मायामयता का लवलेश तक नहीं है। यहाँ प्रकृति हमारे सामने खड़ी होती है वस्तुगत यथार्थ के रूप में, रूपांकन एवं अभिव्यक्ति की विविधता में।

पर प्रकृति-सौंदर्य पर मुग्ध होकर कवि पल-भर के लिए भी लोगों को नहीं भूलता। वह उन्हें चारों ओर देखता है—गन्ने के झुरमुटों में, हरे-भरे बगीचों में जहाँ ग्राम युवतियों की सुडौल आकृतियाँ झलक रही हैं। कवि उनके ज़िन्दादिल चेहरों से नज़र नहीं हटा पाता, उनका हँसी-मज़ाक उसे ऐंद्रजालिक गीतों-सा लगता है। पनिहारियों, चमारों और धोबियों के उमंग-भरे नृत्यों को वह एकटक निहारता है। कलापूर्ण ध्वनि-चित्रों और द्रुत परिवर्तित लय के कारण 'धोबियों का नृत्य' शीर्षक कविता में लोक-नृत्य की छवि उत्पन्न हुई है। कभी यह नृत्य जल-तरंगों-सा मन्द मनोहर लगता है, जब नाचने वाली युवती 'काम-शिखा-सी सिहर उठती है', तो कभी द्रुततर जब आत्मविभोर होकर 'वह फिरकी-सी फिरती चंचल।'

उत्सव के दिन कवि 'अपने काम-धन्धों और चिन्ताओं को भूले हुए' किसानों के साथ गंगा के तट पर जाता है, जहाँ युवकगणों के उल्लास भरे खेल-कूद देखता है, लोकगीत सुनता है और देखता है किस प्रकार युवक एवं बालक, तरुण एवं वृद्ध, स्वस्थ एवं अस्वस्थ, धनी एवं निर्धन, सब तरह के लोग समस्त दुःख एवं अभावों को भूलकर एक साथ, एक परिवार के सदस्यों की तरह गंगाजी

की पवित्र धारा में स्नान कर रहे हैं। कवि को लगता है कि :

ये शत, सहस्र नर-नारी जन
लगते प्रकृष्ट सब, मुक्त, प्रमन,
है आज न नित्य कर्म बन्धन !
विश्वास मूढ़, निःसंशय मन,
करने आए थे पुण्यार्जन,
युग-युग से मार्ग भ्रष्ट जनगण !

कवि को यह लगता है कि लोगों के साथ 'बच रहे रवि शशि।'

पर जिस प्रकार 'ग्राम' शीर्षक कविता में पुश्किन, उसी प्रकार यहाँ पंतजी भी भावुकतापूर्ण साहित्य की ढब पर ग्राम, प्रकृति एवं कृषक जीवन का वर्णनात्मक रूपांकन करने से दूर ही रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रबोधन युग के प्रेमघन (१८५५-१९२२), श्रीधर पाठक (१८५९-१९२४) आदि प्रथितयश हिन्दी-कवियों की रचनाओं में उक्त भावुक शैली प्रचुर मात्रा में प्रचलित थी। इन कवियों ने आलिवर गोल्डस्मिथ कृत 'एकांतवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम', 'श्रान्त पथिक' जैसी कविताओं के अनुवादों के साथ-साथ भारतीय भूमि में उसके काव्य की भावुक आत्मा का भी प्रवेश कराया।

दारिद्र, दुःख एवं अज्ञान के भयानक, प्रभावशील चित्र पंतजी की आँखों के सामने खड़े होते हैं। जहाँ कहीं भी कवि दृष्टि डालता है, वहीं उसे अत्याचार एवं बल-प्रयोग दिखाई देते हैं। वह यह भी देखता है कि किस प्रकार निराशाग्रस्त, भाग्यहीन लोगों की आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई है।

अब पंतजी का चित्रण एक निराला ही कार्य करने लग जाता है। सुन्दर, आनन्दभरी प्रकृति के विरोध में कवि जैसे लोगों के आनन्दशून्य जीवन को प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ में 'ग्राम चित्र' शीर्षक कविता उदाहरण के रूप में ली जा सकती है :

यहाँ नहीं है चहल-पहल वैभव विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु, म्लान सौरभ मर्मर ले वन की !
आता मौन प्रभात अकेला, संध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया-सी !
... ...
यहाँ खर्व नर (वानर) रहते, युग-युग से अभिशापित,
अन्न-वस्त्र पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित !
यह तो मानव लोक नहीं है, यह रे नरक अपरिचित,
यह तो भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित !

झाड़फूँस के विवर—यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
कीड़ों-से रेंगते कौन थे ? बुद्धिप्राण नारी-नर ?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह-गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह मग में।

'खिड़की से' शीर्षक कविता में भी वे यही हाल देखते हैं। हाँ, यह सही-सा लगता है कि इस रचना में कवि अपनी प्रारम्भिक रचनाओं के प्रिय विषय की ओर अर्थात् प्रकृति के दिव्य चेतनायुक्त रूपांकन की ओर फिर एक वार लौट आया है। विश्व फिर एक वार उसे ब्रह्म की अक्षुण्ण, सर्वव्यापिनी शक्ति की परछाई-सा अनुभव होने लगता है। पर इस कविता का वास्तविक विचार प्रकट होता है उसकी अन्तिम पंक्तियों में—निशाकालीन प्रकृति के कल्पनारम्य चित्रांकन में मग्न पंतजी को उस ध्यानमग्नता के क्षण तक में मानव का स्मरण हो आता है, दुःख एवं पीड़ा से भरा मानव-जीवन उन्हें याद आता है। वह जैसे प्रकृति के रमणीय विश्व और दुःख-भरे जनजीवन को एक-दूसरे के मुकावले में खड़ा कर देते हैं। कवि के मन में क्रोध उत्पन्न होता है और वह पूछ उठता है :

मानव ही क्यों इस असीम समता से वंचित !
ज्योति भीत, युग-युग से तमस विमूढ़ विभाजित ! !

पंतजी वड़ी बहादुरी से स्वच्छंदतावादी, इंद्रधनुषी आवरण को त्याग देते हैं—उस आवरण को जिसमें वहुत से भारतीय कवि ग्राम जीवन को लपेटकर रखने का प्रयास करते थे। 'ग्राम्या' की रचनाओं में यह जीवन हमारे सम्मुख विना किसी बढ़ाव-चढ़ाव के आ जाता है। पंतजी के शब्दों में देहात में युवती का यह हाल है कि "जर्जर हो जाता उसका तन ! ढह जाता असमय यौवन धन" ('ग्राम युवती') वहाँ "गत सक्रिय गुण वन रूढ़ि रीति के जाल गहन, कृषि प्रमुख देश के लिए हो गए जड़ वंधन" ('ग्राम देवता')। वहाँ "स्वर्ण शस्य पर-पद तल लुंठित" ('भारत-माता')।

यहाँ तक कि विश्व को जीवन के सुखद स्पन्दन से परिपूर्ण करने वाले उषःकाल का प्रतीक, जोकि पंतजी के लिए बहुत प्रिय है, वह भी 'ग्राम चित्र' में एकदम भिन्न छटाओं में रंग जाता है। 'अकेला मौन प्रभात एवं उदासी भरी संध्या' कृषकों के आनन्दहीन जीवन के वातावरण में भारी गहराई लाते हैं। दिन के स्वस्थ विकास के स्थान में हमारे सामने आ जाते हैं दोपहर के ताप एवं उसमें रेंगने वाली निद्रालु छायाओं की अचल उदासी।

उक्त संग्रह के अधिकांश भाग में ऐसी रचनाएँ हैं जिनके द्वारा पंतजी जैसे अपने पाठकों को भारतीय ग्रामवासियों के विविध स्तरों से परिचित कराना चाहते हैं। यह कोई खाली योजनाएँ या कोरी भावात्मकता नहीं है, जिनके द्वारा कवि पूंजीवादी समाज का वर्गाधिष्ठित सारतत्त्व अभिव्यक्त करने, पीड़ितों के प्रति

अपनी दयाशीलता एवं सहानुभूति प्रकट करने और उत्पीड़ितों के प्रति घृणा एवं तिरस्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा हो जैसाकि 'युगवाणी' में दिखाई देता है। 'ग्राम्या' के नायक हैं—सजीव जन। इस संग्रह में हम देखते हैं यथार्थपूर्ण प्रातिनिधिकता और जीवंत साकारता। अनिमेष नेत्रों से चारों ओर देख, तथ्यों को कुशलता से छान-बीन, कलापूर्ण ढंग से समझ-बूझ और उनका साधारणीकरण कर कवि हमारे सामने जैसे कृषकों के पोर्ट्रेटों की एक प्रभावोत्पादक चित्रशाला ही प्रस्तुत कर देता है।

पंतजी की इनी-गिनी विषय-प्रधान रचनाओं में से एक 'वे आँखें' शीर्षक रचना में घोर दुःख का मनोविज्ञान से परिपुष्ट और अत्यधिक सशक्त चित्र अंकित है। दुखी मानव की शब्दातीत वेदना से भरी हुई दृष्टि कवि की आत्मा को चीर देती है, वह सर्वत्र कवि का पीछा करती है और वह कह उठता है : "अंधकार की अतल गुहा सी उन आँखों से डरता मन।" इस मनुष्य की आँखें विषप्रयोग किए गए और दया के लिए मूक प्रार्थना करने वाले किसी प्राणी की आँखों के समान हैं। उनमें जैसे सारी जनता का दुःख प्रतिबिंबित हुआ है—उस जनता का जो वर्षानुवर्ष व्यथित रही है। कवि हमें इन आँखों के स्वामी की दर्दभरी रामकहानी कथन करता है—यह एक ऐसे दरिद्र किसान की कहानी है जो दुःख-भार से दबा हुआ है और मुक्ति के उपाय के रूप में मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। जीवन-भर उसने पारिवारिक सुख के स्वप्न देखे थे, सुबह से लेकर रात तक वह अपने खेत के नगण्य-से टुकड़े में अविश्रान्त श्रम करता रहा था। पर भाग्य निर्मम जो ठहरा। उस पर एक के बाद एक कई कठोर आघात हुए। पहले-पहल जमींदार के नौकरों ने उसके एकमात्र पुत्र की हत्या कर डाली। यह पुत्र किसान के लिए 'आँखों का तारा' था। ऋण के बदले में साहूकारों ने किसान का घर छीन लिया, सारा छोटा-मोटा सामान-असबाब हड़प लिया, कोई छोड़ा नहीं, ब्याज के हिसाब में सब-कुछ ले गए—यहाँ तक कि ऋण चुकता करने के लिए बैलों की आखिरी जोड़ी तक को बेच डालने को मजबूर किया। फिर उसकी गाय ने भी आखिरी साँस ली। शीघ्र ही पत्नी बीमार हुई। डॉक्टर को बुलाना और दवा खरीद लाना आवश्यक था, पर घर में कानी कौड़ी तक न थी। आखिर लम्बी यातनाएँ सहकर बेचारी इस संसार से चल दी। छोटी-सी बेटी ने भी माता के पीछे-पीछे जीवन से विदा ली। बेचारे किसान के पास मारे गए पुत्र की बहू मात्र रही। पर भ्रष्टाचारी पुलिस ने उस पर स्वयं अपने पति की हत्या का दोष लगाकर उसे थाने में बुलाया और बलात्कार किया। इस अपमान को वह सह न पाई और कुएँ में कूद पड़ी।

शब्दातीत पीड़ा एवं मूक प्रार्थना-भरी दृष्टि आकाश में गड़ाए—यह आकाश भी तो उसके लिए उतना ही निर्मम रहा था—किसान अंतिम साँस लेता है।

उसका दुःख एवं पीड़ा कहीं संयोग-मात्र तो नहीं थे ? कहीं यह दुर्भाग्य का खेल तो नहीं था ? रचना की अन्तिम दो पंक्तियों में कवि जैसे इस प्रश्न का उत्तर देने की सोचता है। और वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि सामाजिक विषमता ही वह सबसे बड़ा दोष है, जो जन-जीवन को लुंज-पुंज और कुरूप बना देता है :

अंधकार की अतल गुहा-सी
अह, उन आँखों से डरता मन,
वर्ग सभ्यता के मन्दिर के
निचले तल की वे वातायन !

चारों ओर पंतजी इस अन्याय का अस्तित्व देखते हैं और उसकी घोर निन्दा करते हैं। पंतजी की 'वह बुड्ढा' शीर्षक कविता आधुनिक हिन्दी काव्य-संसार की अत्यधिक सशक्त, भावपरिपुष्ट कविताओं में से एक है। ऐसा लगता है कि यह कविता एक द्रुत चित्रण-मात्र है : एक दरिद्र बुड्ढा कवि के द्वार पर आता है, भीख माँगता है और एक छोटा-सा सिक्का पाकर चला जाता है। बस, इतना ही। यह एक नगण्य साधारण प्रसंग है। पर कवि ने उसमें इतने भाव भर दिए हैं, ऐसा दुःखपूर्ण चित्र अंकित किया है, दरिद्र बुड्ढे की ऐसी मर्मस्पर्शी मूर्ति प्रस्तुत कर दी है कि वह हमारी आँखों के सामने सजीव-सी खड़ी हो जाती है :

खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
सिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर !
उभरी ढीली नसें जाल सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटी,
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमरबेल हो चिपटी !
उसका लम्बा डीलडौल है,
टूटी कट्टी काठी चौड़ी,
इस खंडहर में बिजली सी
उन्मुक्त जवानी होगी दौड़ी !
बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी रीढ़ कमठा सी टेढ़ी
चिपका पेट, गढ़े कंधों पर,
फटी बिवाई से है एड़ी !

बैठ, टेक धरती पर माथा,
वह सलाम करता है झुककर,
उस धरती से पाँव उठा लेने को
जी करता है क्षण भर!
घुटनों से मुड़ उसकी लम्बी
टाँगें जाँघें सटीं परस्पर,
झुका बीच में शीश, झुर्रियों का
झाँझर मुख निकला बाहर!
हाथ जोड़, चौड़े पंजों की
गुँथी अँगुलियों को कर सम्मुख,
मौन त्रस्त चितवन से,
कातर वाणी से वह कहता निज दुख!
गर्मी के दिन, धरे उपरनी सिर पर,
लुंगी से ढाँपे तन—
नंगी देह भरी बालों से—
वन मानुस सा लगता वह जन!
भूखा है पैसे पा, कुछ गुनमुना
खड़ा हो, जाता वह घर,
पिछले पैरों के बल उठ
जैसे कोई चल रहा जानवर!
काली नारकीय छाया निज
छोड़ गया वह मेरे भीतर,
पैशाचिक सा कुछ दुःखों से
मनुज गया शायद उसमें भर!

इस रचना को पढ़ते ही हमारी आँखों के सामने वर्तमान शताब्दी के पंचम दशक के आरम्भ में जो अकाल पड़ा था, उसके भयानक चित्र नाचने लगते हैं। भूख के मारे पागल-से होकर सड़कों पर घूमने, सड़क के किनारे आखिरी दम तोड़ने तथा एक-दूसरे से जूठन के टुकड़ों के लिए छीना-झपटी करने वाले सैकड़ों-हज़ारों लोग, बेटियों को बेचने वाले अभिभावक, बच्चों को मौत के चंगुल से बचाने के लिए तनुविक्रय करने वाली माताएँ—यह था उस समय का दृश्य! उक्त कविता में वर्णित दरिद्र, भाग्यहीन बुड्ढे की मूर्ति में मानो समस्त जनता का सारा दुःख ही कूट-कूटकर भरा हुआ है। पर कविता में वेदना एवं निराशा के साथ-साथ सहानुभूति की धारा भी अखण्ड रूप से बहती है। बुड्ढा चला जाता है और कवि गहरे विचारों में मग्न हो जाता है—वेदना से उसका हृदय दो टूक हो जाता है। हाँ,

यह सही है कि जहाँ मनुष्य को ऐसी दयनीय दशा में ज़िन्दगी काटनी पड़ती है, उस समाज-व्यवस्था के प्रति निषेध का स्वर इस रचना में दबा हुआ-सा ही है।

फिर भी पंतजी ने राष्ट्रीय आपत्ति का चित्रण ऐसे यथार्थतापूर्ण रंगों में और ऐसी सहानुभूति के साथ किया है कि कविता से मानो समय ही की पुकार गूंज उठती है। यह कविता प्रेमचन्दजी के उन गल्पों एवं उपन्यासों का स्मरण दिलाती है जिनमें आलोचनात्मक यथार्थवाद का सूत्र निहित है। प्रेमचन्दजी की तरह पंतजी ने भी अपने देशबन्धुओं के दुःख एवं पीड़ा के सही कारणों को निकट से समझ-बूझ लिया था। (प्रेमचन्द-कृत 'गोदान' के होरी और पंत रचित 'वे आँखें', 'वह बुड्ढा' आदि कविताओं के नायकों की तुलना इसका उदाहरण प्रस्तुत करेंगी)। प्रेमचन्दजी की साहित्य-साधना के प्रारंभकाल में भाववादिता उनके लेखन की विशेषता थी जो धीरे-धीरे लोप होती गई और उनके मानवतावाद में परिवर्तन हुआ। पंतजी के मानवतावाद का भी इसी प्रकार क्रमिक विकास हुआ।

इस संदर्भ में 'युगवाणी' संग्रह की पूर्वोक्त 'दो लड़के' शीर्षक रचना और 'ग्राम्या' की 'ग्राम बच्चे' शीर्षक रचना की तुलना रोचक सिद्ध होगी। दोनों रचनाएँ एक ही विषय पर लिखी हुई हैं। पर दोनों में कितना बड़ा अंतर है! 'ग्राम्या' संग्रह की उक्त रचना में कवि अपने घर की खिड़की से देहाती लड़कों को केवल निहारकर, मानवीय व्यक्तित्व के मूल्य का समर्थन कर और संसार के ऐसे पुनर्निर्माण के मात्र भाववादी स्वप्न देखकर ही नहीं रहता, जिसमें दरिद्रों को अन्त में जाकर सुखमय, पूर्णतया सार्थक जीवनयापन करने का अधिकार प्राप्त होगा। कवि की दृष्टि यहाँ अधिक पैनी हो जाती है। देहाती लड़के अब उसे देवतासम सुन्दर और तगड़े, स्वास्थ्य के पुतले नहीं लगते। अब उसे दिखाई देते हैं बरगद की जटाओं के-से उनके मलिन, झबरे-बिखरे बाल, सूखकर पतले हुए हाथ-पैर, निकली हुई हड्डियाँ-पसलियाँ, फूले हुए पेट और झुकी हुई काठियाँ। "धरती की श्रीसमृद्धि होते हुए भी वे स्वयं जैसे उस मिट्टी के पुतले हैं जो बचपन से ही उन्हें घेरे रहती है।" और उधर "धनियों की कोठियों में कैसा मुलायम पालना होता है और कितनी अधिक दासियाँ।" देहाती बच्चे "वृक्षों के समान होते हैं, जो अपने वित्ते पर ही जीते हैं, बढ़ते हैं, ऊपर उठते हैं, पत्तों को बिखेर देते हैं, म्लान होकर गिर जाते हैं और फिर खाक बन जाते हैं···वे अन्य प्राणियों के समान भीरु होते हैं। उनके चेतना तो होती है, पर ज्ञान नहीं होता··जन्म से लेकर मृत्यु तक उनका सारा जीवन मिट्टी में और अभाव ही में बीतता है।" जैसा कि हम देखते हैं, दरिद्रों के बच्चों के सुन्दर भविष्य विषयक भाववादी-मानवतावादी स्वप्न यहाँ आनन्दशून्य बचपन के यथार्थवादी रूपांकन में बदल गए हैं। अब कृषक बालकों के दुर्भाग्य के विषय में सहानुभूति ही कविता का वैचारिक आशय बन गई है। पंतजी की अन्य रचनाओं में भी सहानुभूति का यह सूत्र पिरोया हुआ है। कभी-कभी कवि को लगता

है कि दारिद्र्य की अन्तिम सीमा तक पहुँचे हुए किसान मनुजत्व को ही खो बैठते हैं। यहाँ तक कि कवि को शक होने लगता है कि ये लोग जीवित भी हैं? उनमें कहीं जीवन का स्रोत सूख तो नहीं गया? ('कठपुतली')।

किसी काल विष से मूर्छित
यह मनुजाकृति ग्रामिक अगणित!

कवि को वे कभी किसी "दुष्ट जादूगर द्वारा जड़ पाषाण मूर्तियों में परिवर्तित किए गए-से लगते हैं, तो कभी घुप अँधेरे में घूमने वाले भूत-पिशाचों-से।" अभाव के भार के नीचे दबे हुए और बोझिल श्रम से पीड़ित इन किसानों का जीवन पूर्णतया अर्थशून्य, आशयरहित तथा लक्ष्यहीन लगता है:

ये माया जन
विश्वास मूढ़ नर-नारी गण,
चिर रूढ़ि रीतियों के गोपन
सूत्रों में बँध करते नर्तन।

आखिर किसने इन भाग्यहीन लोगों पर जादू मारा? किसने उनका जीवनानंद छीन लिया और उन्हें कठपुतलियाँ बना दिया? कवि इसका उत्तर यों देता है:

घोर अविद्या में मोहित
ये मानव नहीं, जीव शापित...

ये लोग सच्चा जीवन जी ही नहीं रहे हैं, वे सदा पीछे की ओर देखते हैं, न उनके हृदयों में कोई आशा है और न आँखों में जीवन की ज्योति और इसीलिए जीवन का सत्य खोजने का प्रयत्न वे नहीं करते, धरती पर अपना जीवन निर्माण करने की कोशिश नहीं करते—बस, केवल पारलौकिक संसार के विषय में सोचते रहते हैं।

इन परिस्थितियों में भारतीय नारियों का जीवन विशेष अंधकारमय रहा, उनके भाग्य में दुःख-ही-दुःख रहा। उक्त संग्रह की सात रचनाएँ कवि ने भारतीय नारियों और विशेषकर कृषक स्त्रियों की स्थिति को लेकर ही लिखी हैं ('ग्राम-नारी', 'नारी', 'मज़दूरनी के प्रति', 'ग्राम युवती', 'स्त्री', 'आधुनिका')। इनके अतिरिक्त संग्रह की अन्य अनेक रचनाओं में भी कवि ने कई बार इस विषय पर ध्यान दिया है। 'ग्राम्या' की रचनाओं में हमारे सम्मुख सजीव, जीती-जागती नारी की प्रतिमा खड़ी होती है। अपने को अखिल मानवतावादी विषयकथन तक ही सीमित न रखते हुए पंतजी ने यहाँ नारी की साधारणीकृत, यथार्थ प्रतिमा प्रस्तुत करने, उसकी विभिन्न सामाजिक श्रेणियाँ दिखाने, उसे भारतीय वास्तविकता के साथ संबद्ध करने, राष्ट्रीय चरित्र के नमूनेदार पहलू दिखाने, नारी के अंधकारमय आनन्दशून्य जीवन के सच्चाईभरे एवं प्रभावशील चित्र अंकित करने का प्रयत्न

किया है। उन्होंने पाठक को इस विचार तक लाने की कोशिश की है कि भारतीय वास्तविकता उस समाज-रचना से कितनी बेमेल है जिसमें नारी अपने को समाज का समानाधिकारी सदस्य अनुभव कर सके।

भारतीय नारी की प्रतिमा के अंकन में अधिक भावुकता लाने के हेतु पंतजी ने विरोध-विषम अलंकार पद्धति का प्रयोग किया है, जो उनके लिए बड़ी प्रिय रही है। प्रस्तुत प्रसंग में एक ओर नारी की सुन्दरता, उदारता, वीरता तथा त्याग-शीलता और दूसरी ओर उसके जीवन की असहनीय बोझिल, पशुतुल्य स्थिति उल्लेखनीय है।

'ग्राम युवती' शीर्षक रचना में देहाती लड़की की मनोहर प्रतिमा अंकित है। वह हमारे सामने "उन्मद यौवन से उभर घटा-सी नव असाढ़ की सुन्दर, अति-श्यामवरण, श्लथ, मंद चरण, इठलाती आती" है। वह सिर पर भारी गागर लिए "जल छलकाती, रस बरसाती, बल खाती घर को जाती" है, और कवि उसे निहारता रह जाता है। "तन पर यौवन सुषमाशाली, मुख पर श्रमकण, रवि की लाली, सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली, वह मेंडों पर आती-जाती, उरु मटकाती, कटि लचकाती"—यह है उसकी छवि। उसके बालों में सँवरे हुए ताज़े फूल कवि को सुन्दरतम अलंकार-से लगते हैं। और देखिए :

वह मग में रुक
मानो कुछ झुक
आँचल सँभालती, फेर नयन मुख,
पा प्रिय पद की आहट !
आ ग्राम युवक,
प्रेमी याचक,
जब उसे ताकता है इकटक,
उल्लसित,
चलित,
वह लेती मूँद पलक पट !

उसकी गागर से छलककर भूमि पर गिरने वाली जल की बूंदें कवि को प्रत्यक्ष जीवन-रस-सी लगती हैं जिसे वह उदारतापूर्वक अपने चारों ओर छिड़क रही हैं और चतुर्दिक् को सुन्दरता, सुख एवं यौवन से परिपूर्ण कर रही है। पर यकायक कविता का स्वर एकदम बदल जाता है। अब कवि के शब्दों से दुःख छलक पड़ता है :

रे दो दिन का
उसका यौवन !

सपना छिन का
रहता न स्मरण।

अभाग्य, दु:ख, कमरतोड़ श्रम, अखण्ड अभाव, असमय वार्द्धक्य से भरा जीवन—बस यही है ग्राम-नारी के ललाट का लेखा :

जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन !
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण।

"प्रेम, उदारता, आत्मसमर्पण एवं कोमलता की मूर्ति और साथ-ही-साथ युगानुयुग के अधिकारहीनता के अंधकार की बलि" के रूप में नारी-प्रतिमा की व्याख्या करते हुए पंतजी रवीन्द्र के निकट आते हैं जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक की अपनी प्रारंभिक कहानियों में यथार्थपूर्ण नारी-प्रतिमाओं की एक पूरी चित्रशाला ही प्रस्तुत कर दी थी। भारतीय नारी की श्रेष्ठता एवं सज्जनता के विषय में उन्होंने ज़ोरदार आवाज़ उठाई थी और साथ-साथ उसकी अधिकार-हीन, असहनीय, भारान्वित स्थिति भी दिखाई थी। रवींद्र की बाद की काव्य-साधना में भी नारी-प्रतिमा की ऐसी ही व्याख्या की गई है। यहाँ पंतजी की 'ग्राम युवती' और रवींद्र की 'संथाल मेये' (सन् १९३९) शीर्षक रचनाओं के बीच की साम्य रेखाएँ ध्यान में आए बिना नहीं रहतीं। रवींद्र की तरह पंतजी की विशेषता भी इस बात में निहित है कि वह अखण्ड चिंताओं एवं अभावों से दबी हुई और आनन्दहीन जीवन को किसी प्रकार धकेलने वाली ग्राम-नारी में कोमलता, मनो-हरता, सुजनता और तेजस्विता भी देख सके। अब कवि किसी ऐसी भावमय पूर्णता का अन्वेषण त्याग देता है जो प्रत्यक्ष वास्तविकता से दूर हो और केवल स्वप्नों में ही जिसकी प्राप्ति संभव हो। अपने सौंदर्य विषयक आदर्श को वह वास्तविकता के साथ संबद्ध कर देता है—सीधी-सादी ग्राम-नारी में वह उच्चतम सौंदर्य के दर्शन करता है। ग्राम नारी और उच्च समाज की धन-दौलत तथा अलस से भ्रष्ट नारी, इन दोनों की स्थिति का विरोध दिखाकर कवि नारी विषयक अपने आदर्श को प्रभावशील बनाता है। वह कहता है :

स्वाभाविक नारी जन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्मनिष्ठ, अंगों की हृष्ट-पुष्ट सुंदर,
श्रम से है जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित
वह स्वस्थ ग्राम-नारी, नर की जीवन सहचर !
वह शोभा पात्र नहीं कुसुमादपि मृदुल गात्र,
वह नैसर्गिक संस्कारों से चालित,

सत्याभासों में पली न छाया मूर्ति मात्र,
जीवन रण में सक्षम, संघर्षों से शिक्षित,
वह वर्ग नारियों सी न सुज्ञ, संस्कृत कृत्रिम,
रंजित कपोल भ्रू अधर, अंग सुरभित वासित
वह नहीं स्वप्नशायिनी प्रेयसी ही परिचित
वह नर की सहधर्मिणी, सदा प्रिय जिसे कार्य
चिर क्षुधा शीत की चीत्कारें, दुख का क्रंदन,
जीवन के पथ से उसे नहीं करते विचलित !

'ग्राम्या' संग्रह की रचनाओं में पंतजी ने भारतीय नारी की प्रतिमा की व्याख्या की दृष्टि से आगे चरण बढ़ाया है। उन्होंने इस प्रतिमा का अंकन केवल नैतिक ही नहीं, अपितु सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी किया है। 'अपनी चिर जीवन-संगिनी नारी' को स्वतंत्र कराने के लिए आवाहन करते हुए कवि नर पर नारी की दास्यपूर्ण निर्भरता की निन्दा करके नहीं रुकता, वह इस बात पर भी दुख प्रकट करता है कि नारी 'समाज का एक अधिकारहीन सदस्य' मात्र है। 'आधुनिक नारी' शीर्षक कविता में कवि दिखाता है कि किस प्रकार बुर्जुआ समाज की संस्कृति एवं आचार-विचार नारी को कलुषित, उसकी आत्मा को विषावत कर देते हैं और किस प्रकार आधुनिक नारी मानवीय गौरव खोकर नर के हाथ का एक खिलौना या मनोविनोद का साधन मात्र बन जाती है। सारे संसार का समस्त सौंदर्य उसने अपने-आपमें सोख लिया है—केवल इसलिए कि वह अपने शरीर को नर के लिए अधिक-से-अधिक प्रलोभनीय बना सके। प्राणियों का मृदु, कोमल चर्म, पक्षियों के आकर्षक पंख, फूलों के समस्त रंग और सौरभ तथा सागर तल एवं धरती के गर्भ के सारे मोती और रत्न उसने अपने सौंदर्य-साधन बना लिए हैं। सारी आधुनिक संस्कृति उसने जैसे चूस ली है···पर यह सब होते हुए भी उसका सौंदर्य अल्पजीवी है, चमक-दमक ने उसकी आत्मा को विषाक्त कर दिया है, उससे उत्कटता तथा न्यायशीलता छीन ली है, सच्चा प्रेम, दयाशीलता एवं हार्दिकता उसके लिए अज्ञात है और वह जड़ एवं भावनाशून्य बन गई है।" और कवि उसे कभी एक तितली के रूप में चित्रित करता है जिसके रंग-बिरंगे पंख हैं और जो मधुरतर पुष्प-रस की खोज में एक फूल से दूसरे फूल तक उड़ती रहती है; तो कभी एक सुंदर पक्षिणी के रूप में है जो डाल पर बैठी निश्चित मन से अपना राग अलापती रहती है।

पंतजी सतत यह विचार करते दिखाई देते हैं कि शताब्दियों के अंधकार से मुक्ति पाने में नारी की सहायता किन मार्गों से की जा सकती है। उनके अनुसार सामुदायिक श्रम ही नारी को सच्चे अर्थ में स्वाधीन एवं समानाधिकारी बना सकता है।

यह विचार अत्यधिक स्पष्टता के साथ 'मजदूरनी के प्रति' शीर्षक रचना में

उभर आता है। इस रचना में मजदूरनी की जीती-जागती प्रतिमा अंकित है। उत्साह एवं वीरता की यह मूर्ति सूर्य के प्रकाश की तरह अपने चारों ओर अपनी सत्ता को फैलाती है। उसके सिर से आंचल खिसका है, धूलभरा जूड़ा है, वक्ष अधखुला है, उसके तन से यौवन का स्वास्थ्य झलकता है, काम-काज में वह पुरुषों से पीछे नहीं रहती। वह उनके साथ ही विश्राम करती, हँसती-बतलाती है, झूठी लाज उसे छूती नहीं, नरों की तुलना में वह अपने को परावलंबी नहीं अनुभव करती, न अपने को नर की मात्र सेविका ही मानती है। सामुदायिक काम में ! वह समान अधिकारिणी निर्मात्री है :

> निज बंधन खो, तुमने स्वतंत्रता की अर्जित ?
> स्त्री नहीं, आज मानवी बन गईं तुम निश्चित।
> निज द्वंद्व प्रतिष्ठा को भूल, जनों के बैठ साथ
> जो बँटा रही तुम काम-काज में मधुर हाथ—

पर भारतीय नारी को मध्ययुगीन कूपमंडूकता से मुक्त और झूठे पूर्वाग्रहों की दम घोंटनेवाली दलदल से बाहर करना केवल सामुदायिक श्रम के साधन से ही संभव है, इस विचार का समर्थन करते हुए भी पंतजी अभी यह नहीं देखते कि पूँजीवादी समाज में प्रचलित बेगार नारी को स्वाधीनता दिलाने, उसे समाज का समानाधिकारी सदस्य बनाने का प्रभावशाली साधन नहीं हो सकती।

भारतीय नारी की दयनीय दशा का विषय, जिसका विवेचन 'ग्राम्या' संग्रह की रचनाओं में किया गया है, नवयुग के समस्त भारतीय अग्रगामी साहित्य के महत्त्वपूर्ण विषय का ही तर्कसंगत विकास है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ करते हुए हिन्दी साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ के बहुसंख्य लेखकों एवं कवियों की रचनाओं में यह विषय सर्वोपरि रहा है। पर पंतजी की रचनाओं में इसे स्पष्टतम वाणी मिली है। हाँ, यह सही है कि वह नारी-स्वाधीनता के विचार को उसके तर्कसंगत निष्कर्ष तक नहीं ले जाते, क्योंकि वह नहीं देखते कि केवल क्रांति ही नारी को सच्ची स्वाधीनता दिला सकती है।

मानव के नव जीवन-निर्माण के मार्ग में बाधा डालने वाली सभी रूढ़िगत बातों का पंतजी तीव्र विरोध करते हैं। वह कहते हैं : "अतीत अभी भी साँप की तरह हमारे पैरों के नीचे रेंग रहा है। यद्यपि उसके मुँह से विषैला दाँत निकाला गया है, फिर भी वह अभी तक बहुत ही खतरनाक है।" कवि के अनुसार धार्मिक कट्टरता ही सबसे घातक विष है, जो लाखों लोगों की चेतना को धुंध से घेर देता है। 'ग्राम देवता' शीर्षक रचना में वह उस अंधविश्वास का डटकर विरोध करता है जो जन की इच्छाशक्ति छीन लेता है, उसके सुखमय एवं स्वाधीन जीवनयापन में बाधा डालता है, भावों एवं आकांक्षाओं को खुल्लमखुल्ला प्रकट करने से उसे

रोकता है। देवी-देवताओं की पाषाण मूर्तियाँ 'जन को ऐहिक अस्तित्व की हेयता का सतत स्मरण दिलाती, उसका आनन्द छीन लेती और उसकी आत्मा को बेचैन कर देती हैं। ये मूर्तियाँ अज्ञान जनों को उतना पीड़ित और आतंकित तो अवश्य ही कर देती हैं जितना कि साहूकार, ज़मींदार और लाठीधारी पुलिस करते हैं। वे जन-जन को भयभीत बना मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए संघर्षरत होने की इच्छा को दबा देती हैं। प्रस्तर मूर्ति के चरणों के पास बलि को लाने वाले ग्राम पुजारी की बड़बड़ाहट और अफ़ीम की भाप जैसा यज्ञकुण्ड का धुआँ जन की चेतना को भ्रांत कर देते हैं, उन्हें अकर्मण्यता एवं निष्क्रियता से विषाक्त कर देते हैं और सतत भय एवं अशांति से घेरे रखते हैं। ग्राम के पाषाण देवता होते हैं समस्त मध्ययुगीन असभ्य पूर्वाग्रहों एवं रीति-रिवाजों के विश्वासपात्र संरक्षक। वह युगानुयुग के अज्ञान एवं अंधकार ही की मूर्तियाँ होते हैं।'

पर धार्मिक कट्टरता तथा अंधविश्वास के प्रति पंतजी के तीव्र दृष्टिकोण को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि कवि अपनी आदर्शवादी विचारधारा से दूर गया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानन्द और राष्ट्रीय प्रबोधन युग के अन्य कार्यकर्ताओं के विचार भी ऐसे ही थे। इस प्रकार पंतजी की विचारधारा भारतीय सामाजिक विचारधारा के विकास के आम साँचे में ही ढली थी, जिसमें लोकतंत्रवादी भारतीय बुद्धिजीवियों की विचारधारा प्रतिबिंबित थी। मातृभूमि के उत्थानार्थ छिड़े संघर्ष और उपनिवेशवादी दासता के विरुद्ध खड़ी हो रही भारतीय जनता के संगठन में यह वर्ग प्राचीन भारतीय परंपराओं का आधार खोजने और एक ऐसे नए 'विश्व मानवधर्म' की स्थापना करने में प्रयत्नशील रहा, जो अंधविश्वास, जड़ सूत्रवाद तथा मूर्तिपूजा से मुक्त हो और मध्ययुगीन असभ्य धार्मिक आचार-विचारों को अस्वीकार करे।

पंतजी की 'ग्राम देवता' शीर्षक रचना हिन्दी कविता में मानवतावादी विकास की प्रक्रिया की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी रही है और मध्ययुगीन रूढ़िवादिता, जोकि भारतीय ग्रामों में विशेष ठोस रूप में दृढ़मूल हुई थी, के विरुद्ध कवि द्वारा छेड़े गए निर्णयकारी संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण आधार-बिन्दु सिद्ध हुई है। कवि लिखता है : "कालाकांकर में मुझे अपने देश की मध्ययुगीन रूढ़िप्रिय संस्कृति को समझने तथा उसका विश्लेषण करने का अवसर मिला।"[1]

कवि आवाहन करता है कि "पूर्णतया अनुपयुक्त, कालविपरीत सिद्ध हुए और फफूंदी से ढंके हुए आचारों एवं विश्वासों को अनावश्यक कूड़े-करकट की तरह सदा के लिए फेंक दिया जाए, उस संस्कृति से छुट्टी ली जाए जो मृत होते हुए भी अपने वद्ध हाथों से जीवित लोगों की आत्माओं को जकड़ देती है···और इस समय इन लोगों के बीच जो संघर्ष चल रहा है वह पुरानी चीज़ों को जीवित

१. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ५६।

रखने के लिए नहीं अपितु नई वस्तुओं द्वारा उनकी मृत्यु के लिए चल रहा है। यह संघर्ष उन दुष्ट शक्तियों, अतीत युगों के राक्षसों के विनाशार्थ चल रहा है जो नव जीवन, सत्य, न्यायशीलता आदि प्राचीन भारतीय बुद्धिमानी के उच्च आदर्शों के नवांकुरों को पैरों तले कुचलने के लिए प्रयत्नशील हैं'' ('आवाहन' शीर्षक रचना देखिए)।

कालविपरीत और सामाजिक विकास के मार्ग में बाधा डालने वाली समस्त वस्तुओं की आलोचना को तीव्रतम बनाने के हेतु पंतजी प्रायः वास्तविकता का व्यंग्योपहासपूर्ण रूपांकन करते हैं जिससे उनकी रचना की यथार्थवादी प्रवृत्ति सशक्त बनती है। 'ग्राम्या' संग्रह में ऐसी कई कविताएँ हैं जिनकी व्यंग्यपूर्णता ने पंतजी को वास्तविकता की कुरूपता को अधिक स्पष्टतया, पूर्णतया अनावृत करने का और भारतीय समाज के कालविपरीत नैतिक आधारों तथा नवीनता की दिशा में अग्रसर होने के लिए मानव की प्रयत्नशीलता के बीच का घोर विरोध दिखाने का अवसर दिया है।

'ग्राम देवता' शीर्षक रचना में पंतजी ने अज्ञान जनों का पाषाण के देवताओं की 'सर्वस्पर्शी शक्ति' में अंधविश्वास व्यंग्य के रंग में अंकित किया है। दैनंदिन के 'राम-राम' के साथ आरंभ होने वाली और सर्वशक्तिमान् पाषाण देवता के प्रति विनोदगर्भ प्रार्थना माला के रूप में लिखी गई इस कविता की बनावट से लेकर ही निर्जीव मूर्ति के प्रति कवि का उपहासपूर्ण दृष्टिकोण प्रकट होता जाता है। उसके अनुसार इस देवता को उन जनों के दुख एवं अभाव से कुछ लेना-देना नहीं जिन्हें धूर्त, स्वार्थलोलुप धर्मध्वजी सतत धोखा देते रहते हैं। देखिए निम्नांकित 'प्रार्थना' में तीखे व्यंग्य का कैसा पुट है :

राम राम
हे ग्राम्य देवता, यथा नाम !
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें सविनय प्रणाम !
विजया, महुआ, ताड़ी, गाँजा पी सुबह शाम,
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम !
पंडित, पंडे, ओझा, मुखिया और साधु, संत,
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पंथ,
जो था, जो है, जो होगा—सब लिख गए ग्रंथ,
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मंत्र तंत्र !

इस प्रकार पंतजी की रचना में और वैसा कहें तो वर्तमान शती के चतुर्थ-पंचम दशकों के समस्त हिन्दी साहित्य ही में यह विशेषता रही कि आलोचनात्मक दृष्टिकोण सशक्त होता गया। पर शोषक समाज के नासूरों को अनावृत करते और कृषकों के भारान्वित जीवन को सहानुभूति के साथ अंकित करते हुए भी पंतजी

चतुर्दिक् की वास्तविकता को परिवर्तित करने के मार्गों एवं साधनों के विषय में लगभग कुछ भी नहीं कहते। कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि कवि सामाजिक संघर्षों के सौंदर्य एवं सारतत्त्व को तथा श्रमिक जनता की दयनीय दशा और नारी की अधिकारहीन स्थिति के कारणों को समझने लग गया है, पर वस्तुस्थिति यह है कि वह कभी भी सहानुभूति दिखाने या सामाजिक अन्याय के विरुद्ध भावात्मक निषेध प्रकट करने से आगे नहीं बढ़ता। रवींद्रनाथ ठाकुर ही की तरह वह सामाजिक क्रांति की अपेक्षा सांस्कृतिक क्रमिक विकास पर अधिक आशा रखे रहता है। 'संस्कृति के प्रश्न' शीर्षक रचना में वह सीधे ही कहता है :

> राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
> अर्थसाम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख
> आज बृहत सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
> खण्ड मनुजता को युग-युग की होना है नव निर्मित,
> विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
> मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित !
> व्यर्थ आज राष्ट्रों का विग्रह, औ' तोपों का गर्जन,
> रोक न सकते जीवन की गति शत विनाश आयोजन !
> नव प्रकाश में तमस युगों का होना स्वयं निमज्जित,
> प्रतिक्रियाएँ विगत गुणों की होंगी शनैः पराजित !

पंतजी यहाँ संसार के परिवर्तन के साधन के रूप में क्रान्तिकारी बल-प्रयोग के लिए आवाहन नहीं करते, क्योंकि वह मानते हैं कि लोगों के दखल दिए विना ही नवयुग अपने-आप उदित होगा। फिर भी पंतजी का यह विचार किसी भी सीमा तक इस कथन के लिए आधार नहीं देता कि "उनको हम पूर्ण रूप से चतन्यवादी, जीव-चैतन्यवादी ही कह सकते हैं।"[1]

पंतजी की काव्य-साधना के जटिल, विरोधाभासपूर्ण विकास और उनके दार्शनिक दृष्टिकोणों की असंगति एवं 'सार-संग्रह वृत्ति' के कारण भारतीय साहित्य-शास्त्रीय क्षेत्र में उनकी साधना एवं विचारधारा के स्वरूप के विपय में पराकोटि का परस्पर विरोधी मूल्यांकन हुआ और अतिभिन्न मत प्रदर्शित हुए। कुछ-सीमा तक इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि भिन्न-भिन्न साहित्यिक धाराओं एवं प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि, भारत के एक अग्रणी आधुनिक कवि को अपने सहयोगी एवं समविचारक के रूप में देखना चाहते हैं और इसी प्रयास में उन ठोस परिस्थितियों और समस्त परस्परविरोधी सामाजिक ऐतिहासिक स्थितियों तथा वर्ग-सम्बन्धों की उपेक्षा करते हैं जिनसे, अपने वर्ग के हितों को अभिव्यक्ति देने वाले कवि के रूप में, पंतजी के जटिल क्रमिक विकास का स्वरूप निश्चित होता

१. सुमित्रानन्दन पंत, 'काव्य-कला और जीवन-दर्शन', पृ० २५२।

है। इस प्रकार कई प्रगतिशील साहित्यशास्त्री पंतजी की विचारधारा की असंगतियों की ओर आँखें मूंदकर निरपवाद रूप से प्रगतिवादी लेखकों में उनकी गणना करते हैं।

उदाहरणार्थ, पंतजी के विषय में श्री शिवदानसिंह चौहान की कुछेक कृतियों में इसी प्रकार का दृष्टिकोण प्रकट हुआ है। कभी-कभी इसके विपरीत धारा भी देखने को मिलती है—पंतजी को जैसे मार्क्सवाद से 'सुरक्षित' रखने का और यह दिखाने का प्रयत्न किया जाता है कि उन पर मार्क्सवाद का या तो तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा है और यदि कुछ प्रभाव पड़ा है, तो वह ऋण प्रभाव ही रहा है, जिससे उनकी कलात्मकता में कुछ घटाव ही हुआ है।

कभी-कभी पंतजी की विचारधारा को कृत्रिम रूप से पश्चिम के बुर्जुआ आदर्शवादी दर्शन से, जिसमें फ्रांसीसी दार्शनिक आंरी बर्गसाँ (१८५६-१६४१) के प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण भी सम्मिलित हैं, संबद्ध करने के प्रयत्न भी देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ, 'बापू' ('युगवाणी' संग्रह) शीर्षक कविता से पंतजी के यह शब्द उद्धृत कर कि "भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान, जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन आम्लान!" श्री दि० के० बेडेकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "प्राचीन भारतीय दर्शन के 'ब्रह्म-चैतन्य' तत्त्व को यद्यपि पंतजी ने छोड़ दिया है, तथापि उसके स्थान पर उन्होंने 'जीव-चैतन्य' को आधुनिक यूरोपीय चैतन्यवादी दर्शन का, विशेषकर बर्गसाँ के जीव-चैतन्यवाद (वाइटलिज्म) का अनुसरण किया है।"[१]

बर्गसाँ और पंतजी के बीच सम्पर्क बिन्दु खोजने के उपरोक्त जैसे प्रयत्नों की निराधारता अति स्पष्ट है। यहाँ अलग-अलग स्थितियों एवं विचारों की बाह्य समानता के पीछे मूलभूत दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं वास्तविकता के मूल्यांकन का गम्भीर सैद्धान्तिक भेद छिपा हुआ है। गहरा मानवतावाद, आशावादी दृष्टिकोण, काव्यसाधना की राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन तथा सभी समसामयिक प्रगतिशील प्रवृत्तियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण भाव, जो कि पंतजी की कविता की अंगभूत विशेषताएँ हैं, इनमें और बर्गसाँ के प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोणों में तनिक भी समानता नहीं है। बर्गसाँ के दृष्टिकोण तो आधुनिक बुर्जुआ दर्शन एवं समाज-शास्त्र की सभी सम्भव पतनशील, लोकतंत्रविरोधी प्रवृत्तियों के लिए संवर्द्धनभूमि का काम देते हैं।

साथ-साथ उन भारतीय ग्रन्थकारों से भी सहमत होना उचित नहीं है जो मानते हैं कि 'ग्राम्या' संग्रह में पंतजी ने मार्क्सवादी भूमिका से प्रस्थान कर दिया है। इसमें कोई शक नहीं कि 'ग्राम्या' संग्रह पंतजी की कविता में तथ्योद्घाटन की बढ़ती हुई शक्ति का स्पष्ट साक्षी है। उसमें कवि की आलोचनात्मक दृष्टि पैनी

१. वही, पृ० २५०।

हो गई है जिससे वह सामाजिक अन्याय को देख पाता है। उसमें वास्तविकता के साथ कवि का सम्बन्ध अधिक विस्तृत और गहरा हो गया है।

'ग्राम्या' संग्रह में पंतजी का काव्यनायक मानवतावादी मनुष्य का प्रतीक है। वह गहरे सामाजिक अन्याय को सह लेता है, पूर्ण जीवन के स्वप्न देखता है। श्रमजीवी कृषक वर्ग की दयनीय दशा के प्रति गहरी सहानुभूति रखते हुए, शोषण, अंधकार एवं अज्ञान से मुक्त समाज के अपने प्रिय आदर्शों को साकार रूप न मिलने से वहुत व्यथित होते हुए भी पंतजी का काव्यनायक एक निष्क्रिय स्वप्न-दर्शी ही रह जाता है; वह अभी भी सामाजिक जीवन की यथार्थ प्रक्रियाओं को समझ पाने से काफी दूर है और ऐतिहासिक विकास के चित्र के विषय में उसकी समझ-वूझ अभी धुंधली ही है। पंतजी की कविता में निश्चित आदर्श के अभाव के कारण यद्यपि उनके द्वारा प्रदर्शित निषेध जीवन की तथ्यपूर्णता तथा आंतरिक शक्ति से वंचित ही रहा है तथापि यह भी उतना ही सही है कि वास्तविकता की घटनाओं के मूल्यांकन के विषय में आशावादी दृष्टिकोण के कारण पंतजी में नाटकीय शोकपूर्णता और जीवन-विषयक दुःखमय वेमेल के मनोभाव की जीत कभी नहीं हो सकी है। उस समय के वहुत से भारतीय कवियों में ये मनोभाव वहुतायत से विद्यमान थे।

'ग्राम्या' संग्रह की प्रायः प्रत्येक कविता में नए, पूर्ण जीवन के आगमन की अनिवार्यता और उज्ज्वल भविष्य में विश्वास का स्वर सुनाई देता है। कवि के अनुसार यह उज्ज्वल भविष्य तभी साकार होगा "जव जन-जन में प्रेम के भाव जागृत एवं विकसित होंगे—ये वे भाव हैं जो जीवनदायिनी रसधारा की तरह सभी जनों की आत्माओं को धोकर शुद्ध करेंगे और उनमें सच्ची मानवता की ज्योति जगाएँगे" ('आवाहन')। 'अहिंसा' शीर्षक कविता में पंतजी पुकार उठते हैं कि "विश्व का आधार प्रेम ही तो है!" यहाँ पंतजी के दृष्टिकोण रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सौन्दर्य-विषयक आदर्शों से पूर्णतया मिलते हैं। रवीन्द्रनाथ मानते थे कि "प्रेम परमसुख है जिसे मानव प्राप्त कर सकता है। केवल उसके कारण ही वह वस्तुतः जानता है कि वह अपने-आपसे कुछ अधिक है और विश्वव्यापी 'मैं' से कोई समानता नहीं रखता।"[१]

पंतजी का यह दृष्टिकोण कि प्रेम ऐसी उच्चतम भावना है जो विश्व को व्याप्त किए हुए है और उसे शासित करती है, इस वात की साक्षी है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह पंतजी भी मध्ययुगीन वैष्णव काव्य से प्रभावित हुए हैं—कवि ने स्वयं भी इस विषय में अनेक वार कहा है। उदाहरणार्थ :

आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग-युग की होना है नव निर्मित,

१. र० ठाकुर, 'साधना', मास्को, १९१७, पृ० ३६-३७।

विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्ययुगों की नैतिकता को मानवता में विकसित।

यह सही है कि मानवता को शुद्ध करने, जीवन के सभी दुर्भाग्यों एवं भारों से उसे मुक्ति दिलाने और नए पूर्ण समाज की सृष्टि करने का एकमेव साधन प्रेम ही है, इस विचार का समर्थन करते हुए पंतजी की विचारात्मक भूमिका में अस्पष्टता एवं अनिश्चितता तथा मानवतावादी आदर्शों में भावात्मकता उत्पन्न हुई है। यह इस बात का प्रमाण है कि पंतजी पर अहिंसा का, गांधीवादी अविरोध एवं आत्मसुधार के विचारों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। 'ग्राम्या' संग्रह की कई रचनाओं में शोषकों के विरुद्ध संघर्ष की आवश्यकता की स्वीकृति के स्थान में हमें ये विचार देखने को मिलते हैं।

फिर भी ऐसी मान्यताओं से सहमत नहीं हो जाया जा सकता कि उक्त-संग्रह में पंतजी गांधीजी के सुसंगत समर्थक के रूप में खड़े हैं। यह सच है कि संग्रह में गांधीजी 'पूर्ण पुरुष', 'मुक्त जनों के भावी समाज के अग्रदूत', 'नव संस्कृति के निर्माता' और 'युग-युग की संस्कृतियों के सार ग्राहक' के रूप में हमारे सामने आते हैं ('महात्माजी के प्रति')। लगता है कि कवि को गांधीजी के उस चरखे की शक्ति में पूर्ण विश्वास है, जो भारत के आर्थिक-सामाजिक विकास की समस्त जटिल समस्याओं को हल कर सके। उदाहरणार्थ, 'चरखा गीत' शीर्षक रचना में पंतजी गांधीजी की प्रसिद्ध काल्पनिक धारणाओं को दुहराते हैं। वह कहते हैं कि बुनकर का श्रम भारतीय जनता को दारिद्र, अंधकार एवं सांस्कृतिक पतन से मुक्ति दिलाकर मातृभूमि को सुख एवं विकास की प्राप्ति कराएगा और भारी यांत्रिक उत्पादन नहीं, अपितु चरखा ही वह सच्चा साधन है जिससे भारत का आर्थिक विकास होगा, समाज ऊपर उठेगा और समस्त बुराइयों, दोषों एवं भ्रांतियों से मुक्त होगा।

पर 'सूत्रधर' जैसी रचनाएँ, जो कि आधुनिक यंत्र के वास्तविक स्तुतिगीत जैसी लगती हैं, गांधीवादी दृष्टिकोणों को तथ्यतः अस्वीकार करती दिखाई देती हैं। उक्त रचना में मानव के कुशल करों और शक्तिशाली बुद्धिमत्ता द्वारा निर्मित यंत्रों की प्रशंसा की गई है :

तकली, चरखे, करघे से अब आधुनिक यंत्र,
तुम बने, यंत्र बल पर ही मानव लोकतंत्र
स्थापित करने को अब मानवता का विकास
यंत्रों के संग हुआ, सिखलाता नृ-इतिहास !
जीवन सौंदर्य प्रतीक यंत्र : जन के शिक्षक
युग क्रान्ति प्रवर्तक औ' भावी पथ के दर्शक !
वे कृत्रिम, निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित,

मानव भी यंत्र, विविध युग स्थितियों में वर्धित !
दार्शनिक सत्य यह नहीं—यंत्र जड़, मानव कृत
वे हैं अमूर्त : जीवन विकास की कृति निश्चित !

उक्त प्रकार की रचनाओं में से इस विषय में शंका स्पष्ट रूप से झाँकती दिखाई देती है कि गांधीवादी विचारों पर निर्भर रह मानव को जकड़कर रखने वाली शृंखलाएँ तोड़ दी जा सकती हैं ('बापू')। फिर कवि भगवान से प्रार्थना करता है कि वह धरती पर के जनों के लिए स्वर्गीय जीवन की सृष्टि करे और उसमें उच्च मानवतावादी आदर्शों को दृढ़मूल बना दे ('विनय')। कवि का कोमल हृदय जीवन के कठोर सत्य को सह नहीं पाता, उसे जन की पीड़ाएँ अपार एवं सामाजिक संघर्ष हल न होने वाले अनुभव होने लगते हैं। पर इस स्थिति में भी निराशा की बोझिल भावना उस पर अधिकार नहीं कर पाती। प्रचलित व्यवस्था के प्रति असंतोष पंतजी को संसार के पुनर्निर्माण के लिए प्रयत्नशील बनाता है। और यहाँ कवि ठोस, वास्तविक संसार से हटकर एक निराले, सुन्दर जीवन के काल्पनिक एवं रहस्यमय चित्रों की सृष्टि करता है ('स्वप्नपट', 'रेखाचित्र', 'स्वप्न और सत्य', 'दिव्य स्वप्न', 'खिड़की से')। वह निशाकालीन नभ को निहारता है और उसकी आलोकित दृष्टि के सम्मुख अचानक ऐंद्रजालिक दृश्य आ जाते हैं। चंद्रिका का आलोक उसे अविनश्वर, अविसर्जनीय परमात्म-प्रकाश-सा लगता है जो समस्त आसमंत को पार्थिव सृष्टि के जीवन एवं आनन्द से परिपूरित कर देता है ('रेखा चित्र')। कवि एक हलकी-सी नौका पर चढ़कर नैश गंगा पर विहार करने निकलता है और उसे लगता है कि जिस प्रकार जल में आकाश प्रतिबिंबित होता है, ठीक उसी प्रकार धरती पर का जीवन परमात्मा की सर्वव्यापिनी दिव्य सत्ता की प्रतिच्छाया या माया ही तो है। वह तटों पर दृष्टि डालता है। ये तट चंद्र प्रकाश से जगमगा रहे हैं और वहाँ क्षणजीवी स्वप्नों की तरह ऐंद्रजालिक चित्र उभर रहे हैं। वहाँ कवि देखता है वनदेवताओं के मनोहर प्रासाद जिनके चतुर्दिक् नैश छायाओं, वायुओं तथा वनपरियों का समूह-नृत्य चल रहा है। इन्होंने महीन, श्वेत साड़ियाँ पहन रखी हैं। नैश वन के सिरे पर वे पुष्प चयन में व्यस्त हैं। कवि मंत्र-मुग्ध-सा होकर नैश प्रकृति का शांत संगीत सुन रहा है। वह इस संसार से लौट कर नहीं जाना चाहता। सुन्दर प्रकृति उसे अपने रहस्यमय सौन्दर्य से आकर्षित एवं मोहित किए हुए है। 'दिव्य स्वप्न' की ये पंक्तियाँ देखिए :

वहीं कहीं, जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ,
मानव जगत के क्रंदन से छुटकारा पाऊँ।
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ।
अपने चिर, स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ।

फिर क्षण ही भर में कवि के मन में कठोर वास्तविकता से दूर छिपकर

रहने, ऐंद्रजालिक स्वप्न-सृष्टि में रम जाने और हृदय-प्रिय प्रकृति के आलिंगन में लीन हो जाने की इच्छा उत्पन्न होती है। प्रकृति उसके उर को सदा ही नई शक्तियों एवं आशाओं से परिपूर्ण करती रहती है। स्वप्न-सृष्टि के कल्पनारम्य, पारदर्शी चित्रों के बीच में से वास्तविकता की रूपरेखा उभर आती है। स्वप्न तक में कवि अपने देशबंधुओं के कष्ट एवं दुःख को भुला नहीं सकता। वह धरती पर भविष्य के नए संसार की स्थापना के स्वप्नों में मग्न हो जाता है। उसके सम्मुख नई मानवता खड़ी हो जाती है जिसे अब भूख तथा युद्ध के कष्टों का सामना नहीं करना पड़ता, जो स्वयं प्रथम सृष्ट प्रकृति के समान ही महान् तथा मनोहर है। वह देखता है कि नए संसार में विनाश तथा बल-प्रयोग की कृष्ण शक्तियों के स्थान में मानवता के उच्चतम नियमों का शासन होगा। अब कहीं भी रोदन-आक्रंदन नहीं सुनाई देता—सुनाई देती हैं केवल हास्यध्वनियाँ एवं आनन्द भरे गीत। मानवता उस तमस से मुक्त हो जाती है जिसमें वह युग-युग से कष्ट सहती आई थी। सारी प्रकृति में प्रसन्नता भर जाती है। जन-जन के साथ चंद्र-सूर्य नाच उठते हैं, तारे समूह-नृत्य करने लगते हैं, समय से पहले ही सौरभ-बहुल सुमन विकसित होते हैं, ग्रामों एवं नगरों का स्वरूप बदल जाता है, जन-जीवन में अभाव एवं दुःख का नाम तक नहीं रहता ('स्वप्न और सत्य')।

नव जीवन विषयक ताने के साथ-साथ 'ग्राम्या' में मातृभूमि विषयक भरनी को हम देखते हैं। पंतजी के काव्य में मातृभूमि का विषय पहली बार 'ग्राम्या' ही में आया है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के उभार के साथ ही इस विषय पर कवि का ध्यान आकृष्ट हुआ।

बीसवीं शताब्दी के पहले दशकों की हिन्दी कविता में मातृभूमि के रूपांकन में दो प्रवृत्तियाँ दिखाई दीं। एक का आधार थी सच्ची वास्तविकता और दूसरी की नींव थे मातृभूमि के भविष्य के विषय में स्वच्छन्दतावादी स्वप्न। पंतजी की विशेष शक्ति यह रही कि वह इन दो प्रवृत्तियों के बीच की खाई को पाट सके। पंतजी की कविता में मातृभूमि की प्रतिमा की यही विशेषता है कि उसमें जीवन एवं कल्पना, भारान्वित वर्तमान, महान् अतीत तथा अवश्यंभावी उज्ज्वल भविष्य का अभिन्न संगम हुआ है। 'भारत माता' शीर्षक रचना में हमारे सम्मुख संतान की चिंता से भारान्वित कृषक नारी की प्रतिमा आती है जो मातृभूमि का ही प्रतीक है: अपने धूल भरे, मैले और आँसुओं से तर आँचल का सहारा देकर वह तीस कोटि अर्धक्षुधित, अशिक्षित, अभागी संतान को प्रतिकूल वातावरण से बचाना चाहती है। उसके आँसुओं के कारण गंगा-जमुना का जल सलौना हो जाता है, आँखें उसकी पथराकर निर्जीव हो गई हैं, दुःख एवं दारिद्र के कारण उसकी चितवन जड़ित, अपलक एवं नत हुई है, युग-युग के तम से मन विषण्ण हुआ है, उसकी आनन श्री छाया-शशि उपमित है, और चिंतित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित है…

वह अपने घर में प्रवासिनी बनी हुई है···पर यही अभागिनी नारी किसी समय गौरवशालिनी एवं अति मनोहारिणी थी। 'भगवद्गीता' उसी की संतान की देन रही है। पर इस समय उसको लूट लिया गया है, अपमानित किया गया है और अपने ही गृह से बाहर कर दिया गया है :

स्वर्ण शस्य पर-पद-तल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित
राहु ग्रसित,
शरदेंदु हासिनी !

इधर इस तमोमय चित्र को जैसे उज्ज्वल आशा की धारा चीर जाती है। अपनी क्षुधित संतान को भारत माता अहिंसा का सुधोपम स्तन्य पिलाती है जो जन-मन-भय एवं भव-तम भ्रम को दूर करता है।

यह आशावादी धारा पंतजी की एक और देशभक्तिपूर्ण रचना 'राष्ट्र गान' में अधिक विकसित हुई है। यह रचना आनन्दोल्लास एवं उत्सव भावना से ओत-प्रोत है। इसके द्वारा कवि नव युग के आगमन का स्वागत करता है। जनवरी १९४० में वह जैसे १९४७ की महान् भारतीय घटना का अर्थात् भारतीय स्वतंत्रता का पूर्वाभास पाता है। कवि को लगता है कि तमस अब तितर-बितर हो गया है और बहुपीड़ित भारत भूमि पर नवयुग की ऊषा का उदय हो चुका है। आनन्दमयी उत्तेजना ने कवि को जैसे घेर लिया है। वह जाग्रत भारत राष्ट्र का स्तुतिस्तोत्र गाता है—उस भारत का जो उत्तुंग हिमवत् उन्नत होना चाहता है। वह भारत के तिरंगे ध्वज का गौरवगीत गाता है और भारतीय जनता से एकता का आवाहन करता है।

नव युग के आगमन का स्वागतोत्सव जन-जन के साथ समस्त प्रकृति भी मनाती है। श्वेत सिंधुतरंगें आदर से नतमस्तक होती हैं, पवन अपने पंखों पर सुमन सौरभ से आती है, चन्द्रमा आनन्द से मुसकराता है, कोकिला कल कूजित सुना देती है, चारों ओर सुख-समृद्धि का सागर-सा लहरा उठता है, जिससे सांप्रदायिक एवं धार्मिक पूर्वाग्रह, वैमनस्य और रूढ़िगत आचार घुल जाते हैं, धरती पर सर्वव्यापी मानवता की नई भावना का डंका बजता है। अहिंसा के पूर्णतम शस्त्र से जनता उत्पीड़कों को पराजित कर विजयपताका फहराती है। यह पताका नवयुग की प्रभात किरणों के रक्त वर्ण से जगमगाती है।

इस रचना में पंतजी की देशभक्तिपूर्ण भावना पर स्पष्टतया अभिव्यक्त सामाजिक रंग का विशिष्ट पुट है। गांधीवादी आदर्शों की साकारता में वह मातृ-भूमि की भावी सुख-समृद्धि का आश्वासन देखते हैं। पर साथ-ही-साथ यद्यपि कवि अहिंसा सिद्धान्तों की अटलता की घोषणा करता है तथापि हमें लगता है कि विजय-

ध्वज का रक्त वर्ण मातृभूमि की स्वतंत्रता के संघर्ष में जनता द्वारा बहाए गए रुधिर ही का प्रतीक है।

'ग्राम्या' संग्रह की रचनाओं में कवि द्वारा यद्यपि कठोर वास्तविकता सच्चाई के साथ वर्णित है तथापि इससे आशावादी धारा का स्वर दब नहीं सकता, दुःख एवं पीड़ा से मुक्ति पाने की आशा एवं विश्वास को धक्का नहीं लगता। श्री शमशेर बहादुर सिंह के शब्दों में "कवि ने अपनी रचनाओं में हिंसा और अमंगल को स्थान नहीं देना चाहा है, क्योंकि हमें सबल उद्गार चाहिए, करुणा, रोदन और चीत्कार नहीं। इनका तो अर्थ होगा, कवि के शब्दों में अगर कहूँ : 'केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना'।"[1] इस प्रकार 'ग्राम्या' संग्रह की रचनाओं में वैचारिक भूमिका के विषय में विशिष्ट असंगति के होते हुए भी आम तौर पर पंतजी ने औपनिवेशिक शासन से भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व के युग की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को वाणी दी है। धीरे-धीरे जन-जीवन के अधिकाधिक निकट आने के फलस्वरूप ही पंतजी के वैचारिक-सौन्दर्यात्मक आदर्शों का विकास हुआ है। यह विकास-प्रक्रिया, जन-वेदना के प्रति सहानुभूति और जन के दुःख को हलका कर देने की हार्दिक इच्छा कवि की सृजनशक्ति को यथार्थवादी मोड़ देने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

---

१. देखिए 'सुमित्रानंदन पंत की काव्यकला और जीवन-दर्शन' नामक ग्रन्थ में शमशेर बहादुरसिंह का लेख, पृ० २२३।

७

स्वच्छंदतावादी शैली से यथार्थवादी शैली की ओर

वर्तमान शताब्दी के चतुर्थ दशक के पंतजी के गीत-मुक्तकों में उनकी विचारधारा स्पष्टतया प्रकट हुई है। काव्यसाधना के प्रारंभिक काल में अपनाए गए वैयक्तिक मनोभावों पर विजय पाकर कवि ने ऐसी रचनाओं का सृजन किया जो जनता के भाग्य से संबंधित विचारों से ओतप्रोत रहीं। श्री अरविंद ने लिखा है : "तीसरे दशक के हिन्दी कवियों में पंतजी सबसे अधिक जनता के निकट रहे और उन्होंने युग की आत्मा को ठीक अभिव्यक्ति दी।"[१] 'युगवाणी' और विशेषकर 'ग्राम्या' नामक संग्रहों में यह युग की आत्मा और भारत के सामाजिक विचार के विकास का नया चरण प्रतिबिंबित है। समस्त आधुनिक हिंदी कविता के विकास में इनका विशेष महत्त्व रहा है। पंतजी की इन रचनाओं के साथ कविता के लोकतंत्रीकरण के नए सिद्धांतों, काव्यशैली, काव्यभाषा और आधुनिक हिंदी कविता के सभी ललित रूपांकन-साधनों का परिवर्तन संबद्ध है।

छायावादी कविता के सभी ललित एवं भाषिक साधन नई कल्पनाओं, नए विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्णतया असमर्थ सिद्ध हो गए थे। स्वयं पंतजी ने भी कई बार यह विचार प्रकट किया है :

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुझे क्या अलंकार।

'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में कवि ने रूपांकन के नए उपकरण खोजने की चेष्टा की है। 'उत्तरा' नामक संग्रह की प्रस्तावना में वह लिखता है : "मैंने 'युग-

१. अरविंद, 'पंत की काव्य-साधना', पृ० १४३।

वाणी' एवं 'ग्राम्या' आदि रचनाओं में भौतिक समतल की वात की है।"[1] 'युगवाणी' संग्रह की आरंभ की कविताओं में से एक 'नव दृष्टि' शीर्षक कविता है जिसमें कवि ने जैसे सौंदर्य-विषयक अपना नया कार्यक्रम ही प्रस्तुत कर दिया है :

खुल गए छंद के वंध,
प्रास के रजत पाश,
अव गीत मुक्त,
औ' युग वाणी वहती अयास !
वन गए कलात्मक भाव,
जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम !

"छायावाद अव हमें केवल आभरण या मात्र अलंकृत संगीत-सा लगता है," पंतजी लिखते हैं : "आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राण-तत्त्व से रसमयी होगी, नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालंकार और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौंदर्यमयी होगी।"[2]

कविता के रूप के क्षेत्र में अपने नव अन्वेषण की नींव डालते हुए भी पंतजी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' नामक संग्रहों की भाषा एवं शैली में कोई भेद नहीं करते और लगता है कि यह सकारण भी है। पर हमारे मत में कवित्व की दृष्टि से 'युगवाणी' की तुलना में 'ग्राम्या' संग्रह निश्चित ही इक्कीस है। श्री अरविंद ठीक ही कहते हैं कि "जिन दिनों कवि 'युगवाणी का सृजन कर रहा था, नए विचारों एवं नई कल्पनाओं से वह इतना अभिभूत था कि कभी-कभी उसके पास कविता के परिष्करण के लिए न पर्याप्त शक्ति थी और न समय ही था।"[3]

काव्य-कौशल में घटाव आने का आरोप लगाकर की गई आलोचना का उत्तर देते हुए पंतजी ने कहा था कि अब वह समय लद गया जव कबिता केवल काल्पनिक सौंदर्य के गीत गाती और मानव के संकुचित भाव एवं अनुभूति-विश्व को अभिव्यक्ति देती रहे। अव अधिक हृदयविदारक सामाजिक घटनाओं का युग आ रहा है और इनकी ठीक-ठीक अभिव्यक्ति गद्य ही में हो सकती है, क्योंकि गद्य में सर्वाधिक ध्यान विचारों पर दिया जाता है, पूर्णतम काव्य रूप के अन्वेषण पर नहीं। कवि वल देकर कहता है : "सिद्धांत, मन, वचन आदि से अधिक प्रश्रय कर्म को देता हूँ, फिर भाव और स्वप्न की अपेक्षा रूप को।"[4] स्वयं अपने द्वारा अति सूक्ष्मता

---

१. अरविंद, 'पंत की काव्य-साधना' पृ० १४५।
२. वही, पृ० १२०।
३. वही, पृ० १४३।
४. वही, पृ० १४३-१४४।

से परिमार्जित छायावादी काव्य रूप को नए आशय, विचारों एवं आदर्शों की अभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त मानते हुए कवि ने उसे निर्णयकारी रूप में अस्वीकार कर ऐसे नए रूपों के अन्वेषणार्थ धैर्यपूर्ण प्रयोग किए जो समसामयिक वास्तविकता के काव्यात्मक उद्घाटन के लिए अनुकूल हों।

आशय की संयत, सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित अभिव्यक्ति की दिशा में प्रयत्नशीलता ही 'युगवाणी' संग्रह की काव्यशैली की सर्वोपरि विशेषता रही है। इस संग्रह की कुछ कविताएँ गद्य ही के निकट आती हैं, यद्यपि उनमें भाषा की लयबद्धता अवश्य है। स्वयं पंतजी इसे त्रुटि नहीं मानते। वह तो कहते हैं कि "इस पुस्तक में मैंने युग के गद्य को (काव्यात्मक) वाणी देने का प्रयत्न किया है।"[१]

डॉ० नगेन्द्र मानते हैं कि 'युगवाणी' की काव्यशैली पर आधुनिक अंग्रेज़ी काव्य का प्रभाव पड़ा है, पर खेद है कि इस मान्यता के समर्थन में वह कोई प्रमाण नहीं देते। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के बीच तुलना करके डॉ० नगेन्द्र जो कहते हैं वह हमारी दृष्टि में आम तौर पर सही है। वह लिखते हैं: "कौन अस्वीकार करेगा कि 'युगवाणी' में आधुनिक जीवन के कुछ सिद्धान्तों की सुन्दर व्याख्या है? कौन मना करेगा कि वे सिद्धान्त अत्यन्त उदात्त और भव्य हैं? परन्तु इन कविताओं में रस नहीं है और इनका स्वाभाविक कारण केवल यही है कि नक्षत्रवासी पंत उस जीवन से दूर हैं। उन्होंने इन सिद्धान्तों को पढ़कर और सोचकर पाया, सह कर और भोगकर नहीं। इसलिए वे उनमें जीवन नहीं उँडेल सके। ये कविताएँ अधिकांश ठण्डी हैं, उनमें जीवन की चिनगारी नहीं है।[२]

इस प्रकार सौंदर्य एवं मनोहरता के आदर्श के विषय में पंतजी की परिवर्तित धारणा ने उन्हें नए काव्यात्मक अभिव्यक्ति साधनों के अन्वेषण के लिए अनिवार्य रूप से प्रेरित किया और उनके काव्य की भाषा एवं शैली जनभाषा की प्रकृति के अधिक निकट आई। हाँ, काव्य गुण में विशेष कमी को अवसर न देते हुए स्वच्छन्दतावाद से यथार्थवाद की ओर एकदम इतना तेज़ मोड़ लेना, बहुत कठिन अवश्य ही रहा। ध्यान रहे कि उस समय हिन्दी में ऐसा एक भी कवि नहीं था जिसके कविता को लोकतंत्रवादी बनाने के अनुभव से पंतजी लाभ उठा सकते। यहाँ पर यह भी कहना चाहिए कि 'युगवाणी' संग्रह में शुष्क एवं अल्पाभिव्यक्तिशील कविताओं के साथ-साथ 'दो लड़के', 'पतझर', 'मुझे स्वप्न दो', 'दो मित्र', 'नर की छाया', 'प्रकाश' आदि जैसी उच्च कलापूर्ण रचनाएँ भी संग्रहीत हैं जो हमारी दृष्टि में इस बात की साक्षी हैं कि तभी से कवि नए काव्य-रूपों के अन्वेषण की दिशा में सही पथ पर अग्रसर हो चुका था। उक्त कविताओं में उच्च सामाजिक

१. सु० पंत 'युगवाणी', पृ० १।
२. नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० १४७।

आदर्श नए, पूर्ण काव्यात्मक रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। 'ग्राम्या' नामक संग्रह में यह रूप पूर्णतर एवं अधिक विकसित हुआ है।

पंतजी की काव्यविषयक नवीनता सबसे पहले कविता को परंपरागत छंदों के चौखटे से मुक्त कराने के प्रयत्नों के रूप में रही है। उन्होंने मुक्त छंद का व्यापक प्रयोग किया है। कविता की पंक्तियों को ह्रस्व कर, परंपरागत काव्य-नियमों को तोड़ और नई तुक-प्रणालियों का उपयोग कर वह अभिव्यक्तिशीलता को सशक्ततर और वास्तविकता के अंकन को अधिक ठोस एवं स्पष्ट बना सके हैं। 'झंझा में नीम' शीर्षक कविता का उदाहरण देखिए। इसमें भीमकाय नीम जनकार्य के लिए डटकर संघर्ष करने वाले वीर का मूर्तिमान प्रतीक ही है। कविता के कुल गठन के कारण यह प्रतीक सहज स्पष्ट हो जाता है। ध्वनि संगति, लय का आरोह-अवरोह, आन्तरिक एवं अन्त्य यमक—ये ही वे महत्त्वपूर्ण साधन हैं जिनके कारण इस कविता पर एक विशेष नाटकीय रंग चढ़ा है :

> ···मरुत,-कम्प, अर !
> झूम-झूम, झुक-झुककर,
> भीम नीम तरु निर्भर
> सिहर-सिहर थर-थर-थर
> करता सर् मर्
> चर् मर् !

कविता पंक्ति की लंबाई में क्रमिक घटाव और यमक की लचक जैसे वृक्ष को तोड़ डालने में झंझा की असमर्थता पर ही बल देते हैं। नीम के अजेय बल से टकराकर झंझा की संहारकारी शक्ति टूट जाती है। क्रियाओं के मूल रूपों (जैसे 'झूमना', 'झुकना', 'थर-थर करना', 'चरमराना' आदि) की आवृत्ति से ऐसा आभास उत्पन्न होता है कि धातु के समान किसी ठोस और झनझनाने वाली वस्तु पर वायु के आघात लग रहे हों।

> वायु वेग से अविरल
> धातु-पत्र-से बज कल !

अच्छेद्य भीमाकार नीम की अखण्डनीयता काव्य-पंक्तियों के आंतरिक तुक से भी सबल हुई है। विशेषण 'भीम' और संज्ञा 'नीम' इस तुक के कारण जैसे एकाकार हो उठे हैं। 'भीम' शब्द का एक और संबंध भी यहाँ उल्लेखनीय है। यह शब्द सर्वशक्तिमान शिव एवं विष्णु से संबद्ध है और महाभारत के एक नायक वीर भीमसेन से भी।

'झंझा में नीम' शीर्षक कविता की तरह 'दो मित्र' शीर्षक कविता में भी पंतजी के प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन दिखाई देता है। कोमल, अक्षय, सुन्दर एवं प्रेरणादायिनी प्रकृति के स्थान में यहाँ हमारे सम्मुख कठोर

छटाओं में रंगी हुई प्रकृति खड़ी होती है। 'दो मित्र' की शैली और गठन के कारण पंतजी के प्रकृति-विषयक गीत-मुक्तकों का यह नया, असाधारण रंग और गहरा हो उठता है। ह्रस्व, मात्राओं की संख्या की दृष्टि से असम, उखड़ी-उखड़ी-सी और अपूर्ण-सी पंक्तियाँ भय के कुल मनोभाव, अस्पष्ट पूर्वाभास एवं अकथित प्रच्छन्न उत्तेजना को सशक्त बनाती हैं :

दोनों पादप
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े,
दीर्घ, सुदृढ़तर !

सामूहिक भावना का समर्थन अथवा यह विश्वास कि जब तक विश्वासपात्र मित्र का पक्का हाथ अपने हाथ में है तब तक मानव को किसी से कोई भय नहीं, उक्त कविता का यही प्रधान विचार है। तुक की अपने-आप में विशिष्ट प्रणाली के कारण वह सशक्त बन पड़ा है। मानो कविता के प्रधान विचार पर बल देते हुए यह तुक वैचारिक दृष्टि से चूल-का-सा काम देने वाले शब्दों को संबद्ध कर देती है। कविता के पहले पंक्ति पंचक में से केवल दूसरी और तीसरी पंक्ति ही तुकान्त हैं। यह तुक उन्हीं शब्दों पर आती है जो पूरी कविता का प्रधान विचार प्रकट करते हैं। ये शब्द हैं 'चिल-बिल' और 'मिल'। इन पर झट हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है। कविता में अग्रभूमि पर बढ़कर ये शब्द पूरी कविता के वैचारिक केन्द्र बन जाते हैं :

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन मनोहर !

छन्दान्त में आने वाला एक-सा तुक अन्त्य शब्दों को संबद्ध कर इस विचार को सशक्त बनाता है कि परस्पर उत्साह-वर्धन तथा सहायता ही वस्तुतः 'मनोहर' होते हैं और जन को 'सुदृढ़तर' एवं जीवन को 'सुखकर' बनाते हैं।

'युगवाणी' संग्रह की वे कविताएँ कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त पूर्ण हैं जिनमें पंतजी अपने दृष्टिकोणों एवं सिद्धान्तों का घोषणात्मक समर्थन करने के स्थान में भारतीय वास्तविकता के सजीव चित्रों का सृजन करते हैं, जो प्रकृति की प्रतीकात्मक प्रतिभाओं के रूप में प्रस्तुत हैं। 'झंझा में नीम', 'दो मित्र' और 'पतझर' शीर्षक कविताएँ उल्लेखनीय हैं। पंतजी जिनमें सीधी-सादी जनता का जीवन सीधे-सीधे प्रस्तुत करते हैं उन कविताओं के बारे में भी यही कहा जा सकता है।

इस दृष्टि से 'दो लड़के' शीर्षक रचना हिन्दी के समस्त आधुनिक कविता-

संसार में उच्च मानवतावादी विचारों और उत्कृष्ट काव्य-रूप का अभिन्न एकात्मकता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। सीधी-सादी भाषा और अलंकारों का लगभग पूर्ण अभाव इस कविता की विशेषताएँ हैं। पर वाह्य रूप की इस सरलता एवं गद्यात्मकता के पीछे भावों की सच्चाई एवं महान् मानवीय हार्दिकता निहित हैं। समवर्णनात्मक आरोह-अवरोह, सरल द्विचरणात्मक तुक और निश्चित लयवद्धता के फलस्वरूप इसमें शान्त, उल्लसित वातावरण सशक्त वन पड़ा है, काव्य नायक की भलमानसी भरी प्रतिमा अधिक अच्छे तथा स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है। यह नायक सहृदय एवं संवेदनशील है और कूड़े के ढेर पर उछल-कूद रहे अधनंगे गदवदे देहाती लड़कों में सीधी-सादी, भोली-भाली जनता की आत्मा की महानता को देख सकता है। 'युगवाणी' की अधिकांश कविताओं से यह कविता अपने वैचारिक-सौंदर्यात्मक आशय की दृष्टि से भिन्न है और 'ग्राम्या' संग्रह की साधारण आत्मा के बहुत निकट आती है।

पंतजी ने काव्य-भाषा के क्षेत्र में विशेष कौशल प्राप्त किया है। डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं : "पंत की काव्य-भाषा के इतिहास में 'ग्राम्या' का प्रकाशन एक घटना रही है।···पंतजी ने 'ग्राम्या' में आकर अपनी जन-कविताओं को एक सादा-सी साफ धोती पहना दी।"[१] और सचमुच ही कवि ने इस संग्रह में हिन्दी के समस्त भाषा-भंडार को प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया है।

उनके शब्द-भंडार का तुलनात्मक विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि उसमें संस्कृत के (तत्सम्) शब्दों का प्रयोग क्रमशः घटता और हिन्दी के (तद्भव) तथा अन्य भाषाओं (अरबी, फारसी, अंग्रेज़ी) के शब्दों का प्रयोग वढ़ता गया है। उदाहरण के रूप में तीन संग्रहों की, विषय की दृष्टि से निकटवर्ती, ये तीन कविताएँ ली जा सकती हैं : 'पल्लव' से 'वालापन' (१९१९), 'युगवाणी' से 'दो लड़के' (१९३७) और 'ग्राम्या' से 'गाँव के लड़के' (१९४०)। 'वालापन' शीर्षक कविता के २४० शब्दों में से १६० या लगभग ६५ प्रतिशत शब्द तत्सम हैं।[२] सारी कविता में फारसी से अपनाये गए इने-गिने शब्द ही मिलते हैं, जैसे—'प्याला', 'याद', 'रंगीन', 'स्याही'; लगभग बीस संज्ञाएँ एवं विशेषण हिन्दी के तद्भव शब्द हैं, और शेष शब्द साधारण क्रियाएँ हैं।

'दो लड़के' शीर्षक कविता के १५० शब्दों में से ७० (लगभग ४६ प्रतिशत) शब्द संस्कृत के हैं, अन्य भाषाओं से लिये गए शब्दों की संख्या काफी वढ़ गई है (अरवी के 'जल्दी', 'तसवीर', 'अकसर'; अंग्रेजी के 'सिगरेट', 'कवर' इत्यादि)।

'गाँव के लड़के' शीर्षक कविता के १०० शब्दों में से लगभग आधे शब्द

---

१. नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० १६०।

२. हमने केवल संज्ञाओं, विशेषणों, क्रियाविशेषणों तथा क्रियाओं को ही ध्यान में लिया है; सर्वनामों, विभक्तियों, अव्ययों आदि की गिनती नहीं की है।

तत्सम हैं और शेष हिन्दी के तद्भव शब्द हैं। इनमें अन्य भाषीय शब्द नहीं हैं।

'बालापन' शीर्षक कविता की भाषा को 'विशुद्ध हिन्दी' और 'संस्कृत-बहुल हिन्दी' के बीच की भाषा कहा जा सकता है। 'दो लड़के' शीर्षक कविता की भाषा को चलती हुई या 'साधारण हिन्दी' की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसमें संस्कृत और अरबी-फ़ारसी शब्दों का संतुलन-सा है और अत्यधिक सरलता के साथ-साथ सरसता एवं अभिव्यक्तिशीलता इसकी विशेषता है। और अन्त में, 'गाँव के लड़के' शीर्षक कविता की भाषा हमारी दृष्टि में फिर एक बार विशुद्ध हिन्दी के निकट आई है जिसमें पर्याप्त विस्तृत मात्रा में तद्भव शब्दों, बहुप्रचलित तत्सम शब्दों और बहुत ही सीमित मात्रा में अन्य भाषाओं से लिए गए शब्दों का प्रयोग हुआ है।

साथ-साथ यह बात भी उल्लेखनीय है कि पंतजी की भाषा एवं शैली में और विशेषकर शब्द-चयन में रचना के विषय के अनुरूप परिवर्तन होता है। जहाँ कवि ग्रामीण जीवन के चित्र अंकित करता है वहाँ वह स्वयं भी जैसे अपने नायकों की भाषा में ही बोलने लग जाता है। वह बोलचाल की सरल-सादी ठेठ हिन्दी के विशिष्ट शब्द-प्रयोगों एवं वाक्प्रचारों का बहुतायत से उपयोग करता है। यह भाषा साधारण हिन्दी के निकट आती है। इस शैली के उदाहरण के रूप में 'ग्राम्या' संग्रह की 'चमारों का नाच' शीर्षक कविता को लिया जा सकता है। इस कविता के २०० शब्दों में से लगभग दस प्रतिशत शब्द ही संस्कृत के तत्सम शब्द हैं और ये भी मुख्यतया विशेष पारिभाषिक शब्द ही हैं, जैसे 'मृदंग', 'भगवान्', 'श्लेष' इत्यादि। दस-एक या पाँच प्रतिशत शब्द अन्य भाषाओं के हैं (जैसे—फ़ारसी के 'खूब', 'ग़ुस्सा', 'ज़मींदार'; अरबी के 'फ़ौरन', 'मजलिस'; अंग्रेज़ी के 'अफ़सर' इत्यादि)। ८५ प्रतिशत से अधिक शब्द ठेठ हिन्दी के हैं।

उक्त कविता की भाषा में 'फबती कसना' आदि जैसे बोलचाल के मुहावरों का भी विशेष स्थान है। उसकी शैली की एक और विशेषता यह है कि उसमें संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग उसी रूप में किया गया है जैसा उन्हें बोलचाल की भाषा में बोला जाता है। 'ब्राह्मण' के स्थान में 'बाह्मन', 'ज़मींदार' के स्थान में 'ज़मीदार' इत्यदि। ये सभी विशेषताएँ उक्त कविता पर लोक-साहित्य का साज चढ़ाती हैं।

साथ-साथ 'विनय' जैसी इसी संग्रह की कविताओं की भाषा एकदम दूसरी है। कविता के आशय की दृष्टि से यह पूर्णतया अनुरूप है। उक्त कविता में मानव की सत्ता के विषय में धार्मिक-दार्शनिक विवेचन किया गया है, सुचारु जीवन के लिए मानवीय प्रयत्नों को अभिव्यक्ति मिली है। कवि के मत में यह सुचारु जीवन मानव-प्रेम और समस्त संसार की जनताओं को निकट लाने वाले एक रूप सांस्कृतिक आंदोलन के फलस्वरूप ही साकार हो सकता है। इस कविता के

८५ शब्दों में से ७५ या लगभग ९० प्रतिशत शब्द तत्सम हैं और हिन्दी के मात्र दस शब्द हैं (जैसे 'आज', 'घर' इत्यादि) शेष शब्द साधारण क्रियाएँ हैं।

पंतजी के मुख्यतया दार्शनिक गीत-मुक्तकों में प्रयुक्त होने वाली उक्त प्रकार की जटिल भाषा की विशेषता यह है कि उसमें संबंधसूचक अव्ययों, क्रियाओं एवं सर्वनामों का लगभग पूर्ण अभाव है। कुछ काव्य-पंक्तियों में तो वाक्य-विन्यास की दृष्टि से एक-दूसरे से संबंध न रखने वाले शब्दों की निरंतर धारा-सी बहती है :

विज्ञान ज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म,
संकल्प कर सके जन, इच्छा अनुरूप कर्म !

काव्य-शैली का परिवर्तन एक ही रचना के गठन में भी देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'दो लड़के' शीर्षक कविता का पूर्वार्द्ध देखिए। यह वास्तविकता का सजीव, सच्चाई-भरा एवं भावस्पर्शी चित्र ही है। कवि खिड़की में खड़ा है और देहाती लड़कों के खेल का सरल-सीधा दृश्य अंकित करने के प्रयत्न में शीघ्र रेखांकन करता है। यहाँ चित्र की समस्त रेखाएँ बहुत ही स्पष्ट एवं निश्चित हैं। कवि को चिन्ता केवल इस बात की है कि चित्र का ब्यौरा प्रामाणिक हो, प्रतिमा में सच्चाई हो। यहाँ अंकित दृश्य के विषय में तर्क या सोच-विचार करने के लिए उसके पास समय नहीं है। अत्यधिक सरल एवं स्पष्ट शब्दों में वह अपनी कहानी कहता है :

मेरे आंगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे-से लड़के आ जाते हैं अकसर,
नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले, पर फुर्तीले !
जल्दी से, टीले के नीचे, उधर उतर कर
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर,
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली
मासिक पत्रों के कवरों की, औ' बन्दर-से
किलकारी भरते हैं, खुश हो-हो अंदर से !
दौड़ पार आंगन के फिर हो जाते ओझल
वे नाटे छः-सात साल के लड़के मांसल !

कविता के पहले दो छंदों के ५७ शब्दों में से केवल तीन शब्द ('निधियाँ', 'सुन्दर', 'मासिक पत्र') ही तत्सम हैं; अरबी-फारसी और अंग्रेज़ी के शब्द कई हैं। व्याकरण की दृष्टि से वाक्य-विन्यास पूर्णतया सँभला हुआ है, शब्दों का साधारण

क्रम लगभग कहीं भी बिगड़ा नहीं है और संबंधसूचक अव्यय, सहायक क्रियाएँ आदि यथास्थान हैं :

मेरे आंगन में (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे से लड़के आ जाते हैं अकसर

फिर कवि देखे हुए दृश्य पर विचार करने लग जाता है। गदबदे फुरतीले लड़कों में वह मानव के पूर्णतम सौंदर्य, महानता एवं अमरत्व के दर्शन करता है। वह उस समय के स्वप्न देखने लगता है जब अंततोगत्वा धरती पर सुख, प्रेम इत्यादि से परिपूर्ण नवजीवन की सृष्टि होगी। यहाँ यकायक कविता की भाषा एवं शैली में परिवर्तन आता है। कवि इन्हें भावों एवं विचारों के अनुरूप प्रयुक्त करता है। सरलता एवं गद्यमयता के स्थान में उच्चता एवं आडम्बर आ जाते हैं, जनभाषा के शब्दों एवं वाक्‌प्रयोगों का स्थान संस्कृत के ग्रांथिक शब्द लेते हैं।

उक्त कविता के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में एक ही अर्थ प्रकट करने के लिए पंतजी ने विभिन्न शब्द-भंडारों से शब्द लिए हैं। उदाहरणार्थ, पूर्वार्द्ध में जहाँ हिन्दी के 'नंगे तन' शब्दों का प्रयोग है, वहाँ उत्तरार्द्ध में उसी संदर्भ में संस्कृत के 'नग्न देह' शब्दों का। इसी तरह हिन्दी के 'लड़के' शब्द के स्थान में संस्कृत के 'वालक' शब्द का प्रयोग किया गया है। सारांश यह कि उत्तरार्द्ध के ९३ शब्दों में से ६६ शब्द तत्सम हैं। यह लगभग ७७ प्रतिशत के बराबर है।

पंतजी की काव्य-साधना के विभिन्न चरणों में भाषा एवं शैली-विषयक माध्यमों का परिवर्तन उनकी समस्त प्रतिमांकन-विषयक विचार-प्रक्रिया से दृढ़ संबद्ध है। भिन्न-भिन्न समय पर उनके एकसे काव्य-प्रतीकों में भिन्न आशय भरा रहता है। वास्तविकता के सामाजिक सारतत्त्व की गहराइयों तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील कवि की विचारधारा का क्रमिक विकास इनमें प्रतिबिंबित होता है।

गंगा नदी का प्रतीक पंतजी का एक ऐसा प्रतीक है जो सदा ही उन्हें उत्साहित और उनकी काव्य-कल्पना को प्रभावित कर देता है। अति प्राचीन समय से लेकर आज दिन तक भारत की यह महान् नदी अनगिनत कथाओं एवं दन्तकथाओं से घिरी रही है। सब समय के कवियों ने गंगा माता के गीत गाए हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य का शिलान्यास करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पवित्र नदी के रूप में गंगाजी का वर्णन करते हुए उसे 'समस्त मातृभूमि से सम्मानित, स्वर्ग की पवित्र सीढ़ी' कहा है, जो 'जीवन के सभी कष्ट-संतापों से जन की रक्षा करती है।'

छायावादी युग के पंतजी के प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों में गंगाजी का प्रतीक सचेतन संसार के पूर्ण सौन्दर्य, अखण्ड गतिशीलता एवं नवीकरण के विषय में कवि की धारणा से अनुप्राणित है। उक्त प्रतीक का वैचारिक आशय मोहक, कल्पनारम्य

चित्रों से प्रकट होता है। उदाहरणार्थ 'गुंजन' नामक संग्रह की एक कविता में गंगा की संध्या का चित्र रंगों, प्रकाश एवं छाया की अलौकिक क्रीड़ा से ओतप्रोत है :

अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन
सब वर्ण-वस्तु से विश्वहीन
गंगा के चल जल में निर्मल
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।

'युगवाणी' संग्रह की 'गंगा की साँझ' शीर्षक कविता में सूर्यास्त का चित्रांकन करते हुए पंतजी जैसे गंगाजी के प्रतीक को काव्यात्मक ऊर्ध्वता से मुक्त करना चाहते हैं जिसके लिए उन्होंने जन-भाषा के माध्यम का प्रयोग किया है।

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश सा,
गंगा के उस पार
क्लान्त पांथ, जिह्वा विलोल,
जल में रक्ताभ प्रसार !
भूरे जलदों से धूमिल नभ—
विहग-पंख-से बिखरे—
धेनु-त्वचा-से सिहर रहे
जल में रोओं-से छितरे !
दूर क्षितिज में चित्रित-सी
उस तरुमाला के ऊपर
उड़ती काली विहग पाँति
रेखा-सी लहरा सुन्दर !

'ग्राम्या' नामक संग्रह में हमारे सम्मुख प्रयाग की संध्याकालीन गंगा का सजीव, सत्य और साथ ही अत्यन्त काव्यपूर्ण चित्र उपस्थित होता है। गंगा एवं यमुना के श्वेत एवं कृष्ण प्रवाहों के संगम के लिए प्रयाग प्रसिद्ध है, उक्त चित्र की यह झाँकी देखिए :

अब आधा जल निश्चल, पीला—
आधा जल चंचल औ' नीला—
गीले तन पर मृदु संध्यातप
सिमटा रेशम पट-सा ढीला !
ऐसे सोने के साँझ-प्रात,
ऐसे चाँदी के दिवस-रात,
ले जाती बहा कहाँ गंगा,
जीवन के युग क्षण,—किसे ज्ञात !

संध्या की तुलना नदी के गीले तन पर उढ़े मृदु पट के साथ की जाने से प्रकृति-सौंदर्य एवं नारी-सौन्दर्य का अखण्ड सम्बन्ध विशेष रूप से प्रकट होता है और इससे कवि के पहले के प्रकृति-विषयक गीत-मुक्तकों का स्मरण हो आता है। पर साथ-साथ स्वच्छंदतावादी आशय से परिपूर्ण होने के कारण गंगा के इस प्रतीक में स्पष्टतम रूप में अभिव्यक्त सामाजिक विचार भी आ जाता है। अपने वेगवान जल को सागर की ओर ले जानी वाली भारत की महान् नदी की यह प्रतिमा उन विशाल जन-समुदायों का प्रतीक है जो स्वाधीनता-संघर्ष के लिए जाग्रत होकर आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे और अपने महान् लक्ष्य की दिशा में अग्रसर हो रहे थे :

वह गंगा जन-मन से निःसृत,
जिसमें बहु बुद्बुद युग नर्तित,
वह आज तरंगित, संसृति के
मृत सैकत को करने प्लावित
दिशि-दिशि का जनमत वाहित कर,
वह बनी अकूल, अतल सागर,
भर देगी दिशि पल पुलिनों में
वह नव-जीवन की मृद् उर्वर !

पंतजी के प्रारम्भिक गीत-मुक्तकों में बहुतायत से प्रयुक्त 'इन्द्रधनुष', 'ज्योत्स्ना', 'उषा' आदि के बहुत-से स्वच्छंदतावादी प्रतीक लोप हो जाते हैं और उनका स्थान लेते हैं 'पीले पत्ते', 'टूटी टहनी', 'कंकर-पत्थर' आदि जैसे पार्थिव प्रतीक जो कवि को चतुर्दिक् की वास्तविकता का अर्थोद्घाटन करने एवं जीवन का कठोर सत्य अभिव्यक्त करने का विस्तृत अवसर देते हैं। चिर मनोहर प्रकृति के प्रतीकात्मक चित्रों के स्थान में हमें वास्तविकता की रूपरेखा दिखाई देती है जो ठोस एवं यथार्थ छवियों द्वारा प्रकट होती है : 'प्रातः की नीहारिका से आवृत गन्ने के खेतों या पाले के कारण काले पड़ रहे अरहर के फूलों' को देखिए या फिर यह देखिए :

रोमांचित-सी लगती वसुधा
आई जौ-गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली !
उड़ती भीनी, तैलाक्त गंध,
फूली सरसों पीली-पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कवि, तीसी नीली···।

अन्यत्र प्रकृति की सर्वांगपरिपूर्ण सृष्टि अर्थात् मानव-देवता के स्थान में हमारे सम्मुख उस दरिद्र वुड्ढे की मूर्ति आती है जो दुर्दशा की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचा हुआ है और मानव का रूप जैसे खो बैठा है।

'ग्राम्या' नामक संग्रह में जो वच्चे हमारे सामने आते हैं वे अपने शिशिर-पूर्व अस्तित्व का स्मरण दिलाने वाली सुगन्ध को अभी भी धारण किए हुए कोमल वासंतिक पुष्पों जैसे वच्चे या मुग्ध शिशु नहीं, अपितु ऐसे वच्चे हैं जिनके कन्धे झुके हुए, शरीर कमज़ोर और पेट फूले हुए हैं। 'कठपुतली' शीर्षक कविता में अभावग्रस्त कृषकों की रुलाई लाने वाली दयनीय दशा का वर्णन भावना-परिपुष्ट प्रतीकों के कारण अधिक प्रभावशील वन पड़ा है। कवि कहता है : ये 'मानव नहीं, जीव शापित' घोर अविद्या में मोहित हैं।

'ग्राम्या' संग्रह में नारी की प्रतिमा अंकित करते हुए पंतजी ने वर्णन-शैली का रंग एकदम वदल दिया है और भाषा के ऐसे दूसरे माध्यमों का प्रयोग किया है जिससे नारी का दुर्भाग्य स्पष्ट एवं कलात्मक रूप से प्रकट होता है। नारी की तुलना कवि कभी 'वंदिनी' से करता है, कभी 'चकित भीत हरिणी' से जो 'निज चरण-चाप से शंकित' है, या फिर 'स्थापित घर के कोने में कम्पित दीपशिखा' से। नारी की दास्यपूर्ण दु:स्थिति को ठीक-ठीक तथा अत्यंत अभिव्यक्तिशील ढंग से प्रकट करने वाला पंतजी का प्रिय रूपक है 'नर की छाया'। परिवार में और समाज में भी नारी की दु:खपूर्ण स्थिति की विषमताओं और उसके वास्तविक स्थान से सम्वन्धित वातावरण को सशक्ततर बनाने में 'जीवनसंगिनी', 'देवी', 'जननी' जैसे भावपरिपुष्ट विशेषणों और रूपकों का वड़ा हाथ रहा है।

सीधी-सादी ग्राम-नारी के वास्तविक सौंदर्य एवं नैतिक पावित्र्य पर वल देने के लिए पंतजी गुण-विशेषणों का विस्तृत प्रयोग करते हैं। ग्राम-नारी और बुर्जुआ समाज की नारी की तुलनाओं में यह विशेष रूप से देखा जा सकता है।

अभिव्यक्ति-उपकरणों के विस्तृत एवं कलात्मक प्रयोग के द्वारा कवि मोहक ग्राम-युवती की अविस्मरणीय एवं चमकीली प्रतिमा अंकित कर देता है। ग्राम-युवती को हम देखते हैं इस रूप में :

उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुंदर,
इठलाती आती ग्राम युवति,
वह गज गति,
सर्प डगर पर !
···हँसती खलखल
अवला चंचल
ज्यों फूट रहा हो स्रोत सरल,

भर फेनोज्ज्वल दशनों से अधरों के तट !
तन पर यौवन सुषमा शाली,
मुख पर श्रमकण, रवि की लाली,
सिर पर घर स्वर्ण शस्य डाली
वह मेड़ों पर आती जाती...

कवि को युवती के सिर पर धरी स्वर्ण शस्य डाली उसके घने घुँघराले बालों को शोभायमान करने वाले अलंकार-सी लगती है। पर रचना का उच्च, सानन्द स्वर यकायक टूट जाता है। संतुलित भाषा बदल जाती है, छन्दों के एक स्पष्ट, निश्चित रूप के स्थान में छोटे-छोटे, टूटे-टूटे-से वाक्य, विस्मयादिबोधक अव्यय, क्रियाओं के छोटे-छोटे सयमक रूप इत्यादि आ जाते हैं। दूसरे शब्दों में कवि द्वारा यहाँ उपयोजित शैली के माध्यम ग्राम-युवती के जीवन के बोझिल वातावरण तथा दुर्भाग्य पर बल देते हैं।

इन सब बातों के फलस्वरूप 'ग्राम्या' संग्रह की कविताओं की तीव्र यथार्थ-पूर्ण प्रवृत्ति सशक्त बन जाती है। पंतजी ने स्वयं लिखा है कि "'ग्राम्या' में मेरी दृष्टि में ग्राम्य जीवन के भावक्षेत्र के अनुरूप कलाशिल्प वर्तमान है। 'ग्राम्या' की भाषा गाँवों के वातावरण की उपज है।"[1] इस कथन से सहमत न होना असंभव है। संग्रह की अधिकांश कविताओं में जो महान् अभिव्यक्तिशीलता आई है वह कवि द्वारा हिन्दी के काव्यात्मक, भाषा-विषयक आदि सभी साधनों के भव्य भंडार के कलात्मक प्रयोग के फलस्वरूप ही आई है।

पहले के गीत-मुक्तकों की ही तरह कवि ने फिर एक बार भाव-परिपुष्ट ध्वनिचित्र की सृष्टि की है। ये ध्वनिचित्र वैचारिक आशय के उद्घाटन और भावों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में बहुत ही सहायक हुए हैं। 'धोबियों का नृत्य' तथा 'चरखा गीत' शीर्षक कविताओं में विशिष्ट लय तथा ध्वनि आवर्तनों ने काव्यात्मक अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन का काम दिया है।

'धोबियों का नृत्य' शीर्षक कविता की प्रथम पंक्ति से ही नृत्य की उत्साह-भरी लय हमें जैसे अभिभूत कर देती है। यहाँ भाषा तथा ध्वनि-विषयक सभी साधनों का एकमात्र उद्देश्य रहा है अकृत्रिम एवं आनन्दपूर्ण मनोविकास की सृष्टि। कवि की तरल श्रवण-शक्ति ने लोकसंगीत में प्रयुक्त वाद्यों की ध्वनियों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म घटाओं को पकड़ लिया है। निश्चित लय और फड़कती तुकबन्दी में जैसे हाथ और पैर के अलंकारों, घुँघरुओं एवं तालियों की झनकार ही सुनाई देती है।

पूरी कविता की ध्वनि-सम्बन्धी कील 'छन' शब्द है जो ४८ बार पुनरावृत्त हुआ है। यह शब्द अपनी ध्वनि एवं अर्थ की दृष्टि से इस रचना के कुल मनोविन्यास के लिए असाधारण रूप से अनुकूल है। 'छन-छन' एक आवृत्तिवाचक शब्द

१. सु० पंत, 'चिदंबरा', पृ० १३।

तो है ही, साथ-साथ वह 'छनना' क्रिया का मूल रूप और 'क्षण' शब्द का लोक-प्रचलित रूप भी हो सकता है। ध्वनि की दृष्टि से वह 'छन्न' और 'छनक' के निकट है :

लो, छन-छन, छन-छन,
छन, छन, छन, छन,
नाच गुजरिया हरती मन !

उक्त कविता के काव्य-संगीत में कैसी शक्ति है और कितना आकर्षण ! ढोलक की नपी-तुली 'घाघिन-घातिन', हुडुक की 'ढिम-ढिम-ढिम' और मंजीरों की रागात्मक 'खिन-खिन-खिन' थिरकती हुई नर्तिका के हाथ-पैरों में बँधे घुँघरुओं की 'छम-छम-छम' के साथ एकरूप हो जाती हैं। कविता का लगभग प्रत्येक शब्द अपने साधारण अर्थ के अलावा एक विशिष्ट ध्वनि-भार लिए हुए है। उदाहरणार्थ, 'हुडुक घुडुकता' शब्द-युग्म अपने-आप में एक कलापूर्ण ध्वनिचित्र है। इसकी सृष्टि के लिए पंतजी ने घुड़कना क्रिया का दो ह्रस्व उकार सहित विरला ही रूप प्रयुक्त किया है। ध्वनिसूचक 'ढिम-ढिम-ढिम' शब्दों के साथ-साथ उकार की चार वार और रकार की दो वार आवृत्ति के फलस्वरूप ताल-वाद्य की ध्वनि का आभास मिलता है। 'खिन' शब्द की आवृत्ति जैसे खनकते मंजीरों की ध्वनि सुनाती है।

पंतजी ने 'चरखा गीत' शीर्षक कविता में वड़ी ही भावात्मकता एवं काव्यत्मक अभिव्यक्ति का परिचय दिया है। ध्वनि एवं अर्थ की दृष्टि से एकरूप शब्दों के यथास्थान प्रयोग के फलस्वरूप यह प्रभाव विशेष रूप से उत्पन्न हुआ है। काव्य-रूप की दृष्टि से यह कविता लोकगीत का स्मरण दिलाती है। इस कविता के छः छन्दों में से प्रत्येक छन्द एक ऐसे शब्द की त्रिवार आवृत्ति से समाप्त होता है जिसके अर्थ में पूरे चरण द्वय का प्रधान विचार निहित है, साथ-साथ इस शब्द की ध्वनि चलते चरखे की ध्वनि के अनुरूप है। अर्थ की दृष्टि से प्रधान और साथ-साथ ध्वनिसूचक ये शब्द एक ही तुक-प्रणाली से सम्बद्ध हैं जिससे विचार एवं ध्वनि की दृष्टि से एक पूर्ण एवं अखण्ड शब्द-चित्र की सृष्टि होती है।

उक्त कविता के प्रथम छन्द में चलता चरखा कहता है कि जीवन की समस्त कठिनाइयों को हल करने का सवसे विश्वासपात्र एवं सरल मार्ग है—'श्रम, श्रम, श्रम'। दूसरे छन्द में वह कहता है कि वह समस्त संसार में, 'क्रम, क्रम, क्रम' उत्पन्न कर देगा। आगे वह कहता है कि आलस न करो, हिम्मत न हारो—वह पुकारता है 'थम, थम, थम'। उसका कथन है कि चरखा ही सुख-समृद्धि ला सकेगा और वही नष्ट कर देगा दारिद्रता एवं शताब्दियों का 'तम, तम, तम'। चरखे ही में देश के विकास का आश्वासन निहित है—उस आधुनिक यंत्र में नहीं जिसके लिए गर्व की बात है केवल अपना 'नाम, नाम, नाम'। अन्तिम छन्द में वह घोषित

करता है कि पवित्र, सृजनशील श्रम ही नष्ट कर देगा सारा 'भ्रम, भ्रम, भ्रम।'

इस प्रकार पंतजी 'ग्राम्या' संग्रह में वे काव्यात्मक साधन एवं माध्यम पा सके हैं जो उनके विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अत्यधिक अनुकूल रहे हैं और तत्कालीन भारतीय वास्तविकता के रूपांकन की सजीवता में गहराई ला सके हैं।

उक्त संग्रह एक और दृष्टि से भी रोचक है। इसमें पंतजी की साधना की राष्ट्रीयता विशेष स्पष्ट रूप से विकसित हुई है। कवि ने इस संग्रह में बड़े सामाजिक महत्त्व के प्रश्न उठाए हैं और अपने समय के शोषकों एवं अधिकारहीन जन-समुदायों के बीच के बड़े विरोधों को वाणी दी है। रवीन्द्र तथा प्रेमचन्दजी के चरण-चिह्नों पर चलते हुए, अपनी मातृभूमि के लिए कठिन काल में, पंतजी ने सीधे-सादे मनुष्य की, दरिद्र किसान की प्रतिमा अंकित करने का प्रयत्न किया है। उक्त काल-खंड की उनकी काव्य-साधना की राष्ट्रीयता मानव में और अपनी जनता के उज्ज्वल भविष्य में कवि के अटल विश्वास में परिणत हुई है। उपनिवेशवादी प्रतिक्रिया की मनमानी के काल में कवि ने धैर्य के साथ और खुलेआम भारतीय कम्युनिस्टों के प्रति, जो उस समय भूमिगत रहे थे, अपनी सहानुभूति की घोषणा कर दी थी।

पंतजी की काव्य-साधना के कुछ अन्वेषक कभी-कभी निःसन्देह रूप से मानते हैं कि 'ग्राम्या' संग्रह का प्रकाशन यथार्थवाद की दिशा में पंतजी के निर्णायक झुकाव का प्रमाण है। वह ऐसा भी मानते हैं कि उक्त संग्रह के प्रकाशन के उपरान्त हिन्दी की समस्त कविता ने यथार्थवादी भूमिका पर पाँव रोपा। उदाहरणार्थ, व० वालिन की पुस्तक में ऐसी प्रवृत्ति देखी जा सकती है।[१]

पर उक्त मान्यताओं से हम पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते। 'ग्राम्या' संग्रह के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पंतजी की समस्त काव्य-साधना की तरह ही इसमें भी उनकी वैचारिक भूमिका एवं सृजन प्रणाली की असंगति एवं अनिश्चितता दिखाई देती हैं। हाँ, यह सही है कि अपनी अन्य रचनाओं की तुलना में पंतजी इस संग्रह में जनजीवन के अत्यधिक निकट पहुँचे हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह यथार्थवादी वन गए।

'ग्राम्या' संग्रह में ऐसी कविताएँ हैं जिन्हें यथार्थवादी कहा जा सकता है। हमारी दृष्टि में सबसे पहले 'वे आँखें', 'वह वुड्ढा' और 'ग्राम युवती' शीर्षक कविताएँ इस श्रेणी में आती हैं। इनमें कवि ने भारतीय कृषकों की विशिष्ट प्रतिमाएँ अंकित की हैं। 'ग्राम देवता', 'ग्राम वधू' आदि कविताएँ भी, जिनमें भारतीय वास्तविकता का सच्चाईपूर्ण प्रतिबिंब अंकित है और जो सामाजिक बुराइयों का परदाफ़ाश करने की बड़ी शक्ति रखती हैं, इसी श्रेणी में पड़ती हैं।

अपनी इन श्रेष्ठ रचनाओं में पंतजी ने महत्त्वपूर्ण सामाजिक-राजनीतिक समस्याएँ प्रस्तुत की हैं। उनको द्वारा अपनाई गई प्रभावशीलता की जीवंत वस्तु-

१. व० वालिन, 'सुमित्रानंदन पंत, स्वच्छंदतावादी और यथार्थवादी', पृ० ३६-४६।

परकता और चतुर्दिक् के सामाजिक माध्यम और समस्त भारतीय वास्तविकता के साथ मानव को सम्वद्ध करने के प्रयत्न इनमें विद्यमान हैं। पंतजी की काव्य-साधना में इस प्रकार की यथार्थवादी प्रवृत्तियों का अस्तित्व कवि पर अग्रगामी विचार-धारा के फलदायी प्रभाव का, जनजीवन के साथ कलाकार के सजीव संवंध का और राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के प्रति उसकी सहानुभूति का स्पष्ट प्रमाण है। फिर भी उक्त संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि एक स्वच्छंदतावादी कलाकार के रूप में ही हमारे सम्मुख आता है। इस प्रकार वर्तमान शताब्दी के चतुर्थ दशक के अन्त में पंतजी की रचनाओं में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। पर कवि की भाववादी विचारधारा, गांधीवाद के भाववादी-मानवतावादी आदर्शों का अनु-यायित्व और प्रत्यक्ष भारतीय वास्तविकता के स्थान में अखिल मानवतावादी, नैतिक रूपांकन के प्रयत्न उक्त प्रवृत्तियों के विकास में वाधक वने रहे। वास्त-विकता के प्रति असंतोष के कारण पहले ही की तरह रूपांकन की ऐतिहासिक वास्त-विकता को क्षति पहुँची और कवि अपने भाववादी-मानवतावादी आदर्शों तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य के सम्वन्ध में काल्पनिक स्वप्नों के आधार पर वास्त-विकता का पुनर्निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील रहा। उक्त संग्रह की वहुत-सी कविताएँ ('अहिंसा', 'स्वप्न और सत्य', 'दिवा स्वप्न', 'पतझर', 'कला के प्रति', 'मनोहर कला' इत्यादि) स्वच्छंदतावादी श्रेणी में आती हैं। पर अव कवि के स्वच्छंदतावाद का स्वरूप उसकी प्रारंभिक साधना के कालखण्ड की तुलना में वहुत-कुछ परिवर्तित हुआ है, उसमें अधिक सक्रिय रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

इस प्रकार चतुर्थ दशक की पंतजी की काव्य-साधना में दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से उभर आई हैं। ये हैं स्वच्छंदतावादी एवं यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ। यही कारण है कि जब वह स्वच्छंदतावादी कवि के रूप में सामने आते हैं तब उनकी रचनाओं में स्वच्छंदतावाद की वे सभी छटाएँ विद्यमान रहती हैं जो तृतीय दशक की उनकी रचनाओं में अंगीकृत थीं, और जब वह यथार्थवादी भूमिका अपनाते हैं तब काव्य रूपांकन की समस्त साधन प्रणाली में आमूल परिवर्तन आ जाता है और वास्त-विकता का सत्य रूपदर्शन ही उसका एकमात्र लक्ष्य वन जाता है। पर इसके आगे पंतजी की काव्य-साधना में यथार्थवादी भूमिका का विकास नहीं होता। पंचम एवं षष्ठ दशकों में उनकी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ पुनः प्रभावशील वन जाती हैं।

८

पंचम दशक से सप्तम दशक तक की दार्शनिक कविता

'ग्राम्या' नामक संग्रह की रचनाएँ पूर्ण होने के उपरांत सन् १९४० के वसंत में पंतजी ने देहात से विदा ली। कालाकांकर छोड़कर वह अल्मोड़ा लौट आए और अपने भाई के घर में रहने लगे (उस समय पंतजी के भाई राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने के कारण कारागृह में थे)।

अल्मोड़े में पंतजी प्रसिद्ध कलाकार उदयशंकर के संपर्क में आए जो उस समय 'उदयशंकर संस्कृति केन्द्र' नामक नृत्य-नाट्यमंडली का संचालन कर रहे थे। उनके नेतृत्व में पंतजी ने शास्त्रीय एवं लोक-नृत्य तथा संगीत के सिद्धांतों का अध्ययन किया और अभिनय-सम्बन्धी कला सीखने के अवसर की खोज में रहे। उक्त नृत्यमंडली के साथ उन्होंने देश-भ्रमण किया। इस मंडली के क्रियाकलापों से पंतजी को बड़ी-ब्रड़ी आशाएँ थीं। उनकी यह मान्यता रही है कि भारतीय राष्ट्रीय कला को लोकप्रिय बनाने से जनता में उच्च एवं उत्कृष्ट मानवतावादी आदर्शों के विषय में जाग्रति उत्पन्न होगी और भारत की महान् सांस्कृतिक परंपरा के प्रति गौरव-भावना से उनके हृदय भरपूर हो उठेंगे। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी अपने समय में इन्हीं लक्ष्यों को सामने रखकर शांति निकेतन विश्वविद्यालय की स्थापना की थी।

उस समय पंतजी पर भारत के सुप्रसिद्ध आदर्शवादी दार्शनिक श्री अरविंद घोष (सन् १८७२-१९५०) के दृष्टिकोणों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके अपने दृष्टिकोणों से ये दृष्टिकोण बहुत-कुछ मिलते-जुलते भी थे। श्री अरविन्द के उपदेशों में पंतजी ने उन कई प्रश्नों के उत्तर खोजने के प्रयत्न किए जो उन्हें उस समय सताए हुए थे।

सन् १९४४ में पंतजी कई बार पांडिचेरी गए, जहाँ उस समय श्री अरविंद अपने आश्रम में रहते थे। वहाँ श्री अरविन्द के भक्तों एवं समविचारकों का जमघट रहता था। उस समय श्री अरविन्द ने स्वाधीनता के लिए सक्रिय राजनीतिक

संघर्ष को त्याग दिया था। उपनिवेशवादी शासन से भारतीय स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र विप्लव का समर्थन करने वाले श्री अरविन्द अब आदर्शवादी दार्शनिक एवं तथाकथित सम्पूर्ण योग के प्रचारक बन गए थे।[१]

इस असाधारण पुरुष के दृष्टिकोणों का पंतजी पर बड़ा प्रभाव पड़ा और ये दृष्टिकोण उनकी रचनाओं एवं विचारों में प्रतिबिम्बित हुए। पंतजी ने स्वयं लिखा है—"गांधीजी के संसर्ग में मुझे सदैव आत्मबल तथा आत्मविश्वास मिला है और श्री अरविंद के सम्पर्क से मेरा मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका, ऐसा मेरा अनुभव है।"[२]

भारत में पंत-साहित्य के अन्वेषकों के बीच यह मत विस्तृत रूप से प्रचलित है कि पंचम दशक के पूर्वार्द्ध में पंतजी के साहित्य में दिखाई देने वाला नया मोड़ मुख्यतया श्री अरविन्द घोष के दार्शनिक दृष्टिकोणों के उन पर पड़े प्रभाव के कारण ही सम्भव हुआ है।[३] वस्तुतः इस बात से सहमत हो जाया जा सकता है कि पंतजी की युद्धोत्तरकालीन कुछ कविताओं में तथ्यतः विभिन्न दार्शनिक विचारों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है। इनमें श्री अरविन्द घोष के आदर्शवादी दर्शन के कई पहलू भी सम्मिलित हैं। इस सन्दर्भ में श्री शिवदानसिंह चौहान ठीक ही लिखते हैं कि "'ग्राम्या' के बाद की कविताओं में मनुष्य के भावी विकास की आदर्श कल्पनाएँ, जीवन के व्यापक सत्य की उद्भावनाएँ और बाह्य और अन्तर्जीवन के समन्वय की दार्शनिक विचारणाएँ बौद्धिक चिन्तन के अतिशय आरोप के कारण निरी अमूर्त हो गई हैं।···स्वर की उदात्तता, भावनाओं की मानवीयता और भाषा की सुकुमारता के कारण इन रचनाओं को कविता चाहे कह लें, किन्तु वास्तव में वे दार्शनिक रचनाएँ हैं। कल्पना और काव्याभरण तो केवल पंत के दार्शनिक चिन्तन की अभिव्यक्ति देने के उपकरण मात्र हैं।"[४]

परन्तु युद्धोत्तरकालीन हिन्दी कविता में नई प्रवृत्तियों के विकास को—जो सबसे पहले पंतजी की कविता में उदित हुआ था—कवि पर किसी के दार्शनिक दृष्टिकोणों के प्रभाव या उसके चरित्र की वैयक्तिक विशेषताओं या फिर उसके स्वास्थ्य के बिगाड़ पर आधारित मानना, जैसा कि कुछ अन्वेषक कभी-कभी लिखते

---

१. देखिए : व० व० ब्रोदोव, 'अरविंद घोष का समेकित वेदान्त'; व० स० कोस्त्युचेन्को, 'अरविन्द घोष की कृतियों में भगवद्गीता के नैतिक विचारों की व्याख्या,' 'भारत का सामाजिक-राजनीतिक एवं दार्शनिक विचार' नामक पुस्तक से, मास्को, १९६२।
२. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ६६-६७।
३. देखिए : गोपालकृष्ण कौल, पंत की रचनाओं के तीन युग—'सुमित्रानंदन पंत—काव्य-कला और जीवन-दर्शन' नामक ग्रन्थ से, दिल्ली, १९५७, पृ० १४२।
४. शिवदानसिंह चौहान, 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष', राजकमल प्रकाशन, १९५४, पृ० ८६।

हैं, हमारी दृष्टि में उचित नहीं होगा। पंचम एवं षष्ठ दशकों की पंतजी की काव्य-साधना के विकास की विशेषताओं को तभी ठीक प्रकार से समझा जा सकता है जब यह बात ध्यान में ली जाए कि यह विकास अखिल भारतीय साहित्यिक प्रक्रिया का ही एक अंग था जिसमें भारतीय समाज के ऐतिहासिक विकास के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण के आध्यात्मिक जीवन का क्रमिक विकास प्रतिबिम्बित था। द्वितीय विश्वयुद्ध के वर्षों, युद्धोत्तरकालीन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के उच्चतम उत्थान, औपनिवेशिक शासन से भारत की मुक्ति और स्वावलम्बी जीवन की दिशा में नए स्वाधीन शासन के प्रथम चरणों के समय से यहाँ अभिप्राय है।

औपनिवेशिक शासन द्वारा युद्ध-व्यय के अधिकांश भाग को भारत के मत्थे मढ़ने के प्रयत्नों के कारण उत्पन्न भयानक दारिद्र, बुभुक्षा और बेरोजगारी, शोषक वर्गों की सम्पन्नता और साथ-साथ उपनिवेशवादियों द्वारा आतंक एवं अत्याचारों में वृद्धि—इन सबके फलस्वरूप देश की स्थिति अन्तिम सीमा तक तप्त हो गई, वर्ग-विरोध तीव्र बना और राजनीतिक एवं सामाजिक उत्पीड़न विरोधी जन-संघर्ष में अपूर्व उत्थान आया। जीवन के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों की विषमता के साथ-साथ अनिवार्य रूप से वैचारिक संघर्ष तेज़ हो गया और बुद्धि-जीवियों के बीच तीव्र वैचारिक सीमा-निर्धारण हुआ। इसके फलस्वरूप साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में विभिन्न धाराओं एवं प्रवृत्तियों का उदय हुआ, सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं के कई संघों की स्थापना हुई, जिन्होंने विभिन्न वैचारिक कार्यक्रम आगे बढ़ाए।

इन्हीं वर्षों में भारतीय साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में क्षतिपूर्ण प्रवृत्तियों का भी विकास होता गया। निराशावादी मनोविन्यासों का प्रसार, मानवतावादी दिशा का त्याग और चतुर्थ दशक के साहित्य के प्रगतिशील विचारों एवं यथार्थवादी सिद्धियों से विदाई—यही उक्त प्रवृत्तियों की विशेषताएँ थीं। भारतीय संस्कृति में इन क्षतिपूर्ण प्रवृत्तियों का विकास उस समय पश्चिम की प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ संस्कृति के बढ़ रहे प्रभाव के कारण सम्भव हुआ। पश्चिमी यूरोपीय ह्रास के प्रभाव के फलस्वरूप उन दिनों भारतीय साहित्य में प्रयोगवाद, प्रकृतिवाद तथा अतियथार्थवाद को बढ़ावा मिला। साथ-साथ परम्परागत भारतीय रहस्यवाद का पुनरुत्थान हुआ। इधर प्रगतिशील लेखकों में गुटबन्दी का प्रसार हुआ।

देहात के एकान्तवास और फिर उदयशंकर के साथ के कार्यकाल में पंतजी देश के साहित्यिक जीवन से दूर रहे। उन्होंने लिखा है : "दक्षिण भारत से चार-पाँच साल के बाद लौटने पर मुझे प्रयाग का साहित्यिक वातावरण क्षुब्ध तथा बदला हुआ मिला। तब साहित्यिक गुटबन्दियाँ जन्म लेने लगी थीं। विभिन्न विचारों एवं मतों के साहित्यिकों में परस्पर के सहयोग तथा सद्भावना का अभाव था। धीरे-धीरे आपस के असंतोष तथा मनोमालिन्य ने विरोध का रूप धारण कर

प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के शिविरों को साहित्यिक प्रतिद्वंद्विता का क्षेत्र वना दिया था और विभिन्न वादों के आधार पर संगठित पृथक् साहित्यिक संस्थाओं में विद्वेष, कटुता तथा संकीर्णता का प्रदर्शन होने लगा था। मुझ जैसे साहित्यसेवी को, जो अपने को किसी दल का अंग न वना सका, दोनों शिविरों की प्रच्छन्न अप्रसन्नता का लक्ष्य वनना पड़ा।"[1]

कुछ 'प्रगतिवादियों' के सांप्रदायिक मनोविन्यासों से पंतजी को भय लगा; पर प्रयोगवादी लेखकों की मानवता-विरोधी भूमिका उनके लिए पूरी तरह से पराई रही। हमारे कवि के पक्ष में यह कहना आवश्यक है कि वहुत से अन्य भारतीय लेखकों एवं साहित्य-शास्त्रियों से पहले वही उस संकट के लक्षणों को स्पष्ट कर सके जो पंचम दशक के पूर्वार्द्ध के भारतीय साहित्य में सिर उठाने लगा था। सवसे अधिक स्पष्ट रूप में ये लक्षण अज्ञेयजी के अनुयायी प्रयोगवादी लेखकों की रचनाओं में प्रकट हुए। इस सम्वन्ध में पंतजी ने लिखा है: "आज की नई कविता अपनी प्रयोगवादी सीमाओं को अतिक्रम करने के प्रयत्न में, नवीन मानव-मूल्यों की खोज में, सामाजिक चेतना की वास्तविकता के घनत्व से हीन एक भयानक शून्य में भटक गई है और उपचेतन व्यक्तित्व के मोहक गर्त में फँसकर ऐसे अतिवैयक्तिक छायाभासों तथा व्यक्तिगत रुचियों के भावनामूढ़ भेदोपभेदों, अति-वास्तविक प्रतीकों तथा शशक शृंग विम्वों को जन्म दे रही है जिनका मानवता तथा लोक-मांगल्य से दूर का भी सम्वन्ध नहीं।"[2]

सांप्रदायिक भूमिका पर खड़े कुछ साहित्य-शास्त्रियों द्वारा की गई अपने साहित्य की आलोचना को भी पंतजी ने अनुत्तरित नहीं रहने दिया। उन्होंने लिखा है: "आज की राजनीतिक दलबंदी में खोए हुए, पूर्वग्रह-पीड़ित आलोचकों को जव छायावाद त्रयी या चतुष्टय में, केवल मैं ही अप्रगतिशील लगता हूँ और वे सव प्रगतिशील लगते हैं जो, संभवतः तव युग-दायित्व के प्रति पूर्णतः प्रवुद्ध भी न थे, तो मैं उनका प्रतिवाद नहीं करता। मानव-जीवन के व्यापक सत्यों को चाहे वे आर्थिक हों या आध्यात्मिक पूर्वग्रह और विद्वेष की टेढ़ी-मेढ़ी सँकरी गलियों में भटकाकर, झुठलाया नहीं जा सकता, समय पर वे लोक-मानस में अपना अधिकार अवश्य स्थापित करेंगे।"[3]

भारतीय साहित्य में क्षयोन्मुख प्रवृत्तियों के उद्गम के साथ-साथ ही पंतजी जान सके कि पश्चिम की वुर्जुआ प्रतिक्रियावादी विचारधारा में भारतीय संस्कृति के लिए कितना भयानक संकट छिपा हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के काल-खंड में इस विचारधारा को भारत में प्रसृत होने का विशेष व्यापक अवसर मिला

१. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ६६-७०।
२. सु० पंत, 'चिदंवरा', पृ० १८।
३. वही, पृ० १६।

था। वे लेखक, जिन्हें वास्तविकता के सम्मुख भय ने घेर लिया था और जिन्हें अतिव्यक्तित्ववाद की छूत लगी थी, देश की स्वाधीनता में विश्वास और उज्ज्वल भविष्य की आशा खो बैठे। उन्होंने ऐसी रचनाओं का सृजन किया जो रहस्यवाद और मानववंश की भाग्यदत्त मरणाधीनता के तत्त्व से ओतप्रोत थीं। ये लेखक भारतीय बुर्जुआ बुद्धिवादियों के विशिष्ट स्तरों की विचारधारा को अभिव्यक्ति और साथ-साथ पश्चिम की पराई प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ विचारधारा के प्रसार के अनुकूल साधन का काम देते थे। युद्धोत्तरकालीन भारतीय साहित्य में पश्चिम के प्रभाव के फलस्वरूप प्रसृत हो रही क्षतिपूर्ण प्रवृत्तियों के विषय में अपने दृष्टिकोण विशेष स्पष्ट रूप से प्रकट करते हुए पंतजी ने मानो अपने साहित्य के उन आलोचकों को ही उत्तर दिया है जो उनकी कविता का ए० बर्गसाँ के दृष्टिकोणों और टी० एस० इलियट तथा उन्हीं के जैसे पश्चिमी प्रतिक्रियावादी विचारकों एवं लेखकों के साहित्य के साथ सम्बन्ध दिखाने वाले समान तत्त्व एवं सम्बन्ध-सूत्र खोजने में व्यस्त रहते हैं।

प्रगतिशील हिन्दी साहित्य द्वारा प्रेमचन्द तथा उनके अनुगामियों की कृतियों में प्राप्त की गई उपलब्धियों से मुँह मोड़कर अपने ही अंतर्जगत् में कूपमंडूक बने रहने वाले भारतीय लेखकों की पंतजी ने कड़ी आलोचना की है। उन्होंने लिखा है: "वास्तव में हमारे साहित्य में जीवन-यथार्थ की धारणा इतनी एकांगी, खोखली तथा रुग्ण हो गई है कि हमें शोषित, जर्जर और लघु मानव के रुग्ण चित्रण में ही कलात्मक परितृप्ति मिलती है। हम स्वस्थ मानवता की दिशा की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहते, क्योंकि वहाँ हम अपनी मध्यवर्गीय कुंठाओं से ग्रस्त, आत्म-पराजित, क्षुद्र, संकीर्ण, द्वेषदग्ध, काममूढ़ जीवन के लिए सहानुभूति नहीं जगा पाते, जिसे युग-जीवन तथा कला का परिधान पहनाकर दूसरों के करुणा-कण प्राप्त करने के लिए हम आत्म-विस्तार का माध्यम बनाना चाहते हैं—जो नव लेखन का दृष्टिकोण है, जो सद्यः और क्षणिक की अँगुली पकड़े हुए हैं।"···ऐसी प्रवृत्ति में "धन यथार्थ की धारणा का अभाव है—ऐसा धन या भाव यथार्थ जो आज के विश्वव्यापी ह्रास से मानव-जीवन को ऊपर उठाकर उसे शांति, प्रकाश तथा कल्याण के भुवनों की ओर ले जा सके।

प्रेमचन्दजी का यथार्थ राजनीतिक दाँव-पेंचों का यथार्थ न होकर मानवीय तथा साहित्यिक यथार्थ था। वह लघु मानव की कुंठाओं से भरा, तुच्छ, आत्मपीड़ित यथार्थ नहीं, जिसमें मनुष्य परिस्थितियों की निर्ममता को अपनी रीढ़ तोड़ने देता है और अपनी आगे न बढ़ सकने की लुंजपुंज क्षोभभरी वास्तविकता का चित्रण कर आत्मतृप्ति का अनुभव करता है। प्रेमचन्दजी का यथार्थ सामाजिक जीवन के साथ संघर्ष करता हुआ, विकासशील, आशा-क्षमतापूर्ण, मनुष्य को आगे

बढ़ाने वाला व्यापक यथार्थ था, जिसमें लोक-मांगल्य के नव अंकुरित बीज मिलते हैं।"[1]

राष्ट्रीय भारतीय साहित्य के मानवतावादी आधारों के समर्थन में पंतजी के वक्तव्यों से अनेक लेखकों को साहित्य में फिर से अपना स्थान पाने और स्वाधीनता-संघर्ष तथा सामाजिक प्रगति के हितैषी साहित्य की विजय में पुनः विश्वास जगाने में सहायता मिली।

मानव में, सद्सद्विवेक बुद्धि की उज्ज्वल शक्तियों की विजय में अपनी मातृभूमि तथा समस्त मानवता की स्वाधीनता में आशावादी विश्वास ने हमारे मानवतावादी कवि के लिए अपने साहित्य में पतनशील प्रवृत्तियों के प्रवेश के विरुद्ध विश्वासाई सुरक्षा-साधन का काम दिया। लगता है कि गहन-से-गहनतम में भी पंतजी सदा ही, हलकी भी क्यों न हों, प्रकाश-रेखाएँ ढूंढ़ ही निकालते हैं। उज्ज्वल भविष्य, मानव की स्वाधीनता एवं उसके सुख में पंतजी के अटल एवं सदैव वृद्धिशील विश्वास को कोई भी चीज़ धक्का नहीं पहुँचा सकती।

इस दृष्टि से पंचम दशक के पूर्वार्द्ध की पंतजी की रचनाओं की तुलना प्रथम विश्वयुद्ध पूर्व कवीन्द्र रवीन्द्र की उन रचानाओं के साथ की जा सकती है जो महान् जन-प्रेम से और रक्त-रंजित युद्धजनित मानव-पीड़ा के विरुद्ध निषेध से ओतप्रोत हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व, संसार पर छाए हुए घोर संकट के विषय में मानो चेतावनी देने वाले 'गीतांजलि' नामक संग्रह में रवीन्द्र ने मानव-प्रेम के लिए आवाहन किया है। सन् १९१४-१६ में उन्होंने लिखा था :

मृत्यु सागर यतन करे
अमृत-रस आनबो भरे

रवीन्द्र के ये शब्द पंतजी की बहुत-सी कविताओं में गूंजते हुए सुनाई देते हैं—उन कविताओं में जिनमें रक्त-रंजित संसार में सद्सद्विवेक बुद्धि तथा मानवतावाद की विजय में आशावादी विश्वास को अभिव्यक्ति मिली है।

पंतजी के प्रगीत-नायक को अगतिकता और अकेलेपन की भावना जैसे छूती ही नहीं, वह मानव में और दुष्ट शक्तियों तथा हिंसा पर उज्ज्वल शक्तियों की अंतिम विजय में विश्वास रखता है, मनुष्य एवं समाज की अखंड एकता का समर्थन करता है :

...मैं इस जग में नहीं अकेला
मुझको तनिक न संशय...

व्यष्टि तथा समष्टि के बीच की रागात्मक एकता के अभाव ही में कवि जीवन की अपूर्णता देखता है। वह उस समय के स्वप्न देखता है जब प्रत्येक मनुष्य

१. सु० पंत, 'चिदंबरा', पृ० १७।

की रुचियाँ समस्त समाज की रुचियों के पूर्णतया अनुरूप हो जाएँगी। उदाहरणार्थ, 'चिन्तन' शीर्षक ('स्वर्ण-किरण' नामक संग्रह से) कविता में वह पुकारता है :

बिन्दु सिन्धु ? बूंदों का वारिधि
बूंदों पर अवलंवित
व्यक्ति समाज ? व्यक्ति में रहता
अखिल उदधि अंतर्हित।

समाज, प्रकृति एवं समस्त संसार के साथ मानव का अखण्ड संबंध पंतजी की कविता में स्वर्ण-किरणों के रूप में अभिव्यक्त होता है। ये वे किरणें हैं जो तम पर विजय पाती हैं, अपने अविनश्वर, सर्वजीवनदायी आलोक से संसार को दीप्तिमान् वना देती हैं, धरती पर नवचेतना की सृष्टि कर देती हैं। यह विचार पंतजी के 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' शीर्षक दो संग्रहों का मूलाधार वना हुआ है। ये संग्रह प्रयाग में सन् १९४६ में प्रकाशित हुए थे। इन संग्रहों के रूप में पंतजी की काव्य-साधना में एक नई धारा प्रकट हुई है जिसे भारतीय साहित्यशास्त्री वहुधा 'नवचेतनावादी कविता' का नाम देते हैं।

समस्त संसार को कवि इन उज्ज्वल स्वर्ण-किरणों से आलोकित देखता है। ये वे किरणें हैं जो जनमानस में नये जीवन और सुख एवं शान्ति की पिपासा उत्पन्न करती हैं। 'जगती के मरुस्थल में स्वर्ण वालुका वरसाने वाली जीवन की सर्वविजयिनी स्वर्ण-किरणों के प्रथम उदय' के गीत गाते कवि नहीं अघाता ('स्वर्ण-धूलि')। "नव चेतना की स्वर्ण-किरणें" जन-जन को परस्पर संवद्ध कर देती हैं, पूर्ण, नव जीवन की प्राप्ति के प्रयत्न में उन्हें एकत्र कर देती हैं, जनमानस से युग-युग के पूर्वाग्रहों, तम एवं अज्ञान का झाग हटा देती हैं और संसार को वेदना, मृत्यु एवं युद्ध के चंगुल से वचा देती हैं।

पंतजी की पंचम-षष्ठ दशकों की समस्त काव्य-साधना में नव प्रभात की स्वर्ण-किरणों के प्रतीक का सूत्र अखण्ड रूप से वँधा हुआ है। वैचारिक-सौन्दर्यात्मक आशय की दृष्टि से इसकी तुलना रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'जीवन देवता' की प्रिय प्रतिमा के साथ की जा सकती है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, महाकवि ठाकुर के दार्शनिक गीत-मुक्तकों में इस प्रतिमा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जिस प्रकार कवीन्द्र के 'जीवन देवता' का, उसी प्रकार पंतजी की 'स्वर्ण किरणों' का प्रतीक अपना ठोस काव्यात्मक आशय खोकर अपने-आप में विशिष्ट एक ऐसे सेतु में परिवर्तित हो जाता है जो यथार्थ संसार को दिव्य सत्ता के साथ संवद्ध कर देता है। यही कारण है कि भारतीय आलोचना में पंतजी की नवचेतनावादी कविता और 'जीवन देवता' की धारणा से ओतप्रोत रवीन्द्र की कविता की व्याख्या एवं मूल्यांकन में वहुत ही परस्पर विरोध दिखाई देता है।

अपने देशवन्धुओं के भाग्य के विषय में अधिकाधिक गम्भीरता से विचार कर, बुर्जुआ संस्कृति का पतन देख और करोड़ों लोगों के जीवन को कौड़ी मोल वनाने वाले विश्वयुद्ध के कारण पिसे हुए संसार के दुःख से व्यथित होकर पंतजी शुद्ध भारतीय काव्य-विषयों की ही सीमा में वँधे नहीं रह सकते थे। संसार के परिवर्तन के पथान्वेषण के प्रयत्न में वह समस्त मानवता के भाग्य पर विचार करने लगे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह उन्हें भी संसारभक्षी शत्रुत्व और द्वेष मानव-प्रकृति के लिए अस्वाभाविक ही लगते हैं। वह तो यत्र-तत्र-सर्वत्र एकता, प्रेम एवं रागात्मकता देखना चाहते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही की तरह वह भी सभी मतभेदों एवं विरोधों को हल करने के लिए संघर्ष-रहित मार्ग खोजने का प्रयत्न करते हैं। 'गीतांजलि' में रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रशंसित विश्ववन्धुत्व पंतजी की कविता में 'एक विश्व-संस्कृति' का रूप धारण करता है—उस विश्व-संस्कृति का जो समस्त मानवता को एक अभिन्न सूत्र में वाँध दे।

पंतजी की पंचम दशक की कविता के वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों में सर्वोत्तमग्राहिता, असंगति और विरोधाभास उभर आए हैं जो भारतीय बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की विचारधारा द्वारा पूर्णतया अपनाये हुए थे; भारतीय समाज में उक्त वर्ग की दोमुँही भूमिका इनमें प्रतिविंवित होती थी जो गठन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण संभव हुई थी। स्वामी विवेकानन्द, गांधीजी और श्री अरविन्द घोष का अनुगमन करते हुए पंतजी ने पंचम-षष्ठ दशकों की अपनी कविता में भारतीय सभ्यता के असाधारणत्व और विशिष्ट आध्यात्मिक स्वरूप पर वल देने का प्रयत्न किया—यह सभ्यता मानो बुर्जुआ समाज के वर्ग कलहों सहित सभी असंगतियों की औषधि थी। भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारकों की तरह पंतजी ने भी अपनी मातृभूमि के आर्थिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक पतन का प्रधान कारण प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं की विस्मृति तथा पश्चिम के प्रति अंध एवं आलोचनारहित दृष्टिकोण ही को माना। उन्होंने लिखा है कि "आज संसार संघर्ष, विरोध, अनास्था, निराशा, विषाद तथा संहार से व्याप्त है…हम या तो मध्ययुगीन कुहासे में भटक रहे हैं या हर वात में पश्चिम का अंधानुकरण कर रहे हैं।"[१] इसीलिए नए जीवन-मूल्य खोजना और ऐसे मानवीय आदर्शों का समर्थन करना आवश्यक है जो जनता के लिए नव जीवन-पथ पर मार्गदर्शक तारे का काम दे सकें।

उक्त आदर्शों एवं मूल्यों के अन्वेषण में व्यस्त कवि आध्यात्मिक तथा भौतिक सिद्धांतों के रागात्मक मिलन के अपने प्रिय विचार की ओर फिर लौट आता है। उसकी दृष्टि में पूर्ण मूल्यवान एवं विकासशील जीवन के निर्माण का एकमात्र सही मार्ग यह मिलाप ही है।" आज हमें वास्तविकता एवं आदर्शों,

१. सु० पंत, 'चिदंवरा', पृ० ३३।

भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों तथा पुराने एवं नए विचारों का पुनरुत्थान करना, उनमें गहराई लाना तथा उनका मिलाप करना चाहिए···"[1] पंतजी ने 'उत्तरा' (१९४९) नामक संग्रह की प्रस्तावना में लिखा है। यह प्रस्तावना अनेक भारतीय साहित्यान्वेषकों के मन में पंत-प्रणीत 'नवचेतनावादी काव्य' के वैचारिक-सौंदर्यात्मक सिद्धान्तों का समर्थन करने वाला घोषणा-पत्र ही है।

आध्यात्मिक एवं भौतिक के मिलाप के पंतजी के प्रयत्न बहुधा अपने चतुर्दिक् के संसार में पूर्ण जीवन को साकार देखने की उनकी सातत्यपूर्ण तथा अविश्रांत आकांक्षा के रूप में प्रकट होते हैं। मनुष्य की चेतना का गठन करने वाले कलाकार के जनता के प्रति कर्तव्य के नाते अपने कर्तव्य को स्वीकार करते हुए पंतजी बल देकर कहते हैं कि साहित्य एवं कला मानव के आध्यात्मिक विकास के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन हैं। वह लिखते हैं :

मैं मुट्ठी भर भर बाँट सकूँ
जीवन के स्वर्णिम पावक कण,
वह जीवन जिसमें ज्वाला हो
मांसल आकांक्षा हो मादन !
वह जीवन जिसमें शोभा हो,—
शोभा सजीव, चंचल, दीपित,
वह जीवन जिसको मर्म प्रीति
सुख-दुख से रखनी हो मुखरित !

जीवन की सार्थकता कवि जन-मानस में सौंदर्य के उच्च आदर्शों की जाग्रति में देखता है। 'फूल ज्वाल' शीर्षक रचना में वह पुकार उठता है :

मैं फूलों के कुल में जनमा
फल का हो मूल्य जगत के हित,
उर शोभा का दे अमर दान
मैं झर, चरणों पर हूँ अर्पित !

पंतजी के अनुसार कला एवं कविता वास्तविकता के बोध के सर्वोत्तम साधन हैं। वह लिखते हैं : "मैं न दार्शनिक हूँ, न दर्शनज्ञ ही, न मेरा अपना कोई दर्शन है, और न मुझे यह लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है···अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिन सौंदर्य-क्षितिजों को छू सका हूँ, वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान् एवं सजीव लगते हैं।"[2]

जहाँ तक कला के प्रति दृष्टिकोणों का सम्बन्ध है, पंतजी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दृष्टिकोणों की समानता ध्यान में आए बिना नहीं रह सकती। रवीन्द्रनाथ

१. सुमित्रानंदन पंत, 'उत्तरा', भूमिका, प्रयाग, १९४९, पृ० २९।
२. सु० पंत, 'चिदंबरा', पृ० ३०।

ठाकुर कला को विश्व-बोध का सर्वोत्तम साधन मानते थे। वह 'विश्व के वैज्ञानिक-दार्शनिक बोध की तुलना में भावात्मक-सौंदर्यात्मक अनुभूति की श्रेष्ठता के समर्थन' के लिए प्रयत्नशील थे।[1]

पंतजी भविष्य के उन साहित्य एवं कला के स्वप्न देखते हैं जो, उनके मत में, मानवता के विकास के श्रेष्ठतम साधन सिद्ध होंगे। वह लिखते हैं : "...भविष्य की कविता अवश्य ही मानवता की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि होगी, जिसमें सौंदर्य, प्रेम, प्रकाश और आनन्द अपने क्षितिजों के पार के ऐश्वर्य को रूपबोध के सूक्ष्म सूत्रों में गूंथ सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं। अपनी अनेक सीमाओं के रहते हुए भी जो भविष्य में मिटाई जा सकती है—हिन्दी काव्य के राजपथ पर, अभी तक तो छायावाद ही, नवीन सौंदर्य मंजरियों का मुकुट लगाए, नवीन प्रकाश दिशा की खोज में, मन्द धीर गति से चरण बढ़ा रहा है, ऐसा मेरा अनुमान है।"[2]

जो काव्य-मर्मज्ञ पंतजी की कविता में रहस्यवादी तत्त्वों के अस्तित्व की प्रधानता पर बल देते हैं उनसे सहमत न होते हुए पंतजी लिखते हैं : "...मेरा काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य नहीं है, और, यदि है भी, तो प्राचीन रूढ़ अर्थ में नहीं जिसमें अध्यात्म, वैराग्य के सोपान पर, अन्न, प्राण, मन की श्रेणियों को पार कर केवल ऊर्ध्वमुख चिदाकाश की ओर आरोहण करता है...मेरी काव्य-चेतना मुख्यतः नवीन संस्कृति की चेतना है, जिसमें आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का नवीन मनुष्यत्व के धरातल पर संयोजन है। मेरा काव्य प्रथमतः इस युग के महान् संघर्ष का काव्य है...मेरी काव्य-चेतना केवल मध्ययुगीन नैतिक-बौद्धिक अन्धकार तथा जीवन के प्रति तद्जनित सीमित दृष्टिकोण से ही नहीं संघर्ष करती रही, वह भावी मानवता के पथ के बहिरंतर के दुर्गम अवरोधों से भी निरन्तर जूझती रही है।... धरती के जीवन से भगवत् सत्ता को पृथक् कर, लोक-मानवता के बदले किसी कल्पना या सिद्धि के मनःस्वर्ग में, ध्यान धारणा के शिखर पर ईश्वर साक्षात्कार की भावना को सीमित करना, भविष्य की दृष्टि से, मुझे कृत्रिम और अस्वाभाविक लगता है।...मेरी दृष्टि में भू-जीवन को भगवत् जीवन बनाने के लिए हमें कहीं ऊपर नहीं खो जाना है, प्रत्युत जीवन-आकांक्षाओं का पुनर्मूल्यांकन कर विगत मूल्यों को अधिक व्यापक बनाना है।"[3]

पंतजी के ये शब्द एक साधारण घोषणा मात्र नहीं, प्रत्युत पंचम-षष्ठ दशकों की उनकी काव्य-साधना के वैचारिक आधार ही हैं। इनमें श्री अरविन्द घोष के उपदेश की प्रतिध्वनि सुनाई दिए बिना नहीं रहती। इस उपदेश का सार

---

१. अ० द० लितमान, 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दार्शनिक दृष्टिकोण', 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर—जन्म शताब्दी के निमित्त' नामक ग्रन्थ से, मास्को, १९६१, पृ० १००।

२. सु० पंत, 'चिदम्बरा', पृ० १८।

३. वही, पृ० २८, २९।

है भौतिकवाद एवं आदर्शवाद, बुद्धिवाद एवं रहस्यवाद तथा एकेश्वरवाद एवं अनेकेश्वरवाद के बीच समन्वय का प्रयत्न। 'उत्तरा' नामक संग्रह की प्रस्तावना में भौतिकवाद की आलोचना करते हुए पंतजी ने भी अरविन्द ही की तरह भौतिकवाद का एकांगी बोध ही ग्रहण किया है।

श्री अरविन्द की तरह पंतजी भी ऐसी प्रणाली स्थापित करना चाहते हैं जिसमें सभी विरोधपूर्ण विभिन्न वैयक्तिक दृष्टिकोणों का संश्लेपण हो सके। आदर्शवादी दार्शनिक श्री अरविन्द के इस विचार से पंतजी तत्त्वतः सहमत हैं कि असंगतियों का समन्वय ही प्रकृति का वस्तुपरक लक्ष्य है और आधुनिक संस्कृति की संकटपूर्ण स्थिति का कारण यही है कि उसमें सहमति, एकता एवं परस्पर सम्वन्ध का अभाव है। पंतजी लिखते हैं: "मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्ग-सन्तुलित) जनतंत्र तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श-संयोग मानता हूँ...मैं स्वामी विवेकानन्द के सार-गर्भित कथन 'मैं यूरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ' की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ।"[१] इस प्रकार का भोला-भाला काल्पनिक दृष्टिकोण भारतीय वुर्जुआ बुद्धिजीवियों के बीच विस्तृत रूप से प्रचलित दृष्टिकोणों ही का प्रतिविंव है—उन बुद्धिजीवियों के जिनके पास न स्पष्ट वैचारिक कार्यक्रम था और न दार्शनिक आधार ही। वे तो परस्परनिषेधकारी दार्शनिक सत्यों एवं विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्तों के समन्वयार्थ प्रयत्नशील थे।

आदर्शवादी विचारधारा तथा प्राचीन भारतीय परम्पराओं में असीम विश्वास ने सामाजिक सम्वन्धों की सारी जटिलता तथा मौलिक जनहितों को समझने-वूझने के कवि के मार्ग में वाधा डाली और उसके मानवतावाद को वस्तुतः जातीय, प्रगतिशील आशय से वंचित कर रखा। हमारी दृष्टि में, प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोणों के सन्देहपूर्ण संश्लेपण ही में पंतजी की विचारधारा एवं काव्य-साधना की वैचारिक निर्वलता के मूल निहित हैं। यहीं से उनके वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों का सूत्रपात होता है जो वास्तविकता से कहीं दूर हैं और कभी-कभी उसका मिथ्या अर्थ लेते हैं। इन सभी कारणों से पंतजी की युद्धोत्तर-कालीन काव्य-काधना में निष्क्रिय एवं प्रतिक्रियावादी स्वच्छंदतावाद की धारा का उदय हुआ, जिससे वास्तविकता के यथार्थ चित्रण में और मानव को उसके भगवत्-जीवन की समस्त जटिलता के बीच समझ लेने में बाधा आई। वैचारिक भूमिका की भ्रमपूर्णता कवि के लिए मनुष्य के आन्तरिक विश्व की थाह लेने, उसके स्वभाव का उद्घाटन करने, सामाजिक माध्यम के साथ उसका सम्वन्ध दिखाने और सुन्दरतर जीवन के लिए संघर्ष की दिशा में उसका मार्गदर्शन करने में बाधा वन गई।

---

१. सुमित्रानंदन पंत, 'उत्तरा', पृ० २९।

मनुष्य के इस अधिकार की घोषणा एवं मानवीय व्यक्तित्व के अपने मूल्य का समर्थन करते हुए तथा भावी 'स्वर्ण युग' के पूर्ण मानव, 'सांस्कृतिक चेतना' के विकास इत्यादि के स्वप्न देखते हुए पंतजी तत्त्वतः मनुष्य को सामाजिक जीवन से पृथक् कर देते हैं और उसकी चेतना को कोई एक ऐसी पृथक् वस्तु मानते हैं जो बाह्य प्रभावों के परे और किसी विशिष्ट ऊर्ध्व नियम के अनुसार विकसित होती है। पंतजी की युद्धोत्तर कालीन रचनाओं में मानव जैसे समय एवं अवकाश बाह्य स्वरूप में उपस्थित होता है जो वर्ग-विषयक एवं राष्ट्रीय स्वत्व से वंचित है।

पंतजी की समस्त युद्धोत्तरकालीन काव्य-साधना का प्रधान स्वर रहा है नव-युग विषयक स्वप्न एवं 'नवीन ऊर्ध्व चेतना की स्वर्ण-किरणों' से देदीप्यमान् 'स्वर्ण युग' की प्रशस्ति। इस युग के उदय का चित्रण तो कवि कभी चन्द्रालोक ('चाँदनी' नाटिका), कभी स्वर्ण-किरणों ('स्वर्ण-किरण' संग्रह), कभी स्वर्ण-धूलि ('स्वर्ण-धूलि' संग्रह), कभी स्वर्णिम प्रभात ('स्वर्ण-भोर' संग्रह), तो कभी स्वर्ण निर्झर ('स्वर्ण-निर्झर' संग्रह) के रूप में करता है, पर यह युग कैसे आएगा—वह जानता नहीं।

इस प्रश्न का उत्तर भी पंतजी श्री अरविन्द के आदर्शवादी दर्शन में खोजने का प्रयत्न करते हैं। उन्हीं के अनुकरण में संन्यास को सत्य, मनुष्य के सुख तथा विकास की ओर ले जाने वाले मार्ग के रूप में अस्वीकार करते हुए पंतजी साथ-साथ यह मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के अन्तस् में दिव्य अग्नि की कभी न बुझने वाली चिनगारी सुप्त रहती है—यह है 'जीव' जो ब्रह्म का अंश है। जब यह चिनगारी धधक उठती है, मनुष्य सभी दोषों एवं निर्बलताओं से मुक्त होकर प्रगति के पथ पर अग्रसर होता है। विकास की अखण्ड धारा, जो मनुष्य को उसके 'जीवन' में सतत् चल रहे क्रमिक विकास के फलस्वरूप पशुत्व से वर्तमान स्थिति तक ले आई है, भविष्य में पूर्ण मानव या भूदेव की सृष्टि करेगी। यह कहते हुए कि 'भगवत् चेतना, जो सृष्टि की आधारशिला है, चतुर्दिक् की वास्तविकता से घिरे हुए मनुष्य जीवन में साकार होनी चाहिए,' पंतजी तत्त्वतः श्री अरविन्द के इस विचार ही की पुनरावृत्ति करते हैं कि 'क्रम विकास को ऐसी दिशा में जारी रखना चाहिए जिससे मानव वंश के देवत्व का यथार्थ अन्वेषण एवं अभिव्यक्ति सम्भव हो।"[1] संसार में आदर्श समाज-व्यवस्था की स्थापना तभी आकर हो सकती है जब प्रत्येक मनुष्य के अन्तस् में जाग्रत भगवत् चेतना समस्त मानवता को एक सांस्कृतिक आन्दोलन में संगठित करेगी। और एक विश्व-संस्कृति, जैसा कि पंतजी मानते हैं, आज के सभी प्रश्नों को हल करने का सबसे विश्वसनीय साधन है, जो इस समय उपलब्ध है। विश्व के समस्त जनों को एक सांस्कृतिक आंदोलन के झण्डे के नीचे एकत्रित

१. Sri Aurobindo, 'The Human Cycle', Pondicherry, 1949, p. 84.

करने भर से युद्ध, दरिद्रता एवं बुभुक्षा के संकटों से सदा के लिए मुक्ति पाना सम्भव है। प्रथम वार इस विचार का समर्थन पंतजी ने 'उत्तरा' नामक संग्रह की प्रस्तावना में किया है और फिर उनकी युद्धोत्तरकालीन अनेक रचनाओं में वह प्रकट हुआ है। पंतजी के कुछ अन्य विचार भी उन्हें श्री अरविन्द से सम्बद्ध कर देते हैं। उदाहरणार्थ, इन दोनों ही को स्वीकार है कि पृथक् व्यक्तिगत विचारों को पूर्णत्व देकर ही आदर्श समाज-व्यवस्था के लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। श्री अरविन्द घोष के शब्दों में, 'मानसिक विषयपरकता का युग' क्रमशः 'आध्यात्मिक युग' में परिवर्तित होगा।

विश्व-संस्कृति के भावी युग के विषय में पंतजी के विचार भी श्री अरविन्द के इस विचार से मेल खाते हैं कि आध्यात्मिक दृष्टि से सुविकसित समाज केवल समस्त मानवता के धरातल पर ही स्थापित हो सकता है और होगा भी, जव संसार की सभी जातियाँ एक विश्व संघ में एकत्रित होंगी।

युग-युग से धरती पर छाये हुए घोर तम से मानवता को मुक्ति दिलाने वाली नव संस्कृति के युग का प्रत्याशित अवतरण स्वर्ण-किरणों तथा स्वर्ण-भोर के प्रतीकों में प्रकट हुआ है। दिव्य स्वर्ण-प्रभात की किरणों से दीप्तिमान, जागरणोन्मुख प्रकृति के चित्रों में जो एक के बाद एक कई कविताओं में अंकित हैं, नए और पूर्ण जीवन के विषय में कवि के स्वच्छंदतावादी स्वप्न उभर आते दिखाई देते हैं। प्रकृति का उत्कृष्ट रागात्मक सौंदर्य पंतजी को 'भगवत् चेतना से' देदीप्यमान भावी मानव जीवन की साधारणीकृत प्रतिमा-सा लगता है। 'उत्तरा' नामक संग्रह में वहुत-से ऐसे प्रतीकात्मक चित्र मिलते हैं।

कवि को अपने चारों ओर सर्वत्र ही आगामी 'स्वर्ण-युग' के स्वर्णिम आलोक की छटाएँ दिखाई देती हैं: अभी-अभी प्रस्फुटित होने वाली कोपलों की हलकी गुलावी छटा में, उदयोन्मुख सूर्य की स्वर्ण-किरणों से जगमगाने वाले वादल में, आँखों को चौंधिया देने वाली विद्युत्‌रेखा में, मेघों की दरारों से छन-छनकर धरती की ओर बढ़ने वाली सूर्य-किरणों में, सघन वन की हरीतिमा को चीरकर गुज़रने वाली किरणधाराओं में, विहगों के कोमल, वहुस्वर संगीत में और अन्यत्र भी।

पंतजी के लगभग प्रत्येक गीत-मुक्तक में प्रकृति की प्रतिमा के पीछे विशिष्ट मानवतावादी आशय छिपा रहता है। प्रकृति सौन्दर्य कवि को मुग्ध अवश्य कर देता है, पर उसी क्षण उसे मानव का स्मरण हो आता है और वह जीवन को वैसा ही सुन्दर, वैसा ही रागात्मक और वैसा ही पूर्ण देखने के लिए उत्कंठित होता है जैसी स्वयं प्रकृति है। यहाँ प्रारम्भिक प्रकृति विषयक गीत-मुक्तकों की तुलना में पंतजी के प्रकृति चित्र एवं प्रतीक अधिक साकार रूप में उभर आते हैं। वे जटिल उपमा-रूपकादि अलंकार के भार से मुक्त होते हैं और उनसे जैसे छायावाद के कल्पनामय

कुहासे का आवरण हट जाता है।

कवि 'विश्व संस्कृति' युग में मुक्त मानव के भावी जीवन का चित्र अंकित करने के लिए प्रयत्नशील है। पंतजी के इधर के काव्य-साधना काल की कई रचनाओं में भी भविष्य के चित्र देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'युग संघर्ष' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए :

> ···रक्तपूत अब धरा : शांत संघर्षण,
> धनिक श्रमिक मृत : तर्कवाद निश्चेतन !
> सौम्य शिष्ट मानवता अन्तर्लोचन
> सृजन-मौन करती धरती पर विचरण !

अब धरती पर सामाजिक विषमता का शासन नहीं रहेगा, सभी जनों को अन्न, वस्त्र एवं आवास पाने का समानाधिकार रहेगा, नव चेतना की स्वर्ण-किरणों में प्रत्येक मनुष्य का मूल्य बेहद बढ़ेगा, जातीय, धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कलह सदा के लिए समाप्त हो जाएँगे और उनका स्थान लेंगे परस्पर प्रेम एवं कृपाशीलता।

नव युग का पूर्ण मानव कैसा होगा ? पंतजी उसका स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं—उसका वर्णन वह 'भव मानव', 'भूदेव', 'नव विश्व संस्कृति" का निर्माता आदि शब्दों में करते हैं। पंतजी के विचारानुसार यह मनुष्य समस्त मानव-संस्कृति की निधियों में जो भी सर्वोत्तम है उस सबको ग्रहण करेगा, पश्चिमी विज्ञान एवं संस्कृति की सभी नवीनतम उपलब्धियों को अपना लेगा और पूर्व की संस्कृति के 'उच्च आध्यात्मिक सारतत्व' से अपने को अलंकृत करेगा।

'गुंजन' नामक संग्रह से आरम्भ करते हुए कवि ऊपर जैसे मानव के विषय में स्वप्न देख रहा है। वह उसकी प्रतीक्षा करते हुए पुकार उठता है :

> आओ, शांत, कांत, वर, सुन्दर,
> धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण !

पूर्ण मानव-सम्बन्धी समस्या के संदर्भ में कवि मानवीय अस्तित्व के सारतत्व का उद्घाटन करने के लिए प्रयत्नशील है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य-जीवन को दर्शित करते हुए (देखिए : 'स्वर्णोदय' शीर्षक कविता जिसका उपशीर्षक 'जीवन सौन्दर्य' है), उसकी श्रेष्ठता दिखाकर प्रशंसा करते हुए पंतजी आत्मा की अमरतातथा सर्वव्यापी ईश्वर के बारे में भी कहते हैं—उस ईश्वर के बारे में जिसमें मृत्यु के उपरान्त मनुष्य की आत्मा विलीन हो जाती है। कवि इसमें 'परम सुख' देखता है। यों कहिए कि वह 'भगवत्गीता' के आधार में निहित विचार ही को विकसित करता है। मनुष्य का जीवन तभी जाकर आदर्श बनेगा जब वह प्राचीन भारतीय नीति-नियमों का पालन करेगा।

आदर्शवादी छटा के होते हुए भी पंतजी की उपर्युक्त कविता उनकी इधर

की रचनाओं में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। उसमें उच्च मानवीय आदर्शों का समर्थन, मनुष्य के पूर्ण मूल्यवान जीवन की प्रशंसा और जीवन की विविधता में आनन्द की अनुभूति निहित है। यहाँ चतुर्दिक् की वास्तविकता के प्रति कवि का दृष्टिकोण आशावाद से अनुप्राणित है। उसका विश्वास है कि "मृत्यु पर जन्म, वृद्धता पर यौवन और दुःख एवं शोक पर सुख एवं आनन्द को विजय प्राप्त होगी।" पंतजी का जीवन विषयक दर्शन ही एक प्रकार से 'स्वर्णोदय' शीर्षक कविता में समूर्त हो गया है। यह कोई संयोग की वात नहीं कि कवि की लेखनी से निम्न-लिखित शब्द लिखे गए हैं:

दिशा लोक श्रम से हो हर्षित,
काल विश्व रचना में योजित,
भव संस्कृति में देश हो ग्रथित,
जन संपन्न, जगत मनुजोचित···

उक्त कविता में आदर्श एवं वास्तविक के तानेवाने हैं, स्वच्छंदतावाद के साथ यथार्थवाद विद्यमान है।[1]

आदर्शवादी प्राचीन भारतीय दर्शनजनित भाववादी-मानवतावादी उमंग पंतजी से चतुर्दिक् की वास्तविकता को छिपाए नहीं रख सकी हैं। वह भारत के सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विकास से सम्बन्धित वहुत-सी महत्त्वपूर्ण समस्याओं और अखिल मानवीय नैतिक प्रश्नों पर भी अपनी विचार-धारा के त्रिपार्श्व कांच के माध्यम से अवलोकन करते हुए विचार करते हैं। हमारा स्वच्छंदतावादी कवि न वास्तविकता का आदर्शीकरण करता है, और न स्वप्न, सौंदर्य एवं शान्ति के विश्व की शरण लेने का प्रयत्न ही। समाज जीवन की असंग-तियों को ठेलने में उत्पन्न होने वाली तूफानी घटनाओं से मुँह फेरने और मानव-स्वभाव की दृष्टि से अपने को वहुत ही अप्राकृतिक एवं घृणित लगने वाले संघर्ष से अलग रहने का प्रयत्न भी वह नहीं करता। वह लिखता है: "कवीन्द्र रवीन्द्र के युग से हमारे युग की जीवन-मान्यताओं का संघर्ष अत्यधिक प्रवल तथा जटिल हो गया है···युग-संघर्ष के अनेक रूपों को मैंने अपने काव्य-रूपकों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।[2]

मानवता के भाग्य के विषय में कवि अधिकाधिक वेचैन हो उठता है। पर युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर काल में हिन्दी के श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' तथा 'निराला' आदि कवियों की रचनाओं में विद्यमान क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावादी मनोविन्यास कवि के लिए पहले की तरह पराए ही रहे हैं। पंतजी मानते हैं कि धरती पर 'स्वर्ण-युग' का अवतरण ही मानवता के विकास का सच्चा मार्ग है और इसलिए

१. 'कवि श्री सुमित्रानंदन पंत', साहित्य सदन, १९६६, पृष्ठ ३।
२. सु० पंत, 'चिदम्बरा', पृ० २३।

उज्ज्वल भविष्य की प्राप्ति के हेतु जनों को न संघर्ष करने की आवश्यकता है और न क्रान्ति लाने की। यह उज्ज्वल भविष्य उसी प्रकार अपने-आप अवतरित होगा जिस प्रकार रात के बाद प्रभात आता है।

पर मानवता के विकास के लिए देश की समृद्धि का उत्थान आवश्यक है और इस उत्थान का पथ अब पंतजी दस्तकारी उत्पादन तथा जीवन की दादापंथी प्रणाली में नहीं, प्रत्युत विशाल यन्त्रीकृत उत्पादन, देश के उद्योगीकरण एवं श्रम के समूहीकरण में देखते हैं। 'संघ उत्पादन' शीर्षक कविता में प्रकृति की शक्तियों पर विजय पाने वाली मानव-बुद्धि की असीम शक्ति की प्रशंसा करते हुए पंतजी लिखते हैं :

> आज वाष्प विद्युत औ विश्व किरण मानव के वाहन,
> भूत शक्ति का मूल स्रोत भी अणु ने किया समर्पण !
> ...दिशा काल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित !

पर अकेले विज्ञान एवं तकनीक के विकास से ही जीवन की पशुतुल्य स्थितियाँ समाप्त नहीं की जा सकतीं। पंतजी लिखते हैं, "धरती पर आज स्वर्ण का राज्य है, अज्ञान एवं दरिद्रता की कोई सीमा नहीं है। उधर विज्ञान का अनिबंध विकास हो रहा है और इधर बहुत से जन अज्ञान एवं अन्धकार में भटक रहे हैं। कवि मानता है कि संसार की अपूर्णता समाप्त होनी चाहिए, विज्ञान एवं संस्कृति को जन-सेवा के लिए विवश करना चाहिए, तब प्रकाश को छाया नहीं ढकेगी, आशा में निराशा छिपी नहीं रहेगी।

पर इसलिए कि लोग विज्ञान एवं तकनीक पर अधिकार पा सकें, समस्त शिक्षा-पद्धति का आमूल पुनर्निर्माण होना चाहिए और लाखों लोगों को प्रकृति की शक्तियों से काम लेने की शिक्षा मिलनी चाहिए। और इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए विज्ञान को जीवन के निकट लाना और पुराने-धुराने, सर्वथा अनावश्यक जड़ सूत्रों की सीख को सदा के लिए अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। पंतजी नहीं चाहते कि ऐसे विद्वानों-पंडितों की संख्या में वृद्धि हो जो अनुपयुक्त ज्ञान से भारान्वित हैं और प्राप्त किए गए ज्ञान को जनता के हितार्थ प्रयोग करने के स्थान में शिक्षा को केवल व्यक्तिगत सुख एवं समाज में यश की प्राप्ति का विश्वसनीय साधन मानते हैं या फिर 'शिक्षा के लिए शिक्षा' के मार्ग पर चलते हैं। अगणित वादों के जालों में बुरी तरह फँसकर वे किसी विशिष्ट वैज्ञानिक दृष्टिकोणों की श्रेष्ठता के विषय में अनुपयुक्त वाद-विवादों में लगे रहते हैं। पंतजी 'महामृत्यु का पूजन' शीर्षक कविता में कहते हैं कि ऐसे भी शिक्षित जन हैं जो अपनी समस्त ज्ञान-राशियों को सृजन के लिए नहीं, प्रत्युत संहार के लिए प्रयोग करते हैं, मानव-विनाश के अधिक-से-अधिक प्रभावशील साधनों की खोज में लगे रहते हैं।

पंतजी के शिक्षा विषयक दृष्टिकोण बहुत-कुछ कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रबोधन विषयक विचारों से मिलते-जुलते हैं। पंतजी नई आधुनिक एवं वस्तुतः राष्ट्रीय शिक्षा-दीक्षा का समर्थन करते हैं। वह मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान के साथ-साथ नई शिक्षा-प्रणाली को सर्वांगीण विकास एवं व्यक्तित्व की आध्यात्मिक श्री-वृद्धि पर ध्यान और राष्ट्रीय कला के आम उत्थान तथा विकास को अवसर देना चाहिए। मनुष्य को कलाकार, जीवन-निर्माता बनना चाहिए—उसकी चितवन में सदैव सृजन की अविसर्जनीय अग्नि प्रज्वलित रहनी चाहिए और उसका हृदय सदैव असीम, कल्याणकारी सौंदर्य-भावना से ओतप्रोत होना चाहिए। फूलों ही की तरह मनुष्य का जीवन कविता, चित्रकला, संगीत एवं नृत्य से विकसित तथा अलंकृत होना चाहिए। रागात्मक शिक्षा को दर्शन एवं विज्ञान की एकता पर, भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के समन्वय पर ध्यान देना चाहिए। पर नई ऊर्ध्व संस्कृति के निर्माण के लिए मात्र शिक्षा-दीक्षा पर्याप्त नहीं है। मानवता के उत्थान का 'स्वर्ण-युग' जिसमें प्रत्येक मनुष्य 'भूदेव' बनेगा, 'ऊर्ध्व संचरण' के फलस्वरूप ही आ सकता है :

> उर्ध्व संचरण में रे व्यक्ति, निखिल समाज का नायक
> समदिग गति में सामाजिकता जनगण भाग्य-विधायक;
> उर्ध्व चेतना को चेतना भू पर धर जीवन के पग
> मदिक् मन को पंख खोल चिद् नभ में उठना व्यापक।

पंतजी की 'ऊर्ध्व संचरण' की धारणा में, 'नवीन चेतना' या तथाकथित नव मानवतावाद की उनकी सारी कविता में उपनिषदों के दर्शन की प्रतिध्वनि सुनाई दिए बिना नहीं रहती। वह कहते हैं: "अविद्या वा लौकिक ज्ञान से जगत् पर विजय प्राप्त करता है मानव, और तब विद्या वा ब्रह्मज्ञान से वह मृत्युञ्जयी बनता है। दोनों में किसी एक ही के सहारे वह चाहे कितनी भी दूर चला जाए, पर एकांगी ही वह जाएगा। अतः पूर्ण मानव भू-देव नहीं बन सकेगा। देव वा दानव वह बन जाए भले ही, पर भू-देव बनने के लिए तो कवि ने एक ही राह बतायी है :

> बहिरंतर की सत्यों का जग-जीवन में कर परिणय
> ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।

अपने स्वप्नों को कवि उपनिवेशवादी शासन से भारत की स्वतंत्रता में, नवजीवन के पथ पर स्वाधीन शासन के प्रथम चरणों में साकार होते हुए देखता है। वह ऐसा यों मानता है कि सबसे पहले भारत की स्वतंत्रता ही उसकी अतीत की शक्ति के पुनरुत्थान का मार्ग है। वह संसार को नव संस्कृति प्रदान करने वाले,

'स्वर्णिम प्रभात' की प्रथम किरणों के दर्शनार्थ प्रयत्नशील है। १५ अगस्त १६४७ को भारतीय स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर कवि ने लिखा था :

धन्य आज मुक्ति का दिवस, गाओ जन-मंगल,
भारत लक्ष्मी से शोभित फिर भारत शतदल !

कवि नए समय के प्रभाव से पूर्णतया प्रभावित और नए समाज के उच्च लक्ष्यों एवं आदर्शों के स्वप्नों से अभिभूत है। वह जनमानस में अंगीकृत कार्य की सफलता के विषय में विश्वास जाग्रत करना चाहता है। युवक जनों पर कवि की विशेष आशाएँ बँधी हुई हैं :

स्वर्ण शस्य बाँधो भू-वेणी में युवती जन,
बनो वज्र प्राचीर राष्ट्र की, वीर युवक गण।
लोह संगठित बने लोक भारत का जीवन
हों शिक्षित संपन्न क्षुधातुर, नग्न, भग्न जन !

पंतजी जानते हैं कि उनके देशबंधुओं को कितनी कठिनाइयाँ पार करनी हैं। पर सभी कठिनाइयों को हल करने का मार्ग कवि उच्च मानवतावादी विचारों के प्रसार, शिक्षा-दीक्षा के उत्थान, नव संस्कृति के प्रसार और कालविपरीत रूढ़ियों की समाप्ति ही में देखता है।

वर्तमान शताब्दी के पंचम दशक के अन्त और षष्ठ दशक के आरम्भ के अन्य बहुत से राष्ट्रवादी कवियों से पंतजी इस दृष्टि से भिन्न रहे हैं कि जब ये कवि भारतीय स्वतंत्रता को संसार भर की दलित जातियों के उपनिवेश-विरोधी आम स्वतंत्रता संघर्ष से पृथक् देखते थे तब वह सदा ही संकीर्ण राष्ट्रवाद से दूर रहे हैं। भारत के स्वतंत्रता एवं विकास-पथ को वह स्वतंत्रता, शान्ति एवं प्रगति की दिशा में समस्त मानवता के संघर्ष से पृथक् नहीं मानते। 'उत्तरा' नामक संग्रह की एक कविता में वह कहते हैं कि "भारत की दासता केवल उसका अपना दुर्भाग्य नहीं है, वह तो समस्त मानवता पर लगा हुआ एक घोर कलंक है।" पंतजी के देश-भक्ति विषयक गीत, मुक्तकों की स्वाभाविक विशेषता अन्य अनेक कवियों की ऐसी रचनाओं से भिन्न हैं। इन कवियों में से जयशंकर प्रसाद प्रमुख हैं। ये कवि भारत के राष्ट्रीय कवि कहलाते हैं। जबकि पंतजी मूलतः भविष्य में रुचि रखते हैं, राष्ट्रीय धारा के कवि अतीत के गौरव के पुनरुत्थान का आवाहन करते हुए अपने देशबंधुओं को मातृभूमि के इतिहास के वीरों के उदाहरणों से प्रेरित करने के लिए प्रयत्नशील थे। पंतजी कदाचित् ही पीछे की ओर मुड़ते हैं—उनकी दृष्टि तो सदैव भविष्य में लगी रहती है। अतः श्री शिवदानसिंह चौहान का पंतजी को 'भविष्य के कवि' कहना पूर्णतया साधार है।

इस उज्ज्वल भविष्य के अंकुर कवि अपने चारों ओर देखता है, नव वसंत के अग्रदूत वायु की मन्द लहरों को अनुभव करता है, नव उषःकाल की झलक

पंतजी के शिक्षा विषयक दृष्टिकोण बहुत-कुछ कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रबोधन विषयक विचारों से मिलते-जुलते हैं। पंतजी नई आधुनिक एवं वस्तुतः राष्ट्रीय शिक्षा-दीक्षा का समर्थन करते हैं। वह मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान के साथ-साथ नई शिक्षा-प्रणाली को सर्वांगीण विकास एवं व्यक्तित्व की आध्यात्मिक श्री-वृद्धि पर ध्यान और राष्ट्रीय कला के आम उत्थान तथा विकास को अवसर देना चाहिए। मनुष्य को कलाकार, जीवन-निर्माता बनना चाहिए—उसकी चितवन में सदैव सृजन की अविसर्जनीय अग्नि प्रज्वलित रहनी चाहिए और उसका हृदय सदैव असीम, कल्याणकारी सौंदर्य-भावना से ओतप्रोत होना चाहिए। फूलों ही की तरह मनुष्य का जीवन कविता, चित्रकला, संगीत एवं नृत्य से विकसित तथा अलंकृत होना चाहिए। रागात्मक शिक्षा को दर्शन एवं विज्ञान की एकता पर, भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के समन्वय पर ध्यान देना चाहिए। पर नई ऊर्ध्व संस्कृति के निर्माण के लिए मात्र शिक्षा-दीक्षा पर्याप्त नहीं है। मानवता के उत्थान का 'स्वर्ण-युग' जिसमें प्रत्येक मनुष्य 'भूदेव' बनेगा, 'ऊर्ध्व संचरण' के फलस्वरूप ही आ सकता है :

> उर्ध्व संचरण में रे व्यक्ति, निखिल समाज का नायक
> समदिग गति में सामाजिकता जनगण भाग्य-विधायक;
> उर्ध्व चेतना को चेतना भू पर धर जीवन के पग
> मदिक् मन को पंख खोल चिद् नभ में उठना व्यापक।

पंतजी की 'ऊर्ध्व संचरण' की धारणा में, 'नवीन चेतना' या तथाकथित नव मानवतावाद की उनकी सारी कविता में उपनिषदों के दर्शन की प्रतिध्वनि सुनाई दिए बिना नहीं रहती। वह कहते हैं : "अविद्या वा लौकिक ज्ञान से जगत् पर विजय प्राप्त करता है मानव, और तब विद्या वा ब्रह्मज्ञान से वह मृत्युञ्जयी बनता है। दोनों में किसी एक ही के सहारे वह चाहे कितनी भी दूर चला जाए, पर एकांगी ही वह जाएगा। अतः पूर्ण मानव भू-देव नहीं बन सकेगा। देव वा दानव वह बन जाए भले ही, पर भू-देव बनने के लिए तो कवि ने एक ही राह बतायी है :

> बहिरंतर की सत्यों का जग-जीवन में कर परिणय
> ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।

अपने स्वप्नों को कवि उपनिवेशवादी शासन से भारत की स्वतंत्रता में, नवजीवन के पथ पर स्वाधीन शासन के प्रथम चरणों में साकार होते हुए देखता है। वह ऐसा यों मानता है कि सबसे पहले भारत की स्वतंत्रता ही उसकी अतीत की शक्ति के पुनरुत्थान का मार्ग है। वह संसार को नव संस्कृति प्रदान करने वाले,

'स्वर्णिम प्रभात' की प्रथम किरणों के दर्शनार्थ प्रयत्नशील है। १५ अगस्त १९४७ को भारतीय स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर कवि ने लिखा था :

धन्य आज मुक्ति का दिवस, गाओ जन-मंगल,
भारत लक्ष्मी से शोभित फिर भारत शतदल !

कवि नए समय के प्रभाव से पूर्णतया प्रभावित और नए समाज के उच्च लक्ष्यों एवं आदर्शों के स्वप्नों से अभिभूत है। वह जनमानस में अंगीकृत कार्य की सफलता के विषय में विश्वास जाग्रत करना चाहता है। युवक जनों पर कवि की विशेष आशाएँ बँधी हुई हैं :

स्वर्ण शस्य बाँधो भू-वेणी में युवती जन,
बनो वज्र प्राचीर राष्ट्र की, वीर युवक गण।
लोह संगठित बने लोक भारत का जीवन
हों शिक्षित संपन्न क्षुधातुर, नग्न, भग्न जन !

पंतजी जानते हैं कि उनके देशबंधुओं को कितनी कठिनाइयाँ पार करनी हैं। पर सभी कठिनाइयों को हल करने का मार्ग कवि उच्च मानवतावादी विचारों के प्रसार, शिक्षा-दीक्षा के उत्थान, नव संस्कृति के प्रसार और कालविपरीत रूढ़ियों की समाप्ति ही में देखता है।

वर्तमान शताब्दी के पंचम दशक के अन्त और षष्ठ दशक के आरम्भ के अन्य बहुत से राष्ट्रवादी कवियों से पंतजी इस दृष्टि से भिन्न रहे हैं कि जब ये कवि भारतीय स्वतंत्रता को संसार भर की दलित जातियों के उपनिवेश-विरोधी आम स्वतंत्रता संघर्ष से पृथक् देखते थे तब वह सदा ही संकीर्ण राष्ट्रवाद से दूर रहे हैं। भारत के स्वतंत्रता एवं विकास-पथ को वह स्वतंत्रता, शान्ति एवं प्रगति की दिशा में समस्त मानवता के संघर्ष से पृथक् नहीं मानते। 'उत्तरा' नामक संग्रह की एक कविता में वह कहते हैं कि "भारत की दासता केवल उसका अपना दुर्भाग्य नहीं है, वह तो समस्त मानवता पर लगा हुआ एक घोर कलंक है।" पंतजी के देश-भक्ति विषयक गीत, मुक्तकों की स्वाभाविक विशेषता अन्य अनेक कवियों की ऐसी रचनाओं से भिन्न हैं। इन कवियों में से जयशंकर प्रसाद प्रमुख हैं। ये कवि भारत के राष्ट्रीय कवि कहलाते हैं। जबकि पंतजी मूलतः भविष्य में रुचि रखते हैं, राष्ट्रीय धारा के कवि अतीत के गौरव के पुनरुत्थान का आवाहन करते हुए अपने देशबंधुओं को मातृभूमि के इतिहास के वीरों के उदाहरणों से प्रेरित करने के लिए प्रयत्नशील थे। पंतजी कदाचित् ही पीछे की ओर मुड़ते हैं—उनकी दृष्टि तो सदैव भविष्य में लगी रहती है। अतः श्री शिवदानसिंह चौहान का पंतजी को 'भविष्य के कवि' कहना पूर्णतया साधार है।

इस उज्ज्वल भविष्य के अंकुर कवि अपने चारों ओर देखता है, नव वसंत के अग्रदूत वायु की मन्द लहरों को अनुभव करता है, नव उषःकाल की झलक

देखता है और पूरी हार्दिकता के साथ नव युग के उदय का स्वागत करता है—यह है यंत्रों, जनाधिकारों एवं सामाजिक प्रगति का युग जो मानव-चेतना को शुद्ध कर देता है। वह 'नेहरू युग' के प्रथम चरणों का स्वागत करता है—उस युग का जो 'गांधी-युग की देन 'सत्य' एवं 'अहिंसा' के विचारों से फलप्रद बना हुआ है। परिवर्तन के श्रीगणेश से कवि उल्लसित और सार्वत्रिक विकासकारी शासन की स्थापना के महान् लक्ष्य से उत्साहित होता है (देखिए : 'नेहरू युग' शीर्षक कविता)। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ घोषणा और आवाहन स्वरूप ही लगती हैं, विशेषकर जब कवि 'पंचशील' के सिद्धान्तों के प्रति शुभकामनाएँ प्रकट करता है। उसके अनुसार "पंचशील शान्ति के रथ पर चढ़कर विश्व प्रदक्षिणा-कर रहे हैं और जनों में रक्तहीन जन क्रान्ति का संदेश वितरित कर रहे हैं"—उस क्रान्ति का जो धरती पर चिर शान्ति की स्थापना का साधन है। जब कवि शान्ति के लिए अणुशक्ति के प्रयोग का समर्थन करता है उस समय भी यह अनुभव होता है। शान्ति लक्ष्मी अणु उसके अनुसार धरती पर नए, पूर्ण विकसित समाज की स्थापना में मनुष्य की सहायक है—ऐसे समाज की जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने को धरती का समानाधिकारी स्वामी अनुभव करेगा, आशा एवं विश्वास के साथ भविष्य की ओर देख सकेगा और आत्म-विनाश के सतत भय से मुक्ति पाएगा।

पंतजी मानते हैं कि स्वतंत्र जनों के आत्म-त्यागमय, सृजनशील श्रम से ही मातृभूमि को युग-युग के पिछड़ेपन एवं दरिद्रता से मुक्त किया जा सकेगा (देखिए : 'शिल्पी' नाटिका)। वह ध्वस्त गौरवचिह्नों के पुनर्निर्माण और नए भौतिक मूल्यों में सृजन के लिए आवाहन करते हैं :

खोद, खोद रे, न हार !
शान्त हुई अग्नि वृष्टि,
ध्वंस शेष भग्न सृष्टि
खोज रही नग्न दृष्टि
···आर पार, आर पार !
रत्न गर्भ धरा धूल-
मिट्टी में छिपे मूल,
वही बीज, वही फूल,
छान बीन, कर विचार

कवि नए आत्मत्यागी महान् श्रम और जन-कल्याण एवं समृद्धि के अर्थ वीरतापूर्ण साहस के लिए आवाहन करता है।

श्रम के विषय का विस्तार करते हुए पंतजी यह भूल-से जाते हैं कि भारत में अभी तक परजीवी वर्ग विद्यमान है और श्रम को अभी तक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त हुई है।

इस प्रकार आधुनिक भारतीय समाज के विकास की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों से पृथक् श्रम का विषय पंतजी की कविता में भावात्मक-मानवतावादी-सा लगता है।

फिर भी देशबंधुओं के प्रति मातृभूमि की समृद्धि के लिए एक श्रम-आंदोलन में सम्मिलित होने का उनका आवाहन अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। अपनी युद्धोत्तरकालीन उत्कृष्ट रचनाओं में से 'यह धरती कितना देती है' शीर्षक रचना में कवि आवाहन करता है कि थकान, अलस एवं लोभ को अवसर न देते हुए श्रम करो, परजीवी प्रणाली से जीवनयापन करते हुए अपनी ही संपत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न न करो। श्रम मनुष्य को गौरव प्रदान करता है, जबकि संपत्ति एवं अलस उसके उच्च नैतिक गुणों की हत्या कर देते हैं।

कवि को बचपन की एक घटना याद आती है, जब उसने धरती में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ गाड़ दी थीं—इस आशा में कि यथासमय सोने की भारी फसल काट सके। देर तक उसने प्रतीक्षा की कि धरती से स्वर्णांकुर निकल आएँ। उस समय वह जानता न था कि उसने 'धरती में बेकार बीज बो दिए हैं' जिनसे दुर्भाग्य एवं दुःख के अलावा मनुष्य को और कुछ नहीं मिल सकता। यह बात तब कवि की समझ में आ गई, जब उसने अपने हाथों धरती में सेम के बीज बोए, जिनसे उसे भारी फ़सल का लाभ हुआ। पहले तो वे सुगंधित फूलों के रूप में उभर आईं। वे तारों-से फूल उसे सुंदर लगते थे, मानस के हँसमुख नभ-से, चोटी के मोती-से, अंचल के बूटों-से और फिर :

> ओह, समय पर उनमें कितनी फलियाँ टूटीं !
> कितनी सादी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ—
> पतली चौड़ी फलियाँ, उफ़, उनकी क्या गिनती !
> ···सच्चे मोती की लड़ियाँ-सी, ढेर-ढेर खिल,
> झुंड-झुंड झिल-मिलकर कचपचिया तारों-सी !

इस प्रकार भूमि-सेवक का श्रम समृद्ध मात्रा में सुफलित हुआ।

सुफलदायिनी धरती में बोए गए बीज पंतजी की कविता में प्रतीकात्मक विचार प्रकट करते हैं : ये बीज हैं सत्य के शब्द, महान् मंगलकारी विचार जिनका कोई मूल्य नहीं; जनमानस में पड़कर वे वहाँ असीम समृद्धि उगाते हैं। कविता के अंत में श्री सुमित्रानंदन पंत सत्य के बीजारोपण के नाते कवि के पवित्र कर्तव्य की बात छेड़ते हैं :

> रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ।
> इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
> इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
> इसमें मानव ममता के दाने बोने हैं—

जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसलें
मानवता की—जीवन-श्रम से हँसें दिशाएँ—
हम जैसा बोएँगे वैसा ही पाएँगे।

इसी प्रकार की पंतजी की कई अन्य कविताएँ कवीन्द्र रवीन्द्र लिखित उन देशभक्तिपूर्ण कविताओं एवं गीतों से मिलती-जुलती हैं जो मातृभूमि के प्रेम से ओतप्रोत हैं। श्री मुहम्मद इकबाल के प्रारंभिक देशभक्तिपूर्ण गीत मुक्तकों की प्रतिध्वनि उनमें गूंजती है और तमिल कवि श्री सुब्रह्मण्य भारती (१८८१-१९२१) की कविताओं से भी उनकी तुलना की जा सकती है।

पंतजी की मातृभूमि विषयक रचनाओं में एक और विचार का समर्थन मिलता है—यह है भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक सिद्धांतों का प्राधान्य (उदाहरणार्थ 'ज्योति भारत' शीर्षक कविता देखिए)। वैदिक छंदों के अनुवाद या प्रतिबिंब रूप रचनाओं में (देखिए: 'स्वर्ण-धूलि' संग्रह) यह विशेष रूप से प्रबल है। अनुवाद के लिए पंतजी ने ऐसे छंद चुने हैं जो उन्हें अपनी विचारधारा के अनुरूप लगते हैं, अविनश्वर शांति और मनुष्य की सुख-समृद्धि के आदर्शों का समर्थन करते हैं। पंतजी लिखते हैं: " 'स्वर्ण-धूलि' में आर्ष वाणी के अंतर्गत वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रभावित जो मेरी रचनाएँ हैं, वे अक्षरश: वैदिक छंदों के अनुवाद नहीं हैं। मेरे भावबोध ने उन मंत्रों को जिस प्रकार ग्रहण किया है, वही उनका मुख्य तत्त्व और स्वर है।"[१] इन छंदों के अनुवाद में पंतजी ने प्रार्थना का रूप बनाए रखने का प्रयत्न किया है। वैदिक पंथ के साहित्य की यह विशेषता है। ऐसी प्रत्येक कविता सर्वश्रेष्ठ ईश्वर के आवाहन से आरंभ होती है और इससे वे कवीन्द्र रवीन्द्र की उन रचनाओं के समीप आती है जो उन्होंने 'जीवन देवता' को लक्ष्य करके लिखी हैं।

पहले उल्लेख की गई सभी समस्याओं में से, जो भारतीय समाज के सम्मुख उपस्थित थीं और उसकी नैतिक आधारशिला बनी हुई थीं, पंतजी का ध्यान सबसे अधिक केन्द्रित करने वाली समस्या नारी की स्थिति एवं स्त्री-पुरुष संबंध विषयक समस्या रही है। परंपरागत मध्ययुगीन नीति-नियमों से मुक्त हो रहा भारतीय समाज तकाज़े के साथ यह माँग रहा था कि इन नियमों को स्वास्थ्यकर बनाया जाए और नए नीति-नियमों की स्थापना की जाए जो नव युग की माँगों के अनुरूप हों। यही कारण है कि बहुत-से भारतीय लेखकों ने अपनी रचनाओं में भारतीय नारी की स्थिति पर बड़ा ध्यान दिया है। समाज के लिए नए नैतिक आदर्शों की खोज में लगे हुए उन कवियों से, जो अधिकाधिक मात्रा में फ़ायड के मनोविश्लेषण विषयक विचारों के प्रभाव में आते हैं और यौन-विषयक जाल में फँस जाते हैं, पंतजी भिन्न हैं; वह आचार-विचार विषयक उच्च आदर्शों का समर्थन और स्त्री-

१. सु० पंत, 'चिदंबरा', पृ० १४।

पुरुष समानता तथा नारी के मानवीय गौरव के प्रति आदर-भाव के लिए आवाहन करते हैं।

कुछ भारतीय आलोचक मानते हैं कि आधुनिक हिन्दी कविता में नारी विषयक व्याख्या के क्षेत्र में धूमधाम से बढ़ने वाली मानवतावाद-विरोधी प्रवृत्ति का पंतजी पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसके उदाहरण के रूप में श्री रवीन्द्रसहाय वर्मा पंतजी की 'अवगुंठन' शीर्षक कविता को प्रस्तुत करते हैं। वह लिखते हैं: "पंत का पुरुष प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति है जो विश्व को नये विचार देकर उसे विकास के मार्ग पर ला देता है, उनकी नारी द्रष्टा न होकर जाति-वृद्धि के लिए ही निर्मित है।"[1] केवल एक कविता के विश्लेषण के आधार से निकाला गया वह निष्कर्ष हमारी दृष्टि में बड़ी उतावली का ही द्योतक है। पंतजी की 'अवगुंठन' शीर्षक कविता एक कलाकार एवं एक युवती के संभाषण के रूप में है। इस युवती को कलाकार से प्रेम हो गया है और वह उसके साथ पार्थिव सुख के अपनी घरवारी, परिवार, सन्तान, चिन्ताशील पति के विषय में स्वप्न देखती है। कलाकार अपनी ऐंद्रिजालिक स्वप्न-सृष्टि में मग्न है। युवती कला के साथ कलाकार के स्थिर सम्बन्ध में बाधा बन सकती है और कलाकार तो पार्थिव प्रेम के पीछे अपनी हवाई कल्पना-सृष्टि को त्याग नहीं सकता, यह देखते हुए युवती उससे विवाहबद्ध होना अस्वीकार करती है। कविता के अन्त में कलाकार भग्न स्वप्नों के कारण उदास होकर प्रेमिका से विदा हो जाता है।

हमारी राय में यह कविता आत्मकथनात्मक है। जीवन के अन्तिम चरण तक एकाकी कवि को खिन्नता के साथ अपने यौवनकालीन असफल प्रेम का स्मरण हो आता है। वह याद करता है कि किस प्रकार उसने काव्य-संसार में मग्न रहकर पार्थिव सुख को ठुकरा दिया था। इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस कथन की सत्यता का समर्थन करती हैं:

शायद कभी लौट आओ तुम
प्राण, बन सका अगर सर्वहारा मैं।

पंतजी की युद्धोत्तरकालीन रचनाओं की नारी प्रतिमा और पश्चिम के पतनशील साहित्य से प्रभावित आधुनिक हिन्दी कविता में अंकित उसकी प्रतिमा में कोई भी समानता नहीं है। स्त्री-पुरुष परस्पर सम्बन्धों की समस्या को पंतजी की कविता में गहरा सामाजिक अर्थ प्राप्त है। वह संसार के प्रति अपने मानवतावादी दृष्टिकोण से आरम्भ करते हुए उसका हल निकालने के लिए प्रयत्नशील हैं। वह लिखते हैं :...."यह मात्र मध्ययुगीन दृष्टिकोण है जो स्त्री-सम्पर्क को आध्यात्मिकता का विरोधी मानता है। सच तो यह है कि पिछली आध्यात्मिकता तथा

१. रवीन्द्रसहाय वर्मा, 'हिन्दी कविता पर आंग्ल प्रभाव', पृ० २२५। 'स्वर्ण-किरण' नामक संग्रह में यह कविता 'अवगुंठिता' (१९४७) शीर्षक के साथ संगृहीत है।

नैतिकता की धारणा ही खोखली, एकांगी तथा अवास्तविक रही है, जिसे स्त्री-स्पर्श तथा सम्पर्क उन्नत करने के बदले कलुषित कर सका है[१]...विकसित समाज के लिए स्त्री-पुरुष का सन्तुलित, संस्कृत, रागात्मक सहजीवन अनिवार्य सत्य है, और बहुत सम्भव है, कभी वह विभिन्न इकाइयों में विभक्त गृहों की संकीर्ण देहलियों एवं प्रांगणों को लाँघकर एक अधिक व्यापक विकसित धरातल पर आत्म-सम्भावित, स्वतः निर्देशित, शील-सौम्य मानवता में परिणत हो सकेगा।"[२]

इस प्रकार रहस्यमयी अप्सरा, यौवनकालीन स्वच्छंदतावादी स्वप्न संसार की नायिका, मानव-अधिकारों से वंचित, कठोरता से शोषित, तुच्छ दासी और फिर चतुर्थ दशक के उत्तरार्द्ध की कविता में जीवन सखी-सहचरी (देखिए : 'युगवाणी', 'ग्राम्या'-संग्रह) के रूप में आई हुई नारी पंतजी की युद्धोत्तरकालीन रचनाओं में 'नवयुग की सक्रिय निर्मात्री' के रूप में प्रस्तुत है। कवि मानता है कि सामाजिक जीवन में उसके सम्मिलित होने के बिना सामाजिक प्रगति एवं नव-संस्कृति का निर्माण निरर्थक हैं।

षष्ठ दशक के आरम्भ में पंतजी ने फिर से काव्य-रूपक लिखना आरम्भ किया। वह इस साहित्य प्रकार को अत्यधिक समावेशक और भारतीय समाज को बेचैन करने वाली बहुत-सी समस्याओं के विषय में अपने विचारों एवं दृष्टिकोणों को सरल तथा बढ़िया ढंग से अभिव्यक्त करने वाला साधन मानते हैं। पंतजी के काव्य-रूपक अभिनेय नहीं हैं, उनमें क्रिया-कलापों का अभाव है—तत्त्वतः ये चर्चात्मक, स्वगतात्मक और संभाषण स्वरूप हैं, कभी-कभी तो इनमें लेखक अपने-आप से भाषण करता हुआ या प्रकट रूप में विचार करता हुआ दिखाई देता है। इनमें कवि भारत के आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास विषयक बहुत-सी जटिल समस्याओं के बारे में अपने विचार प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त करता है। ये काव्यरूपक पंतजी ने विशेष रूप से आकाशवाणी के लिए लिखे थे, जहाँ उन्होंने सन् १९५० से १९५७ तक हिन्दी साहित्य-संगीत प्रसारण कार्यक्रमों के प्रधान परामर्शदाता के नाते काम किया था।

आकाशवाणी पर काम करते हुए पंतजी बहुत से साहित्यिकों तथा कलाकारों के निकटतर सम्पर्क में आए और यह काम उनके लिए बड़ा ही उपयुक्त एवं फलप्रद सिद्ध हुआ। उन्हें सहसा देश के साहित्यिक जीवन में केन्द्रवर्ती स्थान प्राप्त हुआ। भारत के एक गण्यमान्य कवि के रूप में चहुँओर से अधिकारी माने गए पंतजी ने हिन्दी साहित्य को विस्तृत लोकप्रियता प्राप्त करा दी, लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं को अवसर देने के लिए प्रयत्नशील रहे और युवकों को प्रोत्साहन तथा बढ़ावा देते रहे।

---

१. सु० पंत, 'चिदंबरा', पृ० २६।
२. वही।

आकाशवाणी में सर्वश्री नरेन्द्र शर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (जन्म सन् १९१०), विष्णु प्रभाकर (जन्म सन् १९१२), जगदीशचन्द्र माथुर (जन्म सन् १९१७) आदि जैसे प्रगतिशील हिन्दी लेखकों का गुट पंतजी के इर्द-गिर्द रहा। आकाशवाणी के माध्यम से विशेषकर एकांकी नाटकों का बड़ा विकास हुआ। आकाशवाणी के श्रोताओं के बीच इन्हें बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई।

अपने सभी ग्यारह एकांकी काव्य-रूपकों में पंतजी ने अपने चतुर्दिक् की वास्तविकता के अर्थोद्‌घाटन का प्रयत्न किया है और भारत तथा समस्त संसार ही के भाग्य के विषय में विचार किया है। वह लिखते हैं : "युग-संघर्ष के अनेक रूपों को मैंने अपने काव्यरूपकों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।"[1] अपने इन रूपकों में कवि ने वास्तविकता के बोध के महत्त्वपूर्ण साधनों के रूप में कला एवं विज्ञान के अटूट सम्बन्धों का प्रश्न उठाया है ('फूलों का देश', १९५१), समस्त मानवता की भावी एकता के स्वप्न देखे हैं ('विद्युत् वसना, १९५१), मनुष्य के अन्तर्जगत् की बात की है तथा वर्तमान परिस्थितियों में उसके उपचेतन के विकास की जटिल प्रक्रियाओं पर ध्यान दिया है ('रजत शिखर', १९५१), मनुष्य एवं सारे समाज की आत्मा की मुक्ति की आकांक्षा करते हुए, युग-युग के पूर्वग्रहों की श्रृंखलाओं में जकड़े हुए जीवन की जागृति के लिए आवाहन किया है ('सुवर्ण', १९५४) और बुर्जुआ समाज में कला के भविष्य के विषय में विवेचन किया है ('शिल्पी', १९५२)।

'शिल्पी' शीर्षक रूपक की विशेषता यह है कि उसमें उत्कृष्ट कलाकृतियों का सृजन करने एवं मानव-संस्कृति को विकसित करने वाले साधारण मनुष्य के श्रम की प्रशंसा की गई हैं। इसके कुछ छन्दों में तो मानव-जीवन के पुनर्निर्माण के लिए समर्थ मज़दूरों एवं कृषकों की एकता के विचार के समर्थन का स्वर गूंजता सुनाई देता है।

नए आणविक युद्ध की भयाशंका के सन्दर्भ में कवि मानवता के भाग्य के प्रति गहरी चिन्ता व्यक्त करता है, इसके बारे में विचार करता है कि यदि युद्ध को टालना असम्भव हुआ तो संसार को कैसे भयानक परिणामों का सामना करना पड़ेगा। वह मानवता के आत्मविनाश की भयाशंका की बात करता है (देखिए : 'ध्वंस शेष' १९५२)। पंतजी उच्च जागतिक सत्य के सृजन के स्वप्न देखते हैं— उस सत्य के जो समस्त ऊर्ध्व मानवतावादी आदर्शों का स्रोत है। वह उच्च आध्यात्मिक विकास का प्रश्न उठाते हैं और कहते हैं कि समस्त मानवता को इस विकास के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए (देखिए : काव्यरूपक 'अतिमा' १९५४)।

आकाशवाणी के कार्यकाल में पंतजी ने काव्य-रूपकों के साथ-साथ कई

१. सु० पंत, 'चिदंबरा' पृ० २३।

कविताओं की भी रचना की। ये कविताएँ आकाशवाणी से प्रसारित की गईं और बाद में संग्रहों के रूप में प्रकाशित भी हुईं। सन् १९५५ में दिल्ली के 'राजकमल प्रकाशन' ने 'अतिमा' नामक संग्रह प्रकाशित किया। इसमें पंतजी द्वारा अप्रैल १९५४ से फरवरी १९५५ तक के काल में लिखी गई पचपन कविताएँ संगृहीत हैं। ये कविताएँ मूलतः 'स्वर्ण-किरण' एवं 'स्वर्ण-धूलि' की ही परम्परा को जारी रखे हुए हैं।

'अतिमा' के बाद सन् १९५८ में उक्त प्रकाशन संस्था ने 'वाणी' एवं 'कला और बूढ़ा चाँद' नामक दो संग्रह प्रकाशित किए। इनमें कवि के दार्शनिक प्रकृति-विषयक गीत-मुक्तकों को प्रधान स्थान प्राप्त है।

प्रकृति के रूपों में पंतजी मानव-युग तथा भविष्य के विषय में अपने विचार ही अभिव्यक्त करते हैं। सशक्त पहाड़ी निर्झर उनमें कठोर निरर्थक जीवन से छुटकारा पाने की आशा जाग्रत करता है। (देखिए : 'झरना' शीर्षक कविता), स्वतंत्र विश्व पर शासन करने वाले और 'गौरव से सिर ऊँचा रखने वाले' हिमालय की प्रतिमा की ओर कवि पुनः लौट आता है। हिमालय तो सदा ही उसके मन में स्वतंत्र मानव की महानता एवं विजयशीलता के स्वप्न जगाता आया है।

पहाड़ कभी कवि के बाल्यकालीन उत्साह भरे गीतों, अमर प्रेम-विषयक उसकी शपथों को मौनता के साथ सुनते हैं, तो कभी खिलखिलाते हुए झरनों के रूप में उसके निश्छल स्मित का साथ देते हैं। 'जिन शिखरों को स्वर्ण-किरण नित ज्योति मुकुट से करती मंडित' और 'जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा सिन्धु ज्वार-सी लगती स्तंभित' उनका अवलोकन कवि करता है। इन महान् पर्वतों से वह जैसे एकात्म हो गया है :

प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण-से
घेरे मेरे जीवन के क्षण।
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशा दी पावन,
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन।

मानवतावादी आशय से परिपूर्ण प्रकृति के रूप कवि के भाव एवं अनुभूतियों के विश्व से एकरूप हो जाते हैं। कभी उसे लगता है कि 'हिमालय प्रचण्ड अभिलाषा से अभिभूत है', तो कभी वह 'अपने ही विचारों में मग्न' दिखाई देता है। शरद् ऋतु उसे 'चन्द्र कलासम सुन्दर, मनोहर स्वप्न समान, कवि के हृदय में अग्नि प्रज्वलित करते वाली युवती-सी' लगती है। प्रकृति के मोहकारी सौंदर्य की, जो उसके मानस में ऊँघती हुई प्रेरणा की शक्तियों को जगा देता है, आनन्दपूर्ण अनुभूतियों से कवि परिपूरित हो उठता है :

ओ दुग्ध श्वेत
माखन पर्वत के सूर्य,
ओ श्वेत कमलों के वन,
प्राणों के सुनहले जल,
तुम्हारे सूक्ष्म कोमल
उरोज मांसल प्रकाश ने
मुझे घेर लिया
तुम्हारी आभा
गुह्य सौरभ है—
जिसने मेरी इंद्रियों को
लपेट लिया !
तुम्हारे अनंत यौवन की सुरा पी
मेरा मन
तीनों अवस्थाओं के परे
जाग उठा ।

प्रकृति के साथ की एकरूपता में कवि जीवन के सुख एवं नवीकरण का मार्ग देखता है :

मेरे प्राणों की श्यामलता
तृण तरु दल में पुलकित,
मेरे उर की प्रणय भावना,
कलि कुसुमों में रंजित ।

इधर के कुछ वर्षों से पंतजी देश के साहित्यिक-सामाजिक जीवन में अधिकाधिक सक्रिय रूप में भाग लेते रहे हैं । समय-समय पर वह लेखकों की सभाओं में भाषण देते हैं, साहित्य एवं कला क्षेत्र के प्रगतिशील कार्यकर्ताओं के संगठन के विषय में बड़ा काम करते हैं । वह समय-समय पर आकाशवाणी के कार्यक्रमों में सहयोग देते, देशांतर्गत एवं अंतर्राष्ट्रीय जीवन की घटनाओं के विषय में जीवंत रुचि लेते, राष्ट्रीय संस्कृति के विकास की प्रगतिशील प्रवृत्तियों का समर्थन करते और पश्चिमी बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी संस्कृति के अस्वास्थ्यकर प्रभाव से उसे बचाने के प्रयत्न करते आए हैं । उदाहरणार्थ, दिसम्बर १९५७ में प्रयाग में हिन्दी साहित्यकारों के दूसरे सम्मेलन का पंतजी ने नेतृत्व किया था । लेखकों से अपनी रचनाओं द्वारा मानव-सेवा करने का आवाहन करते, जीवन की प्रत्यक्ष समस्याओं से पृथक् रहने वाले साहित्य की आलोचना करते और सामाजिक प्रगति के उच्च लक्ष्यों की दिशा में कार्य करनेवाले साहित्य का समर्थन करते हुए उस समय पंतजी नें कहा था : "समाज के बाहर कोई भी नहीं रह सकता । जिस प्रकार अपना नीद

बनाने के लिए विहंग को तरु-शाखा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कवि के लिए भी ऐसी शाखा की आवश्यकता है जो उसके लिए आश्रयस्थान बन सके। जन-समर्थन ही यह शाखा है।"[1]

सन् १९६१-६२ में आकाशवाणी से पंतजी का नया संगीत काव्यरूपक 'दिग्विजय' कई बार प्रसारित किया गया जो उन्होंने मानव की प्रथम अंतरिक्ष उड़ान के गौरवार्थ लिखा था :

> ···अनादि से
> शब्दहीन इस महानील के चिर रहस्य को
> चीर-ज्योति स्वर-लिपि में अंकित, गुह्योच्चारित
> उसके वीजाहार मंत्रों को पढ़ने के हित
> चिर आकुल था—उसके ज्योतिर्मय आंगन का
> अभ्यागत बनने को उत्सुक—जयी आज नर
> दिग दुंदुभि घोषित करती मानव की जय को,
> ....

यद्यपि यह रूपक एक प्रत्यक्ष घटना अर्थात् १२ अप्रैल १९६१ के दिन सोवियत अंतरिक्ष यात्री यूरी गगारिन द्वारा 'पूर्व-१' नामक अंतरिक्षयान में की गई विश्व की प्रथम अंतरिक्ष उड़ान को लक्षित करके लिखा गया था—तथापि उसमें वास्तविकता का कोई भी गुमान नहीं दिखाई देता। रूपक में प्रसंग का अंकन ठोस ऐतिहासिक घटना-स्थिति से कटा हुआ-सा है, अंतरिक्ष विजय की समस्या उसमें भाववादी, साधारणीकृत और नैतिक धरातल पर उठाई गई है।

परंपरागत प्रतीकात्मक शैली में कवि ने "अतल नीलाकाश की अनंत नीरवता को भंग करने वाले," "नभ के रहस्य में प्रथम प्रवेश करने वाले," "धरती एवं आकाश के मध्य एक उज्ज्वल सेतु बनाने वाले" मनुष्य की अनुपम उपलब्धि की प्रशंसा की है। यह रूपक संभाषणों (धरती से अंतरिक्ष यात्री की बातचीत), स्वगत भाषणों (अंतरिक्ष का स्वगत भाषण) और गीतों से बना हुआ है। नक्षत्रों तथा धरती पर अंतरिक्ष यात्री का स्वागत करने वाले जनों के गायक समूह आदि पे गीत गाते हैं। अंतरिक्ष यात्री द्वारा नभोमण्डल में, 'पवित्र इंद्रलोक' में फहराए गए अंतरिक्ष युग के ध्वज के चारों ओर वृत्ताकार नृत्य करते हुए उज्ज्वल नक्षत्र समूह वीर-विजय-गीत गाते हैं। "अंतरिक्ष की अपार दूरियों तक पहुँचने वाले," "आँखों को चौंधिया देने वाली सूर्य किरणों से अपने पंखों के जल जाने का भय न रखते हुए अपने अग्निबाणों पर आरूढ़ होकर दूसरे ग्रहों की सैर करने वाले" पृथ्वी-पुत्रों के पराक्रम की प्रशंसा इस गीत में की गई है। पंतजी की कल्पना की असीम

---

१. उद्धरण—'सुमित्रानंदन पंत, चुनी हुई कविताएं' नामक पुस्तक से, मास्को १९५९, पृ० १४।

उड़ान को अंतरिक्ष विस्तारों के चित्रांकन में पूरा अवसर मिला है। अंतरिक्ष को वह "अपार, अनन्त, मौन महासागर के, इंद्रनील वर्ण के असीम, नीरव विस्तार के रूप में देखते हैं। वहाँ पार्थिव अभिलाषाएँ, शत्रुत्व एवं चिंताएँ बहुत ही निरर्थक एवं नगण्य लगती हैं। अंतरिक्ष से पृथ्वी के सौंदर्य पर दृष्टि डालते हुए अंतरिक्ष-यात्री देखता है "आलोकित क्षितिज रेखा को जो उल्लासपूर्ण स्मित रेखा, नीले अंतरिक्ष के गले के रत्न-हार या पृथ्वी द्वारा पहने हुए बेलबूटेदार कमरबंद" जैसी लगती है। अंतरिक्ष-यान की खिड़की में आश्चर्यचकित तेजस्वी तारे झाँकते हैं जिन्हें देखकर युवती के स्मित का स्मरण हो आता है। नीलाकाश में चमकने वाले ये तारे आकाश के हाथों में धरे दीपकों-से लगते हैं। स्वतंत्रता की दिशा में झपट पड़ने वाली अप्सरा उर्वशी के समान अंतरिक्ष यान पृथ्वी की परिक्रमा करता है। अंत-रिक्षयात्री को पृथ्वी इन्द्रधनुप के सतरंगे प्रभामण्डल से वेष्टित दिखाई देती है।

कवि आकाश के महान्, शाश्वत रहस्य का उद्घाटन करने वाली मानव-बुद्धि के स्तुतिगीत गाता है।

"पर मुझ पर विजय पाकर मानवता को क्या मिलेगा?"—अंतरिक्ष पूछता है। मान लें कि चन्द्र, मंगल और शुक्र तक पर पृथ्वीवासी अपनी विजय-पताका फहराएँगे—पर इससे क्या मानव उस कठोर शक्ति को विजित या विनष्ट कर सकेगा जो उसके भाग्य पर शासन करती है?

पृथ्वी से आए हुए प्रथम दूत से, अर्थात् अंतरिक्षयात्री से अंतरिक्ष कहता है कि "वह अपने लोगों को उसका यह आवाहन विदित करे कि समय पर अधिकार पा एवं अंतरिक्ष को उसकी विश्वशासक शक्तियों से वंचित कर मानव का सेवक एवं सहा-यक बनाया जाए।" असंभव को संभव बनाकर, अन्तरिक्ष की अगम्य ऊँचाइयों तक पहुँचकर मनुष्य को फिर कभी भी भय एवं संदेह का अनुभव नहीं करना होगा। अन्तरिक्ष विजय से वह शाश्वत प्रकाश, आनन्द एवं प्रेम की प्राप्ति करेगा। "वह ऊर्ध्व सौंदर्य को, जीवन के शाश्वत् अर्थ को समझ पाएगा", क्योंकि "मानव विश्व की सर्वोच्च सृष्टि है, विश्व का केन्द्र है, सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, उपग्रह-मानव में यह सब-कुछ निहित है, वह सब-कुछ समझ सकता है।" अन्तरिक्ष आगे कहता है कि "दूसरे ग्रहों पर अपने साथ अज्ञान, अहंमन्यता, द्वेष एवं दुष्टता को न ले जाएँ ···तारा-मंडल की उज्ज्वल शान्ति को युद्ध के नारकीय संगीत से भंग न किया जाए और अन्तरिक्ष के विस्तार को रक्तरंजित युद्ध-क्षेत्र न बनाया जाए।"

अंतरिक्ष मार्ग मानव को हृदय से प्रत्याशित भविष्य के कवि के स्वप्नों में प्रतीक्षित विश्व-संस्कृति के 'स्वर्ण युग' के समीप ले जाता है—पंतजी के उक्त रूपक का यही प्रधान स्वर है।

सन् १९६४ के आरम्भ में दिल्ली के 'राजकमल प्रकाशन' ने पंतजी की

एक नई काव्य-पुस्तक 'लोकायतन'[१] प्रकाशित की। आधुनिक हिन्दी साहित्य में परिमाण की दृष्टि से यह सबसे बड़ी कविता है। इसमें लगभग बीस सहस्र पंक्तियाँ हैं और स्व० जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' से यह लगभग छः गुनी लम्बी है। पंतजी चार वर्ष (अक्तूबर १९५९ से लेकर अक्तूबर १९६३ तक) इसका लेखन करते रहे। नवम्बर १९६५ में पंतजी को 'सोवियत भूमि' पत्रिका की 'सोवियत-भारत मैत्री संवर्द्धन निधि' द्वारा उक्त ग्रन्थ पर प्रथम साहित्यिक पुरस्कार प्राप्त हुआ।

उक्त काव्य-ग्रन्थ का नाम 'लोकायतन' प्रतीकात्मक है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में पंतजी लिखते हैं कि यौवन-काल ही से, मातृभूमि के उज्ज्वल भविष्य के संबंध में स्वप्न देखते हुए वह कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'शांतिनिकेतन' के समान अपना 'लोकायतन' संगठित करना चाहते थे। पर उनके स्वप्नों का साकार होना नहीं बदा था।

दार्शनिक ढंग से वास्तविकता का अर्थोद्‌घाटन करने और वर्तमान तथा भविष्य के साथ अतीत का संबंध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील पंतजी ने यहाँ पहली ही बार महाकाव्य शैली का प्रयोग किया है। पंतजी ने स्वयं ही ग्रन्थ के उपशीर्षक में इसे 'लोक जीवन का महाकाव्य' कहा है।

वर्तमान शताब्दी के षष्ठ दशक के 'शिल्पी', 'रजत शिखर', 'सौवर्ण' आदि काव्य-रूपकों को गीत-मुक्तककार कवि के लिए नई काव्य-कथा शैली का पूर्वाभास ही कहना चाहिए।

ग्रन्थारम्भ में पाठकों के प्रति चार शब्द कहते हुए "वर्तमान पीढ़ी के शीघ्र परिवर्तनशील एवं विकासशील जीवन" का सत्य एवं विस्तृत रूपांकन करने के लिए प्रयत्नशील आधुनिक लेखक के मार्ग में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ बताते हुए कवि अपना यह कर्तव्य मानता है कि वह वास्तविकता के केवल उन्हीं पहलुओं का उद्‌घाटन करे, जो उसके मतानुसार वर्तमान युग के सारतत्त्व के स्पष्टीकरण एवं बोधग्रहण के लिए अत्यधिक आवश्यक हो।

उक्त कविता में दो धाराओं का संगम हुआ है—एक है भारत तथा दूसरे देशों में घटने वाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं के महाकाव्यात्मक वर्णन की धारा; और दूसरी है भारतीय जाति तथा समस्त मानव जाति के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के संबंध में दार्शनिक विचारों की धारा। चतुर्दिक् की वास्तविकता की ओर कवि अपनी आदर्शवादी विचारधारा के त्रिपार्श्व काँच से देखता है, अपने 'जीवन दर्शन' की भूमिका के आधार पर विभिन्न घटनाओं, प्रसंगों एवं वस्तु-स्थितियों के संबंध में मूल्यांकन करता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उसके

१. श्री सुमित्रानंदन पंत, 'लोकायतन, लोक-जीवन का महाकाव्य', दिल्ली, १९६४। आगे इस अध्याय में अनूदित सब उद्धरण इस संस्करण के अनुसार हैं।

'जीवन दर्शन' की सर्वोपरि विशेषता यह है कि वह श्री अरविन्द घोष के दार्शनिक विचारों एवं गांधीजी के सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोणों से प्रभावित है।

उक्त कविता में यथार्थ वास्तविकता साधारणीकृत-प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत है। उसमें एक भी ऐसा चरित्र नहीं है जो जीवन में यथार्थत: विद्यमान हो सके। कविता की कथावस्तु के चरित्र कवि के विभिन्न विचारों एवं दृष्टिकोणों के प्रतीक रूप काल्पनिक व्यक्ति मात्र हैं। इस संदर्भ में पंतजी ने जयशंकर प्रसाद द्वारा आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'कामायनी' के साथ आरम्भ की गई परंपरा का ही अनुसरण किया है। जिस प्रकार 'कामायनी' के नायक मनु के द्वारा आधुनिक मनुष्य के भावों एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिली है, उसी प्रकार 'लोकायतन' के प्रधान नायक विद्वान, दार्शनिक, कवि वंशी के द्वारा आधुनिक युग की कई नैतिक-सौंदर्यविषयक तथा सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के संबंध में पंतजी के दृष्टिकोण प्रकट हुए हैं। पंत-काव्य के कुछ भारतीय आलोचक वंशी की प्रतिभा का संबंध पं० जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व से जोड़ते हैं।[1]

यह महाकाव्य गठन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त है।

पहले भाग का शीर्षक है 'बाह्य परिवेश', जिसके अन्तर्गत १. 'पूर्व स्मृति : आस्था', २. 'जीवन द्वार', ३. 'संस्कृति द्वार', ४. 'मध्य बिन्दु : ज्ञान' शीर्षक चार अध्याय हैं। इस भाग में कवि भारत के निकट अतीत एवं वर्तमान की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के अर्थोद्घाटन के लिए प्रयत्नशील है।

दूसरे भाग का शीर्षक है 'अन्तश्चैतन्य', जिसके अन्तर्गत १. 'कला द्वार', २. 'ज्योति द्वार', ३. 'उत्तर स्वप्न, प्रीति' शीर्षक तीन अध्याय हैं। इस भाग में पंतजी ने आदर्शवादी विचारधारा की भूमिका से विज्ञान एवं कला की उपलब्धि का मूल्यांकन करते हुए आधुनिक समाज के आध्यात्मिक जीवन के विकास के संबंध में अपने दृष्टिकोण अभिव्यक्त किए हैं। यहाँ उनका ध्यान भारतीय जाति के स्वाधीनता संघर्ष, भारत द्वारा स्वातंत्र्य-प्राप्ति और नवीन स्वाधीन शासन की विकास योजनाओं एवं मार्गों पर केन्द्रित रहा है। पहले ही की तरह कवि ने गांधीजी के व्यक्तित्व एवं विचारों पर विशेष ध्यान दिया है। भारतीय जाति के स्वाधीनता संघर्ष के महत्त्वपूर्ण चरणों को गांधीजी के नाम से संबद्ध करते हुए कवि लिखता है :

नवयुग के प्रथम पुरुष तुम,
गत युग के अन्तिम मानव
जीवन विकास क्रम तुम-से
नर वर से भू पर संभव !" (पृष्ठ १४०)

वह गांधीजी के साथ भारत के सभी गाँवों में जाकर लोगों को सत्याग्रहार्थ

१. डॉ० सत्यकाम वर्मा, 'महाकवि पंत', दिल्ली, १९६४, पृ० १११।

आवाहन करने, उनके साथ मातृभूमि की स्वतन्त्रता एवं सुख-समृद्धि के लिए तन, मन, धन वारने को तैयार है (पृष्ठ ५७)।

आखिर अनेक पीढ़ियों का युग-युग का स्वप्न साकार हो जाता है—भारत को स्वाधीनता की प्राप्ति होती है।

कवि को १९४७ की दुःखद घटना का अर्थात् हिन्दू-मुसलमानों के बीच के रक्तरंजित कांड और देश-विभाजन का स्मरण हो आता है। कवि के शब्दों में देश का बँटवारा एक भयानक गलती, पाप, अपराध था :

> दो खंड देश बंट जाए—
> यह हो त्राशा का पातक,
> दो टूक हृदय फट जाए,
> भावी मंगल हित घातक! (पृष्ठ १२९)

महाकाव्य का नायक वंशी दुःखित हृदय से चारों ओर फैले हुए भयानक दारिद्र एवं अज्ञान पर खेद प्रकट करता है। जहाँ भी वह नज़र डालता है, उसे भारत के सभी नगरों की जननी ग्राम भूमि का मैला अंचल दिखाई देता है :

> देखा वंशी ने हत दृग,
> दारिद्र्य आक्षितिज फैला,
> नगरों की माँ ग्राम्या का।
> आंचल कर्दम से मैला! (पृष्ठ १५७)

वंशी के दृष्टिकोण से युग कवि शंकर तथा उसका पुत्र अतुल सहमत हैं। ये दो चरित्र आधुनिक संसार में साहित्य एवं कला की भूमिका के विषय में पंतजी के विचारों के प्रतीक हैं। शंकर तथा अतुल वंशी को इस विचार से प्रेरित कर देते हैं कि लोगों के लिए अन्न एवं वस्त्र तो आवश्यक है, पर संस्कृति एवं कला से वंचित मनुष्य पशु ही में परिवर्तित हो जाता है :

> खाद्यान्न परम आवश्यक,
> जन हित, संदेह न किंचित,
> पर, शिल्प कला संस्कृति से
> वंचित नर पशुवत जीवित! (पृष्ठ १७१)

आगे चलकर सांस्कृतिक क्रांति की चर्चा आती है—उस क्रांति की जो मानव-समाज के विकास की अनिवार्य सीढ़ी है और जिसकी आँखों को चौंधिया देने वाली किरणों में संप्रदायों, धर्मों, शत्रुत्व, द्वेप इत्यादि अतीत की छायाएँ सदा के लिए लोप हो जाएँगी, और स्वतः लोग धरती पर ऐसे स्वर्गीय जीवन की स्थापना करेंगे जो मानवता के प्रकाश से आलोकित होगा। साथ-साथ वह स्वीकार करता है कि आधुनिक युग में विज्ञान की उपलब्धियाँ सभी उत्पादन साधनों के विकास के महत्त्वपूर्ण उपकरणों का काम देंगी और वाष्प, विद्युत् तथा अणु

शक्ति से संसार के क्रियाकलाप शासित होंगे (पृष्ठ १७३), यन्त्रों ही की सहायता से कृषि का उत्थान होगा, सामूहिक श्रम के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होगी (पृष्ठ २६७)। इन सब बातों से भारतीय जाति की सुख-समृद्धि की प्रतिभूति मिलेगी (पृष्ठ २७३)।

पर मात्र दारिद्र एवं अभाव ही वंशी एवं उसके मित्रों की निराशा के कारण नहीं हैं। वह चारों ओर अन्धकार एवं अज्ञान के घने बादल देखता है जो सूरज को जनता से छिपाए रखते हैं, चारों ओर घुप्प अँधेरा फैलाए रखते हैं जिसमें अतीत की छायाएँ छिपी रहती हैं—ये हैं :

पुरोहित पंडे हो स्वार्थांध
अंधविश्वासों का बुन जाल
नरक में जन को गए ढकेल
देश को अन्धकार में डाल! (पृष्ठ ३१६)

भारतीय जाति को दारिद्र एवं अज्ञान से मुक्ति दिलाने, उसमें नई शक्ति तथा उत्साह फूँकने और उसे सृजन-पथ पर अग्रसर कराने के लिए प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं का पुनरुत्थान और ऐसे समाज की स्थापना करने की आवश्यकता है जो शासकों एवं शासितों में विभाजित न हो, जिसमें अतीत की मृत छायाएँ सदा के लिए लुप्त हों, सृजन, सुख एवं साहित्य का अविनश्वर साम्राज्य हो और लोगों को सुख एवं आनन्दमय जीवन का लाभ हो और वे प्रेम तथा मैत्री के सूत्र से बँधे रहें (पृष्ठ २६५)।

पर धरती पर ऐसे पूर्ण समाज की स्थापना का मार्ग कौनसा है? कवि स्वयं ही यह प्रश्न उठाता है।

और फिर वह लौट आता है 'सांस्कृतिक चेतना' विषयक अपने प्रिय विचार की ओर जो धरती पर 'विश्व एकता' की स्थापना कर सकेगी।

नए सत्यों एवं मूल्यों के उद्घाटन के मार्गों की खोज में लगा हुआ वंशी एक दीर्घ यात्रा के लिए प्रस्थान करता है—भारत की स्वतन्त्रता इस यात्रा का प्रथम चरण मात्र है। धरती पर विश्व-एकता की स्थापना करनी चाहिए—तभी जाकर, प्रेम के अमर सूत्रों में बँधे हुए लोग धरती पर एवं अपने अन्तस में स्वर्ग की स्थापना कर सकेंगे (पृष्ठ ११५)। वंशी वहाँ अपने स्वप्नों को साकार हुए देखने, मानव के बाधारहित विकास का एवं आत्मनाश के संकट से उसकी मुक्ति का मार्ग मिल जाने की आशा करता है क्योंकि फिलहाल तो :

शलभ की या यह मृत्यु उड़ान?
प्रलयकर रच बहु प्रक्षेपास्त्र
सान पर चढ़ा रहा, गढ़ मर्त्य
आणविक युग का सैनिक शास्त्र! (पृष्ठ ३७०)

वंशी यह जानने का प्रयत्न करता है कि सारे अमंगल की जड़ें कहाँ हैं और धरती के वासियों को सदा ही भय, दारिद्र एवं अधिकारहीनता में क्यों रहना पड़ता है। फिर सारे दुर्भाग्य की जड़ उसे इस वस्तुस्थिति में दिखाई देती है कि :

मंच पर उतरा पूँजीवाद
विजित कर बहु निरीह भू भाग,
लोक श्रम का शोषण कर रक्त
लूट जन-भू का स्वर्ण सुहाग
साथ आया अधिनायकवाद,
विश्व युद्धों की भड़का आग,
ह्रास विघटन के शत फन खोल
बना युग प्रहरी मणिधर नाग! (पृष्ठ ३७५)

वंशी के नेत्रों के समक्ष आधुनिक विश्व के चित्र उभर आते हैं। वह देखता है कि किस प्रकार बड़े वेग से राजनीतिक एवं सामाजिक क्रान्तियाँ आ रही हैं, अनेक राजसत्ताओं के तख्ते उलट रहे हैं, सामन्तवादी युग का अँधेरा छँट रहा है, अंतस के नए क्षितिज उद्घाटित हो रहे हैं और जीवन की घुटन तथा गतिहीनता नष्ट हो रही है। नव युग का उदय हो रहा है, जो ऊषा की स्वर्ण किरणों से आलोकित है। लोगों को एकत्र बाँध रखने वाले सूत्र उज्ज्वलतर हो रहे हैं। धरती पर नए-नए जनतंत्र अवतरित हो रहे हैं (पृष्ठ ३७४)।

नवीन युग का स्वर स्पष्टतर एवं अधिक आवाहनपूर्ण बनकर लोगों के हृदयों को विश्वास एवं आशा से भरपूर कर रहा है :

एशिया अफ्रीका भू खंड
जूझ होते जाते स्वाधीन,
जनों का वज्र मुष्टि संकल्प
निरंकुश अब न सकेगा छीन! (पृष्ठ ३७७)

अंधविश्वास नष्ट हो रहे हैं, पुरानी-धुरानी, कालविपरीत धारणाएँ बदल रही हैं और उनके स्थान में संसार, प्रकृति तथा मानव के प्रति नए वज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय हो रहा है। डारविन के क्रम-विकास एवं मार्क्स के क्रांतिकारी सिद्धांत ने समस्त मानवता में मूलतः परिवर्तन ला दिया है (पृष्ठ ३७८)—ये हैं संक्षेप में पंतजी के विचार।

फिर भी यह कहना आवश्यक है कि पंतजी सामाजिक क्रांति को नहीं, वरंच मनुष्य-स्वभाव के परिवर्तन को सामाजिक विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण चरण मानते हैं। वह कहते हैं कि क्रांति एवं व्यामोह की कृष्ण शक्तियों पर मानव मानस की क्रांति विजय पाएगी, युग-चेतना में तूफान लाएगी और शोषितों के बीच भयानक विप्लव खड़ा कर देगी (पृष्ठ ३८२)।

वंशी फ्रांस, इटली, यूनान, इंगलैण्ड आदि कई देश घूम आता है और इन सभी देशों के लोग उसके देशवासियों के मित्र बन गए हैं, पर पंतजी कहते हैं :

मित्र भारत के सब भू देश
रूस का उनमें अपना स्थान,
दलित भू-जन को जिसने भव्य
स्वप्न जीवन का दिया महान ! (पृष्ठ ३९८)

वंशी की सोवियत संघ की यात्रा का उक्त महाकाव्य में विस्तृत स्थान है। काव्य का यह अंश वस्तुतः स्वयं पंतजी द्वारा नवंबर १९६१ में की गयी सोवियत संघ की यात्रा का ही काव्यपूर्ण वर्णन है। कवि सोवियत देश के "सांस्कृतिक विकास, जनता के आध्यात्मिक सौंदर्य तथा उनके प्राण में चैतन्य प्रकाश" से चकित हो उठता है (पृष्ठ ३९८)।

"नम्र उन्मुक्त हृदय···
अतिथिशीलता···
सभ्यता संस्कृति पर
अनुरक्त, विचारों के
प्रति चित उदार···"

जैसे सोवियत जन के गुण वह देखता है (पृष्ठ ४०२)। सोवियत जनता में विद्यमान शांति-प्रेम को कवि उनके स्वभाव का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू मानता है। वह कहता है :

स्वस्थ शिशुओं का यह भू-स्वर्ग
देश की जो भविष्य संपत्ति,
संगठित जहाँ अर्थ मन कर्म
टूट सकती क्या वहाँ विपत्ति ?
शांतिकामी यह जनप्रिय भूमि
वृहत् हो रहा लोक निर्माण,
मिटा जन का दुख-दैन्य तमिस्र
दे रही भू नव युग आह्वान ! (पृष्ठ ३९९)

सोवियत संघ के अभूतपूर्व वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास को देखकर कवि दाँतों तले उँगली दबाता है—यह ऐसा देश है जहाँ सब-कुछ जनता के लिए सृष्ट होता है, जहाँ विज्ञान मानव की सेवा करता है। यह देवदूतों का उत्कृष्ट देश है जहाँ प्राकृतिक एवं भौतिक श्री-समृद्धि की कोई सीमा नहीं। यहीं विश्व का सर्वप्रथम उपग्रह छोड़ा गया जिसने अंतरिक्ष के सीमारहित विस्तारों को नाप लिया और आकाश के द्वार खोल दिए (पृष्ठ ४०१)। सोवियत संघ के नगरों के सौंदर्य एवं महानता से कवि मुग्ध हो उठता है। इनमें हैं द्नेप्र नदी के तटवर्ती

सुन्दर नगर कीयेव जो रूसी नगरों की माता कहलाती है, क्रांति का गढ़ लेनिनग्राड शहर, तथा मास्को नगर जो क्रेमलिन की प्राचीन दीवारों को सँभाले हुए हैं और जहाँ लेनिन का स्तूप पवित्र—उस लेनिन का जिन्हें पंतजी कहते हैं :

लौह दृढ़ शिरा, वज्र संकल्प,
हृदय हो विगलित करुणा स्वर्ण,
धरा पर विचरा नव युग दूत
दलित को करने मुक्त सपर्ण !

पंतजी महान् अक्तूबर क्रान्ति की चवालीसवीं वर्षगाँठ के उत्सवीय अवसर पर लाल चौक में उपस्थित थे। इस पुस्तक के पढ़नेवालों को यह जान लेने के लिए मैं यह ज़िक्र करता हूं कि उस दिन मैं अपने दोनों लड़कों के साथ भी लाल चौक में पंतजी के साथ उपस्थित था। उस समय के सैनिक संचलन एवं श्रमिकों के प्रदर्शन ने पंतजी पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। सोवियत सेना का वर्णन पंत जी "वर्गविहीन समाज का अमित सामूहिक वल" इन शब्दों में करते हैं। सोवियत संघ की वल-वृद्धि में कवि को विश्व-शान्ति की रक्षा की प्रतिभूति दिखाई देती है :

शीत-रण भीत धरा जब प्राण
गरजता सिर पर विश्व विनाश,
शान्ति रक्षक होगा जब देश
हृदय में युग कवि के विश्वास !
शान्ति के बिना अधूरी क्रान्ति—(पृष्ठ ४०२)

अनेक देशों की जनताओं के जीवन से परिचय पाकर वंशी अपनी जनता के और समस्त मानवता के भाग्य के विषय में सोचने लगता है। आणविक शस्त्रास्त्रों की स्पर्धा से वह वहुत ही चिन्तित है। विश्व-युद्ध की भयानकता का और हिरोशिमा की दुःखांत घटना का, जिससे :

"स्मरण कर हिरोशिमा का कांड
हरा हो उठा मनुज का घाव" (पृष्ठ ४१५)

वंशी को स्मरण हो आते ही वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि संसार की अव्यवस्था की समाप्ति का एकमात्र मार्ग है—एकमात्म सांस्कृतिक आन्दोलन में समस्त मानवता का संगठन। वह विविध जनों से आवाहन करता है कि वे शान्ति तथा मैत्री के साथ रहें और धरती पर सुखमय तथा समृद्धिशील जीवन की स्थापना करें।

मातृभूमि को—अपने सुन्दरपुर नगर को—लौट आकर वंशी अपने अनेकानेक शिष्यों को प्रेम, शान्ति एवं सृजन के पथ पर अग्रसर कराने का, उन्हें अखिल मानवता के बंधु-भाव की स्थापना से अनुप्राणित कर देने का प्रयत्न करता है। यह सुन्दरपुर नगर दिल्ली ही की प्रतिमा-सा लगता है। हाँ, अपनी मातृभूमि तक में

वंशी और उसके साथी अपने को ऐसे अनेकानेक शत्रुओं से घिरे पाते हैं जो तरह-तरह के षड्यंत्रों के जाल बुनने में लगे हुए हैं, जन-जन के बीच वैमनस्य एवं द्वेष के बीज बोने और लोगों को शान्ति एवं प्रगति के पथ से भ्रष्ट कराने के लिए प्रयत्नशील हैं। समस्त कृष्ण-शक्तियों के अगुआ हैं माधो और वाग्विलास जो श्री सत्यकाम वर्मा[1] के अनुसार भारतीय प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतीक हैं :

प्रीति का मुखड़ा पहन उदात्त
हृदय में पाते गोपन क्लेश ! (पृष्ठ ३३२)

" 'द्वेषी-द्रोही युग विद्रोही' इससे सहमत नहीं हैं। वे वंशी के विरुद्ध समाज का मत उभाड़ने के लिए प्रयत्नशील हैं। भारत पर संकट के बादल मँडरा रहे हैं, जहाँ लोग फिर शत्रुत्व एवं घृणा के जाल में फँस सकते हैं।" (पृष्ठ ५१३)

भारत में अमंगल और हिंसा की शक्तियों पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाए इसका विचार करते हुए वंशी इस निर्णय पर पहुँचता है कि :

सत्याग्रह ही से
यदि संभव तो,
संभव मानवता का संरक्षण। (पृष्ठ ५९३)

वह मानता है कि विश्व-क्रान्ति का समय आ चुका है और उसका साकार होना तभी संभव है जब धरती के सारे लोग "नव चेतना का एवं मानव तथा समाज के आध्यात्मिक विकास की सभी संभावनाओं के उद्घाटन का मार्ग" अपना लेंगे। वंशी की मान्यता है कि प्रेम को घृणा एवं हिंसा के विरुद्ध प्रधान शस्त्र बन जाना चाहिए।

माधो तथा वाग्विलास के विरुद्ध वंशी के संघर्ष में उसका पूरा साथ देती है उसकी विश्वासपात्र सहेली मेरी जो अंतर्राष्ट्रीयता के विचार की प्रतीक है। यह मानते हुए कि सत्य एवं सच्चे सद्भाग्य की विजय तभी हो सकती है जब समस्त मानवता द्वारा निर्मित आध्यात्मिक मूल्यों की रागात्मक एकता की स्थिति उत्पन्न होगी। मेरी नया जीवन-पथ खोज लेती है। वंशी के साथ वह धरती का भ्रमण कर लेती है और भारत लौटने पर हिमालय में प्रेम तथा बंधुत्व का सदन स्थापित करती है, जहाँ समस्त संसार के लोग जीवन का सत्य एवं अर्थ देख पाते हैं, जहाँ समस्त मानवता की संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों का संगम हुआ है और जहाँ से 'ऊर्ध्व संचरण' का स्रोत फूट निकलता है।

'लोकायतन' महाकाव्य पंतजी की युद्धोत्तरकालीन रचनाओं में से सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें पंतजी के सौंदर्य-विषयक आदर्श अत्यधिक स्पष्टता के साथ प्रकट हैं और उनकी वैचारिक भूमिका की झलक मिलती है। हमें लगता है कि जिस मात्रा में पंतजी आदर्शवादी दर्शन के घने वन की गहराइयों में पैठने जाते

१. सत्यकाम वर्मा, 'महाकवि पंत' पृ० १११।

हैं, उतनी ही मात्रा में उनकी कविता का कलात्मक स्तर गिरता जाता है, उसकी भावात्मक परिपुष्टि, भाषा का सौंदर्य, उज्ज्वलता एवं अभिव्यक्तिशीलता घटती है, प्रतिमांकन धुंधला-सा होता जाता है। उक्त काव्य में दार्शनिक चर्चाएँ एवं तर्क बहुत ही एकस्वर, शुष्क एवं कृत्रिम लगते हैं जिनके कारण सदा ही रचना के संगठन को धक्का लगता है। पर साथ-साथ इस महाकाव्य के वे अंश बड़े ही काव्य-पूर्ण बन पड़े हैं जहाँ कवि वंशी की यात्राओं तथा प्रकृति के सौंदर्य का अंकन करता है और जहाँ मातृभूमि के भाग्य के विषय में कवि के विचार प्रकट होते हैं। इससे फिर एक बार इस विचार की पुष्टि होती है कि पंतजी का सच्चा क्षेत्र गीत-मुक्तकात्मक काव्य-क्षेत्र ही है। और गीत-मुक्तककार के नाते ही वह भारत में सार्वत्रिक आदर एवं प्रेम के धनी हो चुके हैं।

९

पंत की परवर्ती काव्यशैली की विशेषताएँ

वर्तमान शताब्दी के पंचम दशक से लेकर सप्तम दशक तक की पंतजी की कविता मुक्त मानवता के स्वर्ण युग संबंधी स्वच्छंदतावादी स्वप्न से अनुप्राणित है और उसकी विशेषता यह है कि यहाँ कवि आम तौर पर स्वच्छंदतावादी शैली की ओर लौट आया है जो उसकी प्रारंभिक काव्यसाधना में विद्यमान थी। उक्त काल-खण्ड की पंतजी की रचनाएँ 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' शीर्षक संग्रहों की अपेक्षा 'पल्लव' एवं 'गुंजन' के स्वच्छंदतावादी गीत मुक्तकों के निकटतर हैं। फिर भी पंतजी की उत्तरकालीन काव्य-शैली में यौवनोन्माद की भावना, कल्पना की असीम उड़ान और उछलती हुई भाव-धारा का लगभग अभाव-सा है जबकि उनकी पूर्वकालीन कविता की ये विशेषताएँ थीं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार पंतजी की युद्धोत्तरकालीन कविता ऐसे मंद-प्रवाही स्रोत का स्मरण दिलाती है जो स्वर्णोदय की किरणों से आलोकित हो। पहले के सौंदर्यात्मक आदर्शों तथा पूर्ण जीवन के स्वच्छंदतावादी स्वप्न की ओर पुनरागमन के साथ-साथ पंतजी की कविता में उन्हीं के द्वारा तृतीय दशक में विकसित किए गए भाषा, शैली एवं काव्य-साधनों के भण्डार का भी पुनरागमन हुआ।

पहले ही की तरह परंपरित रूपकों एवं उपमाओं की बहुतायत पंतजी के काव्य की विशेषता रही है। ये मानवतावादी आदर्शों से अनुप्राणित प्रकृति-चित्रों से भरपूर रहे हैं और उनके द्वारा चतुर्दिक् की वास्तविकता की ओर मानव तथा समाज के आध्यात्मिक जीवन की बहुत-सी समस्याओं के प्रति कवि के दृष्टिकोण भावपरिपुष्ट शैली में प्रकट हुए हैं। पंतजी की युद्धोत्तरकालीन कविता में ये चित्र

अधिक स्पष्ट एवं साकार रूप से उभर आए हैं। उन पर से कल्पना का रहस्यमय आवरण जैसे हट गया है। प्रकृति-चित्र अपने-आप का महत्त्व पूर्णतया खोकर वास्तविकता तथा कवि के भावों एवं अनुभूतियों के प्रतीकात्मक उद्घाटन के साधन बन गए हैं। नियमतः वे ऐसे स्वच्छंदतावादी प्रतीकों की भूमिका प्रस्तुत करते हैं जो मानवता के सांस्कृतिक विकास, भावी 'स्वर्ण युग' एवं 'ऊर्ध्व चेतना' के विषय में कवि के स्वप्नों एवं विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। 'नव ऊर्ध्व चेतना' पंतजी स्वर्ण किरणों के प्रतीक से संबंधित करते हैं :

जगे तरु नीड़ सकल
खगों की भीड़ विकल
पवन में गीत नवल
गगन में पंख चपल !
अधखिले स्वप्न नयन
चूमती स्वर्ण किरण !

अब पंतजी की रचनाओं में से परंपरागत अलंकार लगभग लोप हो गए हैं जो उनके प्रारम्भिक काव्य में काव्याभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के साधारण साधनों का काम देते थे। पंतजी ने अलंकारों में से उपमा का विशेष विस्तृत रूप में प्रयोग किया है और कविता में प्रेरणात्मकता का रंग लाने में इसका विशेष स्थान रहा है। कवि के विशिष्ट सामाजिक दृष्टिकोणों एवं मूल्यांकन की अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन का भी काम इन उपमाओं ने दिया है। उदाहरणार्थ, सभी बातों में पश्चिमी बुर्जुआ संस्कृति का अंधानुकरण करने वाले अपने देशवासियों के प्रति अस्वीकार की भावना व्यक्त करते समय पंतजी ने उनके अंग्रेज़ी भाषण की तुलना तोतारटन के साथ की है—तोता तो विना अर्थ समझे-बूझे विदेशी शब्दों को दुहराता रहता है। बाह्य रूप की दृष्टि से भी अंग्रेज़ी जैसे दिखाई देने के उनके प्रयत्न की हँसी उड़ाते समय पंतजी ने टाई की तुलना गले में अटके हुए फाँसी के फंदे से की है (देखिए 'ग्रामीण', १९४७)।

युद्धोत्तरकालीन कविता में पंतजी ने स्वतंत्र या मुक्त छंदों से छुट्टी ली है। उनकी प्रारंभिक स्वच्छंदतावादी कविता में इन्होंने भावपरिपोषण को सशक्ततर बनाने के साधन के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। अब उनकी कविता में समतलता, धीर प्रवाहिता एवं रागबद्धता आ गई है जिससे बहु-रंगी मनोविन्यास, आशा और भविष्य के विषय में कवि के विश्वास को बल मिला है।

पहले ही की तरह कविता के वैचारिक आशय के स्पष्टतर उद्घाटन में ध्वनि-चित्र सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ, निम्नांकित पंक्तियों में 'द्वार',

'अपार' शब्दों के दीर्घ 'आ' पर आने वाले वल का परिणाम यह होता है कि स्वर्ण किरणों से आलोकित नवयुग में मनुष्य के समक्ष उपस्थित होने वाली असीम, विशाल संभावनाओं का विचार केन्द्रित होकर उसे वल मिलता है :

खुला अव ज्योति द्वार,
उठा नभ प्रीति द्वार
सृजन शोभा अपार

लगभग प्रत्येक कविता में प्रयुक्त 'स्वर्ण' विशेपण शब्द जैसे पंतजी की समस्त कविता में पिरोया हुआ सूत्र ही वन जाता है और इससे नवीन 'स्वर्ण युग' के उदय की अनिवार्यता के विचार को वल मिलता है। कभी-कभी तो पंतजी 'स्वर्ण' विशेपण शब्द का प्रयोग ऐसी कील ही के समान करते हैं जिसके चारों ओर कविता का आशय घूमता रहता है। उदाहरणार्थ :

स्वर्णिम पराग, स्वर्णिम पराग !
यह उड़ता सुमनों से मन के,
जीवन का स्वर्ण हास्य वन के

माला की मणियों की तरह एक के वाद एक प्रयुक्त समान-सी ध्वनि वाले शब्द सुगठित लय-चित्र में, एक समतल ध्वनि प्रवाह में सुवद्ध होकर सार्वत्रिक आनन्द के, नवीन युग के उदय के उत्सवीय मनोविन्यास को सवल वनाते हैं, उसे ऊपर उठाते हैं। उदाहरणार्थ :

ज्योति नीड़ के विहग जगे, गाते नव जीवन मंगल
रजत घंटियाँ वजीं अनिल में, ताली देते तरु दल।

इस प्रकार, डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, कलात्मक रूपांकन प्रणाली पर अधिकार ने पंतजी को हिन्दी काव्य-क्षेत्र में नए रूप के, पूर्णतया नई कला के सृजन का अवसर दिया।[1] इस संदर्भ में पंतजी की कलात्मक प्रणाली के स्वरूप संवंधी सवाल उठता है। यद्यपि भारत में पंतजी के विषय में अव तक वहुत ही लिखा गया है, तथापि उनकी कला-प्रणाली के विकास की समस्या लगभग अछूती ही रही है। यदि कभी-कभार पंतजी की कला-प्रणाली के विषय में चर्चा छिड़ती ही है, तो नियमतः उसमें उनकी कविता का स्वच्छंदतावादी स्वरूप ही दर्शाया जाता है।[2]

यह सही है कि कभी-कभी पंतजी की चतुर्थ दशक के अन्त की कविता में यथार्थवादी तत्त्वों की वात की जाती है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त लिखते हैं : 'ग्राम्या' की टेकनीक में हमें अनेक नये गुण मिले। 'ग्राम्या' के कवि की कला यथार्थ की ओर मुड़ रही है। उसकी कल्पना आज जीवन की वास्तविकता से प्रेरणा खोज रही

---

१. देखिए—नगेन्द्र, 'सुमित्रानंदन पंत', पृ० १२०।
२. देखिए—रवीन्द्रसहाय वर्मा, 'हिन्दी कविता पर आंग्ल प्रभाव', पृ० २५२।

है।"[1] पर पंतजी के काव्य के स्वच्छन्दतावादी स्वरूप की बात सदा ही की जाती है।

समस्त हिन्दी साहित्य की विकास-प्रक्रिया के एक अंग के रूप में पंतजी की काव्यसाधना का अवलोकन करने से ही उनकी कला-प्रणाली के गठन एवं विकास के जटिल स्वरूप को समझ पाना संभव है। इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में आ रहे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों तथा तत्कालीन भारतीय समाज के जटिल आध्यात्मिक जीवन को भी ध्यान में लेना आवश्यक है। भारतीय बुद्धिजीवियों में विद्यमान और भारत में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के उभार तथा उस आन्दोलन की विचारधारा के गठन के काल में जटिल परिस्थिति के कारण उत्पन्न बहुत-सी असंगतियाँ पंतजी में भी विद्यमान थीं। इसी कारण पंतजी के स्वच्छंदतावाद में वैचारिक-सौंदर्यात्मक भिन्नता आई, इसी कारण उनके काव्य में सृजन-पथ के विभिन्न चरणों में विभिन्न प्रकार से विकसित प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का आदान-प्रदान संभव हुआ।

वास्तविकता और कवि के आदर्शों के बीच की तीव्र असंगति के कारण उसमें संसार को परिवर्तित देखने की सतत एवं तीव्र प्यास उत्पन्न हुई और संसार के पूर्ण जीवन के विषय में स्वच्छंदतावादी स्वप्न जाग्रत हुआ। सामाजिक विकास के नियमों के सम्बन्ध में निश्चित धारणा के अभाव और स्वामी विवेकानन्द, गांधीजी तथा श्री अरविन्द के भाववादी-मानवतावादी विचार के धरातल के स्वीकार के कारण पंतजी उज्ज्वल भविष्य संबंधी स्वच्छंदतावादी स्वप्न से आगे नहीं बढ़ पाते। इसीलिए आम तौर पर उनकी काव्य-साधना में ऐतिहासिक परिस्थितियों पर आधारित वास्तविकता का प्रतिबिंब देखने को नहीं मिलता। अपने ही धार्मिक-दार्शनिक आदर्शवादी स्वप्नों में मग्न पंतजी एक स्वच्छन्दतावादी और कभी-कभी प्रतीकवादी कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। फिर भी जीवन के प्रति कवि के आशावादी दृष्टिकोण और उर्ध्व मानवतावाद के कारण उसकी कविता में प्रतिक्रियावादी स्वच्छंदतावाद की जीत नहीं हो सकी है। कवि व्यक्तित्व की स्वतंत्रता का समर्थन करता है, मानव को श्रेष्ठतम मानता है, उसके आध्यात्मिक सौंदर्य के गीत गाता है, दुःख एवं पीड़ा से छुटकारा मिल जाने की अनिवार्यता में विश्वास बढ़ाता है और मानव में उज्ज्वल भविष्य विषयक, स्वतंत्र समृद्धिशील मानवता के स्वर्ण युग विषयक स्वप्न जगाता है। प्रगतिशील स्वच्छंदतावाद के ये पहलू ही चतुर्थ दशक के अन्त की पंतजी की कविता में अत्यधिक विकसित हुए हैं। इनके फलस्वरूप पंतजी में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं जो सबसे पहले जनसाधारण के जीवन के प्रति कवि के दृष्टिकोण, तीव्र आलोचनात्मक दृष्टि, सामाजिक दोषों के व्यंग्यात्मक अंकन, कलारूप के भाषादि तत्त्वों के लोक-

१. प्र० च० गुप्त, 'नया हिन्दी साहित्य, एक भूमिका', वाराणसी, १९५३, पृ० १३७।

तंत्रीकरण और कविता में लोकगीतात्मक परम्परा के विकास में प्रकट हुई हैं। फिर भी पंतजी के काव्य में भविष्य के विषय में स्वप्नशीलता और स्वच्छंदतावादी आकांक्षा सदा ही वास्तविकता के यथार्थवादी उद्घाटन एवं प्रतिबिंबांकन से ऊपर रही हैं।

प्रगतिशील स्वच्छंदतावाद की भूमिका से पंतजी भारतीय साहित्य में प्रतिक्रियावादी, लोकतन्त्र-विरोधी प्रवृत्तियों के प्रसार के विरुद्ध, पश्चिम की पतनशील बुर्जुआ विचारधारा के प्रभाव के विरुद्ध और अन्धराष्ट्रवादी विचारों के विरुद्ध संघर्षरत रहे हैं। उक्त प्रवृत्तियाँ कई लेखकों की चेतना को विषाक्त कर उन्हें मानवतावाद, शान्ति और प्रगति के पथ से भ्रष्ट कर रही थीं।

युद्धोत्तर काल की पंतजी की कविता में भविष्य के प्रति स्वच्छंदतावादी आकांक्षा अपनी उज्ज्वलता के चरमविन्दु पर पहुँची, निष्क्रिय स्वच्छंदतावादी स्वरूप धारण करने वाले भाववादी-मानवतावादी आदर्शों का सहअस्तित्व एवं विकास उसमें जारी रहा और वह भी व्यक्तित्व की तथा समस्त मानवता की मुक्ति सम्वन्धी उच्च स्वप्न के तथा निकटवर्ती महान् सामाजिक परिवर्तनों के पूर्वाभास की जटिल सहप्रक्रिया के साथ-साथ। वास्तविकता को परिवर्तित करने, प्रकृति की शक्तियों को अपने अधीन वनाने और अमंगल एवं अन्याय को सदा के लिए मिटा देने में समर्थ मानव में दृढ़ विश्वास ने पंतजी की इधर की कविता में जीवन-समर्थक एवं जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित धारा को जन्म दिया और उनकी कविता को प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी स्वरूप प्रदान किया।

कभी-कभी पंतजी की साधना एवं विचारधारा को उनके राष्ट्रीय मूलाधार से अलग कर देने के प्रयत्न हमें देखने को मिलते हैं। डॉ० नगेन्द्र का निम्नलिखित कथन हमें अल्पसमर्थनीय लगता है। वह कहते हैं: "आधुनिक युग के विधायक कवियों में पंत को जो पुरातन के प्रति सबसे कम मोह रहा है इसका कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता का प्रभाव अपने अन्य सहपाठियों की अपेक्षा अधिक है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शेली, कीट्स, टेनीसन से अधिक काव्य-प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद् और षट् दर्शन की अपेक्षा हीगल और मार्क्स का उनकी विचारधारा पर अधिक प्रभाव पड़ा है।"[१]

श्री रवीन्द्रसहाय वर्मा, जो मानते हैं कि पंतजी पर बर्गसाँ और बर्नर्डशॉ के 'सृजनशील क्रम-विकास' के सिद्धान्त का बड़ा प्रभाव पड़ा है, पंतजी पर विदेशी संस्कृति के प्रभाव को यों ही बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते हैं। 'आध्यात्मिक चेतना' की ओर पंतजी की कविता का मोड़ उन्हें टी० एस० इलियट के समीप लाता है, क्योंकि दोनों कवियों की यह मान्यता है कि अतीत की संस्कृति के संकट

१. नगेन्द्र, 'पंत का नवीन जीवन-दर्शन'—'आज-कल', सितम्बर, १९४९, पृ० १०।

का कारण उसमें 'अध्यात्मिकता' की आपर्याप्तता ही है—श्री रवीन्द्रसहाय वर्मा का यह कथन भी स्पष्ट अतिशयोक्ति ही है।

पर पश्चिमी प्रभाव के विषय में ऐसी ही अतिशयोक्ति कवीन्द्र-रवीन्द्र एवं बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय विषयक कुछ विदेशी आलोचनात्मक लेखों में भी पाई जाती है। कवीन्द्र-रवीन्द्र को कभी-कभी 'बंगाल के शेली' और वंकिमचन्द्र को 'भारतीय वाल्टर स्काट' कहा जाता है। पर ऐसा दृष्टिकोण मूलतः गलत है। रवीन्द्र-निर्मित भारतीय साहित्य के क्लासिकों की तरह प्रथितयश आधुनिक हिन्दी कवि पंतजी की काव्य-साधना का सृजन एवं फलदायी विकास भी राष्ट्रीय आधार पर और राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रभाव के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता था।

कवीन्द्र-रवीन्द्र ही की तरह वैचारिक आशय एवं कलात्मक काव्य-रूप के क्षेत्र में पंतजी के नव-प्रयोग अन्य देशों के और विशेषकर अंग्रेज़ी साहित्य के अनुभव के सृजनात्मक अर्थोद्‌घाटन के क्षेत्र में उनके सभी प्रयत्न एवं प्रयोग, विश्व-साहित्य की उत्कृष्ट उपलब्धियों का अपनी राष्ट्रीय भूमि में स्थानान्तरण—इन सबका अर्थ यह नहीं कि वह अपने राष्ट्रीय आधार से हट गए, अपितु यह कि इनके द्वारा उन्होंने राष्ट्रीय परम्परा को अधिक विकसित किया। दूसरे देशों के साहित्य एवं विचारधारा से अपनाई गई विशेषताओं को कवि ने भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ एकरूप बनाने का प्रयत्न किया।

पंतजी की विचारधारा के मूल्यांकन के विषय में भी ऐसी ही विरोधाभासात्मक बातें देखने को मिलती हैं—एक ओर रहस्यवादी पंत की बात की जाती है, तो दूसरी ओर मार्क्सवादी पंत की। पंतजी की विचारधारा की सर्वोत्तम ग्राहिता की बात हम पहले ही कर चुके हैं। इसमें आधुनिक भारतीय समाज के आध्यात्मिक क्रम-विकास की जटिल प्रक्रिया प्रतिबिंबित हुई है। कुछ आलोचक मानते हैं कि चतुर्थ दशक के अन्त में पंतजी मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हुए, वह केवल यौवन की एक उमंग के कारण जो 'तूफ़ान एवं बवंडर के काल' में स्वाभाविक ही थी—आगे वह मानते हैं कि पंतजी बाद में मार्क्सवादी विचारधारा से जैसे दूर हट गए हैं। पर हमें इस दृष्टिकोण का खण्डन करना चाहिए। देखिए इस सम्बन्ध में स्वयं कवि क्या कहता है: "आज भी (सन् १९५९ में) जब तक मानवतावाद की दृष्टि से, मैं विश्वजीवन के बाह्य पक्ष की समस्याओं पर विचार करता हूँ, तो मार्क्सवाद की उपयोगिता मुझे स्वयंसिद्ध प्रतीत होती है।"[१] और यह कोई एक घोषणा मात्र नहीं है।

अपनी सारी बुद्धिमत्ता, अपना समूचा जीवन कवि ने मानव-सेवा तथा अपने देशवासियों एवं समस्त मानवता की मुक्ति के कर्तव्य पर समर्पित कर दिया है: "पूर्ण नहीं कर सका अभी तक मैं प्रणिहित कवि-कर्म धरा पर", अपनी इस उक्ति

१. सु० पंत, 'चिदंबरा', पृ० १५।

को चरितार्थ करने का मैं संभवतः भविष्य में प्रयत्न कर सकूँ···अपने भीतर अब भी मैं नवीन चेतना के संघर्ष के गंभीर मेघ उमड़ते पाता हूँ और अब भी 'युगवाणी' के युग की अभीप्सा मेरे भीतर ज्यों-का-त्यों अपना कार्य करती प्रतीत होती है··· इस धरती के जीवन के प्रति अपने को सार्थक रूप में समर्पित करने का संघर्ष मैं निरन्तर अपने अन्तरतम में जागरूक पाता हूँ···अपने सृजन कर्म को समापन करने के उपरांत अपना शेष जीवन सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य को समर्पित करना चाहता हूँ।"[१]

१. सु० पंत, 'साठ वर्ष', पृ० ७४।

ग्रन्थकार का परिचय

चेलिशेव येवग्येनी पेत्रोविच ! जन्म : सन् १९२१ । जन्मस्थान : मास्को । मास्को विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त । विश्वविद्यालयीन अध्ययन अकादमीशियन अ० प० वरान्निकोव के मार्गदर्शन में । साहित्य में डाक्टरेट । प्राध्यापक, सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी के एशियाई जाति संस्थान के पूर्वी जातियों के साहित्य विभाग के प्रबंधक, अन्तर्राष्ट्रीय संबंध संस्थान के भारतीय भाषा विभाग के प्रबंधक, सोवियत-भारत सांस्कृतिक सम्बन्ध समाज के उपाध्यक्ष, सोवियत शान्ति रक्षा समिति के सदस्य, एशियाई एवं अफ्रीकी देशों की एकता विषयक सोवियत समिति के सदस्य ।

१९६७ में उनकी कृतियों तथा सोवियत-भारतीय सांस्कृतिक संबंधों का विकास करने के लिए नेहरू पुरस्कार प्राप्त किया गया ।

मौलिक साहित्य की सूची

१.	आधुनिक हिन्दी काव्य	: पुस्तक, मास्को १९६५, पृष्ठ ३७०
२.	हिन्दी साहित्य	: पुस्तक, मास्को १९६६, पृष्ठ संख्या ३८०
३.	आधुनिक भारतीय साहित्य में मानवता	: 'मानवतावाद एवं आधुनिक साहित्य' शीर्षक पुस्तक में निबद्ध, पृष्ठ संख्या ४०
४.	हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन-सम्बन्धी कतिपय प्रश्न	: 'एशिया एवं अफ्रीका की जातियाँ' नामक पत्रिका के १९६२ के ५वें अंक में लेख, पृष्ठ संख्या ३४
५.	भारतीय जातीय साहित्य में राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष का प्रतिबिम्ब	: 'स्वाधीन भारत' शीर्षक ग्रंथ में लेख, पूर्वी साहित्य संस्थान १९५७, पृष्ठ संख्या ६०

६.	आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास की मूलभूत धाराओं एवं प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में	: 'साहित्य विषयक प्रश्न' नामक पत्रिका के १९५० के १०वें अंक में लेख, पृष्ठ संख्या ३४
७.	भारतीय जातीय साहित्य की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के विकास में साहित्यिक सम्बन्धों का महत्व	: 'राष्ट्रीय साहित्यों का परस्पर सम्बन्ध एवं परस्पर कृतित्व' नामक संग्रह में लेख। मास्को, १९६१, पृष्ठ संख्या ३०
८.	आधुनिक भारतीय गद्य के विकास पथ	: 'भारतीय लेखकों की लघुकथाएँ, शीर्षक द्विखंडात्मक संग्रह की प्रस्तावना, मास्को १९५७, पृष्ठ संख्या ४०
९.	भारतीय साहित्य के बहुजातीय स्वरूप के सम्बन्ध में	: 'भारतीय साहित्य' शीर्षक ग्रंथ की प्रस्तावना 'प्रगति' प्रकाशन गृह, मास्को, १९६४, पृष्ठ संख्या ४५
१०.	रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साधना प्रणाली	: एशियाई जाति संस्थान की लघुलेख माला की संख्या क्र० ८०, मास्को १९६४, पृष्ठ संख्या ३०
११.	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	: पुस्तिका, 'ज्ञान' प्रकाशन गृह १९६१, पृष्ठ संख्या ६०
१२.	सुभद्राकुमारी चौहान और उसका काव्य	: 'विदेशी साहित्य' नामक पत्रिका के १९५८ के १०वें अंक में लेख, पृ०सं० २०
१३.	भारतीय काव्य में ब्ला० इ० लेनिन की प्रतिभा	: 'प्राच्य विद्या विषयक प्रश्न' नामक पत्रिका के १९६० के द्वितीय अंक में लेख, पृष्ठ संख्या २०
१४.	आधुनिक हिन्दी काव्य में सौंदर्य विषयक आदर्शों का क्रम-विकास	: 'एशियाई एवं अफ्रीकी जातियाँ' नामक पत्रिका के १९६१ के चतुर्थ अंक में लेख
१५.	महान् अक्तूबर क्रांति और भारतीय साहित्य	'महान अक्तूबर क्रांति और विश्व-साहित्य' पुस्तक में निबद्ध, १९६७, पृष्ठ संख्या ३०
१६.	आधुनिक हिन्दी काव्य में सौंदर्य-विषयक विचार का क्रम-विकास	: 'सौंदर्य विषयक विचार एवं पूर्वी देशों का साहित्य शास्त्र' नामक संग्रह में लेख 'विज्ञान', प्रकाशन गृह १९६४, पृष्ठ संख्या ३०
१७.	आधुनिक हिन्दी कवियों के सौंदर्य-विषयक दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में	: 'पूर्वी जातियों के साहित्यों में यथार्थवाद विषयक प्रश्न' नामक संग्रह में लेख, पूर्वी साहित्य संस्थान, १९६४, पृ०सं० २५

१८. रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सौंदर्य विषयक दृष्टिकोण	: 'सौंदर्यशास्त्र एवं कला' नामक संग्रह में लेख, सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी का भारतीय विभाग, मास्को, १९६६, पृष्ठ संख्या ३०
१९. सुमित्रानंदन पंत	: 'पूर्वी लेख संग्रह' के १९५८ के द्वितीय अंक में लेख, पृष्ठ संख्या २०
२०. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और हिन्दी काव्य को उनकी देन	: 'भारतीय साहित्य' नामक संग्रह में लेख, १९५८, पृष्ठ संख्या ७४
२१. निराला का काव्य	: 'पूर्वी लेख संग्रह' के १९५६ के प्रथम अंक में लेख
२२. नज़रूल इसलाम का काव्य	: 'नज़रूल इसलाम' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना, संकलन, मास्को, भारतीय साहित्य संस्थान, १९६३, पृष्ठ संख्या १५
२३. आधुनिक हिन्दी के शब्दभंडार की रचना एवं विकास-विधि विषयक प्रश्न	: शिक्षा विषयक टिप्पणियाँ, १३ खंड, सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी का प्राच्य विद्या संस्थान, १९५८, पृ०सं० ५०
२४. रूसी-हिन्दी लघु शब्द-कोष	: विदेशी शब्द-कोष, प्रकाशन गृह, मास्को, १९५८, पृष्ठ संख्या लगभग ४००, द० म० दीमषित्स के सहयोग में।
२५. भारतीयों के लिए रूसी पाठ्य-पुस्तक (हिन्दी में) प्रथम एवं द्वितीय भाग, व्याकरण विषयक तुलना	: विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को, १९५८ : पतापोवा तथा पमिरान्त्सिेव के सहयोग में

स्वामी विवेकानन्द, प्रेमचन्द, निराला, इक़बाल, ग़ालिब आदि विषयक लेख, भारत में प्रकाशित;

'भारतीय साहित्य और गोर्की', 'पूरबी देशों का साहित्य और गोर्की' नामक पुस्तक में निबद्ध १९६८ में प्रकाशित किया गया था।

कुल लगभग १०० मौलिक कृतियाँ और भारतीय साहित्य की २० से अधिक पुस्तकों का रूसी में अनुवाद।